।। ओ३म् ।।

कल्याण मार्ग का पथिक

लेखक

स्वामी श्रद्धानन्द

मूल्य ४०/- रुपये

प्रकाशक
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,
दयानन्द भवन, रामलीला मैदान,
नई दिल्ली–२

नया सस्करण · १६६८

मूल्य ४०/– रुपये

मुद्रक ·
सार्वदेशिक प्रेस
१४८८ पटौदी हाउस,
दरियागज, नई दिल्ली–२
दूरभाष एव फैक्स ३२७०५०७

प्रकाशकीय वक्तव्य

इतिहास के पृष्ठो मे महर्षि वाल्मीकि का नाम विश्वविश्रुत है। एक सामान्य व्यक्ति से भी कर्मो की दृष्टि से पतित समझे जाने वाले डाकू वाल्मीकि अपनी साधना और सकल्प के बल पर वाल्मीकि की पदवी पा गये और स्थिति यह है कि भगवान राम को जानने के लिए और उनकी शिक्षाओ को हृदयगम करने के लिए हमे सबसे पूर्व रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि को स्मरण करना पडता है।

युगपुरुष स्वामी श्रद्धानन्द का भी उल्लेख महर्षि वाल्मीकि की परम्परा मे किया जाना चाहिए। उन्होने अपनी साधना के बल पर लाला मुशीराम से आगे चलकर महात्मा मुशीराम का स्थान ग्रहण किया। बाद मे वे इससे भी ऊचा चलकर स्वामी श्रद्धानन्द बने। आध्यात्मिक दृष्टि से एक एक सत, शिक्षा की दृष्टि से प्रथम श्रेणी मे विराजमान स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का जीवन एक खुली पुस्तक है। उनकी आध्यात्मिकता ऐसा ज्योतिस्तम्भ है, जिससे प्रकाश पाकर हर आदमी अपनी जीवन यात्रा में सफलता पा सकता है। गहन अधकार मे भटकने के बाद दिव्य दयानन्द के सस्पर्श ने लाला मुंशीराम को उसी प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द बनाया जिस प्रकार कि पारसमणि के सस्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है।

भारतीय एव विदेशी साहित्य में आत्मकथाओ की संख्या बहुत बडी होते हुए भी, इस सभा ने स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से प्रकाशित इस आत्मकथा को पुनर्मुद्रित करना आवश्यक समझा। मुझे पूरा विश्वास है कि इसके पठन और आचरण से ऋषि दयानन्द के अनुयायियों एव कल्याण मार्ग के दूसरे पथिको को जो प्रकाश मिलेगा, वह जहा उनके वैयक्तिक जीवन को ऊचा उठायेगा

वहा समाज को सुदृढ एव सदाचारी बनाने में भी सहायक होगा।

स्वामी जी महाराज केवल किसी एक वर्ग अथवा क्षेत्र के महापुरुष नही थे। उन्होने धर्म, अध्यात्म, साहित्य, पत्रकारिता, शिक्षा शास्त्र तथा राजनीति मे भी जीवनभर पूरा योगदान दिया और अन्त में इन्ही सकल्पो के लिए उन्होने अपने जीवन की आहुति दे दी। स्वामी श्रद्धानन्द ने ऋषि दयानन्द महाराज के चरणो मे इस पुस्तक की भूमिका मे लिखकर जिन शब्दो में अपनी श्रद्धाजलि समर्पित की थी, उन्ही को मै यहा पुनरपि दोहरा रहा हूं —

"ऋषिवर तुम्हे भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्यमूर्ति मेरे हृदय पट पर अब तक ज्यों की त्यो अकित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते–गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओ की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है। परमात्मा के बिना, जिनकी पवित्र गोद में तुम इस समय विचर रहे हो, कौन कह सकता है तुम्हारा उपदेशों से निकली हुई अग्नि ने ससार मे प्रचलित कितने पापो को दग्ध कर दिया ? परन्तु अपने विषय मे मै कह सकता हू कि तुम्हारे सहवास ने मुझे कैसे गिरी हुई अवस्था से उठा कर सच्चा जीवन लाभ करने के योग्य बनाया ?"

यह पुस्तक बहुत दिनों से दुर्लभ थी। इस सभा के पुस्तकालय मे काशी के ज्ञानमडल कार्यालय से प्रकाशित सस्करण की एक पुरानी प्रति मिली है। उसको आधार बनाकर यह नया सस्करण प्रकाशित हुआ है।

रामगोपाल शालवाले
प्रधान
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द भवन,
नई दिल्ली–२

२३ दिसम्बर, १९७८
स्वामी श्रद्धानन्द
बलिदान दिवस

।। ओ३म् ।।

ऋषि दयानन्द के चरणों में

सादर समर्पण

ऋषिवर ! तुम्हे भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य–मूर्ति मेरे हृदय पट पर अब तक ज्यो की त्यो अकित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते–गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओ की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है, परमात्मा के बिना, जिनकी पवित्र गोद मे तुम इस समय विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशो से निकली हुई अग्नि ने ससार मे प्रचलित कितने पापो को दग्ध कर दिया ? परन्तु अपने विषय मे मै कह सकता हू कि तुम्हारे सहवास ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठा कर सच्चे लाभ करने के योग्य बनाया ?

मै क्या था इसे इस कहानी मे मैने छिपाया नही। मै क्या बन गया और अब क्या हू। वह सब तुम्हारी कृपा का ही परिणाम है। इसलिए इससे बढकर मेरे पास तुम्हारी जन्म शताब्दि पर और कोई भेट नही हो सकती कि तुम्हारा दिया आत्मिक जीवन तुम्हे ही अर्पण करू। तुम वाणी द्वारा प्रचार करने वाले तत्त्ववेत्ता ही न थे परन्तु जिन सचाइयो का तुम ससार मे प्रचार करना चाहते थे उनको क्रिया मे लाकर सिद्ध कर देना भी तुम्हारा ही काम था। भगवान् कृष्ण की तरह

तुम्हारे लिए भी तीनो लोको मे कोई कर्त्तव्य शेष नही रह गया था, परन्तु तुमने मानव–ससार को सीधा मार्ग दिखलाने के लिए कर्म की उपेक्षा नही की।

भगवन्! मै तुम्हारा ऋणी हू, उस ऋण से मुक्त होना चाहता हू। इसलिए जिस परमपिता की असीम गोद मे तुम परमानन्द का अनुभव कर रहे हो, उसी से प्रार्थना करता हू कि मुझे तुम्हारा सच्चा शिष्य बनने की शक्ति प्रदान करे।

विनीत

श्रद्धानन्द

विषय सूची

।।ओ३म्।।

कल्याण-मार्ग का पथिक

प्रस्तावना

अपना जीवन वृत्तान्त सर्वसाधारण के आगे रखना उन उच्चकोटि के महानुभावों को ही शोभा देता है जिन्होनेससार मे किसी न किसी बडे काम मे कृतकार्यता प्राप्त की हो। फिर उत्तम प्रकाशक भी उन्हीं की जीवनी मुद्रित करना उचित समझते है जिन्होने कोई अपूर्व कार्य किया हो, चाहे उस काम से ससार की उन्नति हुई हो या पहले से भी बढ कर ससार रसातल को चला गया हो। मै जानता हू कि मेरी जीवन कथा दोनो कोटियो मे नही आ सकती, फिर भी मैने अपनी कहानी सर्वसाधारण के आगे रखने का साहस क्यो किया ?

अभी ५० वर्ष भी पूरे नही हुए कि भारतवर्ष के नवयुवक सिवाय खाने–पीने, भोगने और उसके लिए धन संचय करने के अलावा अपना और कुछ कर्त्तव्य नही समझते थे। गुलामी मे वह जन्म लेते थे और उस दासता की अवस्था को अनिवार्य समझ कर गन्दगी के कीडों की तरह उसी मे मस्त रहते थे। उन्हे मालूम न था कि उनके पुरुषा भी किसी समय मे सभ्यता का स्रोत थे। उन्हे यही बतलाया गया था कि भारतीय अर्द्ध सभ्य है, उनकी कोई सस्कृति थी ही नही और यदि वह गिरी हुई अवस्था से उठना चाहते है तो योरोपियन सभ्यता की शरण मे जाना चाहिए। इस पुस्तक का लेखक स्वय किन विचारो का था वह उनकी जीवन–यात्रा की कहानी पढने से विदित होगा।

आचार्य ऋषि दयानन्द ने आर्यावर्त्त की प्राचीन सस्कृति का सजीव चित्र खीच कर न केवल आर्य सन्तान के अन्दर ही आत्म–सम्मान का भाव उत्पन्न किया प्रत्युत योरोपियन विद्वानो को भी उनकी कल्पनाओ की असारता दिखला कर, चक्कर मे डाल दिया। हिन्दू युवक अपने प्रत्येक आचार–व्यवहार को दूषित और योरोपियनों के गिरे से गिरे अत्याचार और दुराचार को भी आदर्श समझा करते थे। मैने उसी विद्यालय मे शिक्षा पाई थी जिसने हिन्दू युवको को अपनी प्राचीन सस्कृति का शत्रु बना दिया था।

आजकल की भारतीय जनता ५० वर्ष पूर्व का इतिहास पढ कर उस समय के भारतीय लेखको को तुच्छ दृष्टि से देखती है और उनके अज्ञान पर आश्चर्य करती है और यह समझ बैठी है कि अज्ञान से ज्ञान की ओर आने के बीच में कोई भी मजिल तय नही करनी पडी। इसी भूल को दूर करने के लिए मैने अपनी जीवन यात्रा की कहानी सविस्तार लिख दी है। इसमे सन्देह नही कि मेरी गिरावट की कहानिया बहुत से श्रद्धालु हृदयों को ठेस लगायेगी, परन्तु मुझे यह विश्वास है कि इस आत्मकथा के पाठ से बहुत युवको को ससार यात्रा मे ठोकरो से बचने की शक्ति भी मिलेगी।

एक और बात भी है जिसकी ओर विशेष ध्यान दिलाना चाहता हूं। ऋषि दयानन्द के लेखो का तत्व उन आर्यसमाजियों की समझ मे पूर्णतया नही आता जिन्होने आर्यसमाज के यौवनकाल मे उसके अन्दर प्रवेश किया है।

अपनी निर्माण की हुई पाठविधि मे आचार्य दयानन्द ने 'सर्व भाषा ग्रन्थ' त्याज्य लिखे है। इस पर सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में इस प्रकार प्रश्नोत्तर है :–

प्रश्न – 'क्या इन ग्रन्थों मे कुछ भी सत्य नही' ?
उत्तर – 'थोडा सत्य तो है, परन्तु इसके साथ बहुत सा असत्य भी है इससे जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोडने योग्य होता है वैसे यह ग्रन्थ है।'

आचार्य का यह लेख रहस्यपूर्ण है। आजकल कुछ ऐसे आर्यसमाजी भी हैं जो यह समझते है कि किसी भाषा ग्रन्थ को भी पढना न चाहिए। यह हमारी भूल है। ऋषि ने उनमे यत्किञ्चित् सत्य भी माना है किन्तु बाल्यावस्था मे शिक्षा ग्रहण करने के लिए सकेत कर दिया है कि वेदशास्त्रानुकूल नये भाषा ग्रन्थो का निर्माण करना चाहिए। परन्तु जिस प्रकार गृहस्थो के लिए आचार्य ने आज्ञा दी है कि सत्य का मण्डन और असत्य मत का खण्डन सीख कर सदाचार पूर्वक विदेश में जाने से हानि नही उसी प्रकार गुरुकुलो तथा राष्ट्रीय विद्यालयो मे भी शिक्षा समाप्त करने के पीछे पुराने भाषा–कवियो के ग्रन्थ पढने से लाभ ही होगा। मैने इस कहानी मे दिखलाया है कि आर्य सस्कृति के गिरे से गिरे समय मे भी तुलसी दास आदि की कविताओ ने आर्य सस्कृति को लुप्त होने से बचाया है।

किस प्रकार क्रमश धार्मिक दासता से उत्तरोत्तर हिन्दू समाज को मुक्ति मिलती गई और अपनी राजनीतिक दासता का भी उनको परिज्ञान हुआ इसके समझने के लिए युगविधाता आचार्य दयानन्द के जीवन चरित्र का पाठ गहरी दृष्टि से करने की आवश्यकता है। परन्तु उस परिवर्तन के बहुत से मर्म तभी मालूम हो सकते है जब कि ऋषि के अनुगामी जिन्होने स्वय उनका सहवास किया है, अपने अन्त करण के परिवर्तनो को खोल कर जनता के सामने रख दे।

इस कहानी मे मैंने अपने कुछ साथियों के नाम स्पष्ट नही दिए है, इसलिए कि उनके सम्बन्धियों को किसी प्रकार का मानसिक कष्ट न हो। घटनाएं सब ठीक–ठीक दी गई है। कुछ स्थलों में घटनाओं का वर्णन इस प्रकार हुआ है कि शायद उनको कल्पनात्मक उपन्यास समझा जाय परन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि सच्ची घटनाए कभी–कभी उपन्यास को भी मात कर देती है।

ज्येष्ठ सवत् १९३३ तक की कहानी आज से २ वर्ष पहिले

ही लिख छोडी थी। आर्य समाज मे प्रवेश के समय से सवत् १६४६ तक का वृतान्त 'सद्धर्म् प्रचारक' साप्ताहिक पत्र मे "कुछ आप बीती कुछ जग बीती" के शीर्षक से छपता रहा है। उनमे से असम्बद्ध विस्तार को सक्षिप्त करके उस समय की कथा लेखबद्ध की गई है। इन दोनो समयों के बीच का वृतान्त 'मिया वाली जेल' के एकान्त निवास मे लिखा गया है। निस्सदहे मेरी स्मरण शक्ति ने भी घटनाओ के ठीक वर्णन मे सहायता दी है। परन्तु मुझे विद्यार्थी जीवन व्यतीत करते हुए ही आत्मचिन्तन का व्यसन सा लग गया था और इसलिए दिन पत्रिक़ा (डायरी) रखने का अभ्यास था। उस दिन पत्रिका से तिथियो और घटनाओ के सशोधन मे बहुत सुभीता रहा है।

मेरे पुराने साथी प्राय सब चल बसे है। आर्य समाज मे प्रवेश काल के नये साथियों मे भी बहुत ह्रास हो चुका है। मुझे भी मौत सिर पर खडी दिखाई देती है। फिर अन्त करण मे निराशा की लहर जब कभी उठती है उसी समय श्रद्धा–सागर मे विलीन हो जाती है। मेरा जीवन आशातीत व्यतीत हुआ है इसलिए जब तक दम में दम है तब तक मनुष्य को बेदम नही होना चाहिए यह मेरा सिद्धात है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे 'ज्ञानमडल' के सचालक बाबू शिवप्रसाद गुप्त से मुझे बडी सहायता मिली है। यदि वह इसकी छपाई का भार अपने ऊपर न लेते और उनके प्रबन्धकर्ता मेरे पीछे न पडे रहते तो मुझे ऋषि ऋण से मुक्त होने का अवसर अभी न मिलता। यन्त्रालय से मेरे दूर होने के कारण अशुद्धिया अवश्य रह गई है, परन्तु मेरे लेख की पहेलियो को सुलझाने का काम ज्ञानमण्डल के सशोधको ने उत्तम किया है।

मेरे जीवन के शेष अनुभव भी, किसी न किसी रूप मे जनता के सामने आते ही रहेगे, यदि उनको छपवाकर मुद्रित कराने का बोझ उठाने के लिए बाबू शिवप्रसाद जी से उदार आर्य पुरूष तैयार रहे।

पाठकवृन्द ! कल्याण मार्ग के पथिक की कहानी मे जो कुछ भी आपको शिक्षाप्रद दिखाई दे उसे ग्रहण करो, परन्तु जो कुछ अहितकर प्रतीत हो उसको उपेक्षा दृष्टि से ही देखो। गुसाई तुलसीदास ने ठीक कहा है —

जड चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार ।
सत हस गुण गहहि पय परिहरि वारि विकार।।

श्रद्धानन्द सन्यासी

दिल्ली नगर —२६ ८ ८१ ई०

।। ओ३म्।।

अनृत जीवन से श्रेय की ओर

प्रथम परिच्छेद

अन्धकार और प्रकाश का युद्ध

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

— भगवदगीता

मा पर पूत पिता पर घोडा। बहुत नही तो थोडा थोडा ।।

जन्म-स्थान, नाम, संस्कार

सवत् १६१३ विक्रमी, मास फागुन कृष्ण त्रयोदशी के दिन मेरा जन्म हुआ। मेरे पिता उन दिनो रोजगार की तलाश मे घर से बाहर गये हुए थे। पचनन्द (पजाब) प्रात मे जालन्धर एक जिला है जो अपने मुख्य नगर के नाम से प्रसिद्ध है। जनोक्ति यह है कि इस स्थान मे जालन्धर दैत्य भी ऐसा था कि जिसकी स्त्री पतिव्रता थी और उसी के प्रताप से जहा उसका रक्त गिरता वहा प्रति बूद एक जालन्धर उत्पन्न हो जाता । मुरारी ने किस विधि से उसका बध किया इसके लिखने की जरूरत नही। फिर जालन्धर मे माण्डलिक हिन्दू राजे शासन करते रहे। मुसलमानो के समय मे अदीना बेग यहा का हाकिम रहा और अग्रेजों ने इसे जिला बना लिया।

जिला जालन्धर के पूर्वी कोने पर शतद्रु सतलज नदी के किनारे तलवन एक उपनगर है। वही मेरी जन्म भूमि है। किसी समय जालन्धर दुआब मे अढाई शहरो की गिनती हुआ करती थीं पूरा शहर तलवन पूरा 'बिजवाडा' और आधा हदियाबाद।

अब ये तीनो स्थान केवल ग्राम की स्थिति में रह गये है। पुरानी कीर्ति के लिए उदारता और ब्याह शादियो की करतूत की बदौलत मेरे जन्म के समय भी इनका कुछ मान था। अब तो जब से नपित अर्थात् नाऊ राजा के शासन से छुटकारा पाकर पुराने प्रसिद्ध कुलीन भी रिश्ते नाते देख–भाल कर करने लगे है तब से इन शहरो की करतूतो का चमत्कार भी मद्धिम पड गया है।

तलवन मे मेरा जन्म हुआ और पाधा जी ने जन्म नाम बृहस्पति रखकर भी प्रसिद्ध नाम मुन्शीराम रख दिया। मेरे तीन भाई और थे तथा दो बहने । मै सब में सबसे छोटा अपनी माता की अन्तिम सन्तान था। आयु के क्रमानुसार सब भाई बहिनो के ये नाम थे. (१) सीताराम (२) प्रेमदेवी (३) मूलाराम (४) द्रोपदी (५) आत्माराम (६) मुन्शीराम।

तत्ववेत्ताओ ने दो प्रकार के सस्कार बतलाये है। पूर्व जन्म के सस्कार ही वर्तमान योनि के कारण होते है और उन्ही के अनुसार बुरे वा भले माता पिता भी मिलते है। उन माता पिता के गुणो अवगुणों का विशेष प्रभाव सन्तान पर पडता है। इनको पैतृक संस्कार कहते है। यद्यपि पैतृक संस्कार भी अपने पूर्व कर्मो के ही फल है तथापि इन्हे अलग समझ कर जीवन के बहुत से भेद खुल जाते है। इसलिए अपने कुल की कुछ विशेषताओ का यहा वर्णन करना असंगत न होगा।

जन्म तथा गुण कर्म, दोनो के विचार से मेरा कुल क्षत्रि–कुल कहा जा सकता है, किन्तु साथ ही वह भक्ति प्रधान था। मेरे पर दादा का नाम सुखानन्द था। वह सचमुच सुख और आनन्द की मूर्ति ही थे। मैने अपने पिताजी से सुना था कि उनका चित्त हर समय प्रसन्न तथा उनके मुख पर शान्ति और कान्ति का मेल रहता था। पहले तो वह किसी पर क्रोध करते ही न थे, परन्तु यदि किसी व्यक्ति के दुर्व्यवहार पर उसको ताडना करते तो भी उनके मुंह से दुर्वाक्य कभी न निकलता। कहते तो क्या कहते –"स्याण्या ! क्यो धर्मते डिग गया है ?" अर्थात् "सयाने ! क्यो

धर्म से गिर गया है ?" सबसे बडी गाल "सयाना" कहना था। लाला सुखानन्द के पाच पुत्र थे १ लाला कन्हैया लाल २ हीरानन्द ३ मणिक चन्द ४ गुलाबराय ५ महताबराय। लाला कन्हैया लाल राजा कपूर्थला की ओरसे पजाबकेसरी महाराजा रणजीतसिह के दरबार मे वकील (एल ची) बन कर रहते थे। उनकी बात महाराजा रणजीतसिह के यहा चलती थी। लाला कन्हैयालाल ने एक शिवालय बनवा दिया था जिसमे उनके पिता सुखानन्द जी रहते और वही नियम पूर्वक, दोनो समय शिव पूजा करते थे।

मेरे दादा लाला गुलाबराय भी हरिभक्त मे रत रहते थे। नित्य प्रात ब्रह्म मुहूर्त्त मे उठकर स्नान करते और सुखमणि तथा भगवद्गीता का पाठ करते। फिर कबीर तथा अन्य भक्तो के शबद गाते रहते। कपूरर्थला मे वह रानी हीरादेवी के मुखतारकार थे और जब महाराजा नौनिहालसिंह के गद्दीनशीन होने पर रानी साहेबा अपने दोनो पुत्रो (सरदार विक्रम और कुअर सुकेतसिंह) सहित जालन्धर में आ बसी तो मेरे दादा भी उन्ही के साथ चले आये और महाराजा नौनिहालसिह के दिये प्रलोभनो की परवा न की गुलाब राय जी बडे स्पष्ट वक्ता थे। जिस समय वह ४ बजे स्नानादि से निवृत्त होकर पाठ आरम्भ करते और पचम स्वर मे भजन गाते तो सरदार विक्रमसिह की नीद खुल जाती। तग आकर उन्होने एक दिन कहा -- लाला जी। क्या आप परमेश्वर का नाम मन मे नही ले सकते ? उत्तर मिला --"मेरे मन मे तो हरदम परमात्मा बसते है" परन्तु जो मूढ जन अमृतबेला मे बेहोश सोये रहते है उन्हे सचेत करने के लिए उच्च स्वर से भजन बोलता हू।"

ऐसे निर्भयवीर ईश्वर भक्त के घर मेरे पिता नानक चन्द्र का जन्म हुआ। वह अपने छ भाईयो मे सबसे बडे थे। छुटपन मे ही शिवपूजा अपने दादा सुखानन्द से सीख, इन्होने भी ब्रह्ममुहूर्त्त मे उठकर पूजा आरम्भ कर दी थी। वह पूजा जो १४ वर्ष की आयु मे आरम्भ हुई तो ५६ वर्ष की आयु तक (अर्थात् मृत्युपर्यन्त) बराबर चलती रही। मुहफट यह भी अपने पिता की

तरह ही थे कपूर्थला मे थानेदारजी से वजीर दानिशमन्द के साथ कड़ी बातचीत होने पर, त्याग पत्र दे दिया फिर सियालकोट मे "ठग्गी डकैती" महकमे के खजान्ची का चार्ज लिया। वहा भी अंग्रेज हाकिम को खरी सुनाकर नौकरी छोड आये। फिर अमृतसर की तहसील में मुहासिब बने। शोभाराम लगडा तहसीलदार था। उसपर घूंस का मुकद्दमा चला। जहा सारी तहसील मौकूफ हो गई वहा मेरे पिता के विरूद्ध एक भी गवाह न खडा हुआ। परन्तु वह उदास हो, फिर त्यागपत्र देकर घर चले आये और कुछ दिन वहा ही पूजा पाठ मे लगे रहे। फिर लाहौर मे जाकर चौकीदारो के बख्शी नियत हुए।

लाहौर जाने से पहले मेरे पिता बिना एक पैसा दादाजी से लिए, सारे परिवार से अलग हो गये, एक दालान कोठरी लेकर माताजी को बच्चो समेत उसमे रख दिया। बडी बहन के विवाह की तैय्यारी थी और उसके लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता थी। लाहौर मे वेतन इतना न था कि परिवार का गुजारा करते हुए अपनी पुत्री के विवाह पर करतूत से न गिर जाय। इधर विवाह मे नाक कटने का डर और उधर सम्वत् १९१४ विक्रमीय का विप्लव, जिसे गोरो ने गदर को उपाधि दे रक्खी थी पिताजी ने एक काने टट्टू पर जीन डालकर परमेश्वर का नाम ले, दिल्ली का रास्ता पकडा। भाग्य की सहायता से हिसार नगर की शहरपनाह के अन्दर उस दिन प्रवेश किया जब बागियो ने गढ हिसार को घेर रक्खा था। एक सिक्खसर्दार भी दो सौ सवारी का दस्ता लेकर उस सरकार की जडे भारतवर्ष मे दृढ करने जा रहे थे जिसने कुछ वर्ष पहले ही पजाब को दास बना लिया था। सरदार साहब ने घोडों कोशहरपनाह के अन्दर तीन चक्कर दिला कर जो हमला किया तो बागियो के छक्के छूट गये और मेरे पिताजी ने एक चौधरी के घर ब्रह्मभोज का सामान बनता देख उसे इस बात पर राजी कर लिया कि पूरी, कचौरी, हलवा, भाजी बना बनाया पकवान नये जंगी बेडे की भेट कर दे। सरदार साहब तो रण मे विजय प्राप्त करके लूटमाररूपी इनाम लेने के लिए दिल्ली चल दिये और पिताजी हिसार के

बागी कोतवाल की जाल किरिच सम्भालकर बागियो को फासी दिलाने के शुभ काम पर तैनात हुए। यहा रिश्वत की कमाई से न केवल पुत्री के विवाह के लिए पर्याप्त धन ही घर भेज दिया प्रत्युत घोडे खरीद और अपने परिवार के २५ व्यक्तियो को रिसाले के छोटे अफसर बना, और ७५ जाटो को घुडसवारी के लिए साथ लेकर, मेरठ पहुच गये। वहा रिसालदार नियत होकर पहला शुभकाम यह किया कि तीन महीनो मे सहारनपुर के सारे जिले के हथियार ले लिये और उस जिले के गले मे सदा के लिये गुलामी का तौक पहिरा कर नैपाल की तराई मे मेलाघाटी की कडाई का जा छापा मारा। वहा भी पूजा पाठ न छूटा। नदी के पास ही कैम्प था। उस पर बागियो की बाढ दूसरे किनारे से फैकी जाती थी परन्तु रिसाल दार साहब के लिए एक घडा पानी का गजरदम ही आ जाता था और वह नहा कर पूजा कर लेते। फिर कुछ खाकर दिन भर के लिए कमर कस कर लहेस हो जाते।

मेला घाट पर विजय प्रापत कर बेड़ा बासबरेली मे आ पडा। वहा मिलिटरी पुलिस के सब रिसाले तोड दिए गए और मेरे पिता जी को अपने भाईयो और सम्बन्धियों सहित, सिविल पुलिस मे नौकरी मिल गई। मेरे पिताजी को कहा गया कि या तो १२०० बीघे भूमि इनाम मे ले अथवा पुलिस इन्सपेक्टर का पद स्वीकार करे। अपने देश की लोकोक्ति है कि खेती उत्तम व्यापार मध्यम और चाकरी सबसे निकृष्ट काम है। परन्तु जिस समय पिता जी के सामने दोनो इनाम रक्खे गये उस समय नौकरी से बढ कर अन्य कोई भी प्रतिष्ठित काम नही समझा जाता था और फिर क्षत्री के लिए तो चाकरी हकूमत की कलूगी समझी गई थी। खेती को रजील पेशा समझा जाता था, फिर पिता जी जमीन कैसे कबूल करते। इन्सपेक्टर साहब बन गए और पुलिस लाइन्स का चार्ज ले लिया।

बालकपन गया खेल कूद में

मेरी आयु तीन बरस की हो चुकी थी जब मेरी माता मुझे और मेरे दो भाइयो को साथ लेकर बरेली पहूचा। बरेली मे तीन वर्ष खेलकूद मे व्यतीत हुए। मेरे दोनो बडे भाई तो मौलवी साहब से पढने लगे किन्तु मै खुले मैदान मे घूमता और सारी पुलिस लाइन्स से लाड लडाया जाता रहा। पिताजी ने मुल्ला जी से ही सब कुछ पाया था, अग्रेजी शिक्षा का अभी नमूद ही होने लगा होगा और बरेली का सस्कृत के साथ कुछ सम्बन्ध ही न था। मुसलमानो की वहा पूरी बादशाहत थी। मेरे भाई घोखते घोखते थक जाते और मौलवी साहब के सामने फिर भी सबक (पाठ) पूरा न सुना सकते, मै वही फटा–फट सुना देता। पिताजी ने मुझे यह बतलाया था कि मै उस आयु मे भी पर्यायवाची शब्द जोड कर अन्वय अपना बना लिया करता था। हम तीन भाइयो के मनो और शरीरो की रक्षा करने वाला कोई न था। मै तो सचमुच खुदरौ वृक्ष की तरह स्वय ही बढता रहा। हा, एक दृश्य मुझे स्मरण है जो माता के अगाध प्रेम को ही प्रकाशित नही करता प्रत्युत मातृ शक्ति के स्वाभाविक विकास को भी प्रकट करता है।

सायकाल का समय था। मेरे छोटे मामू जो पुलिस मे ही सवार थे, होली का मेला देख शहर से लौटे आ रहे थे। घोडी अठखेलिया करती चली आ रही थी। मेरी दृष्टि उन पर पडी तो विचित्र दशा देखी। पगडी गले मे लटक रही थी, शरीर एक ओर झुक रहा था। गिरने को ही थे कि एक भृत्य ने उन्हे उतार लिया, दो आदमी आश्रय देते हुए पिताजी की कोठी के आंगन मे ले आये और चारपाई पर लिटा दिया। अन्य पुरूषो के बाहर जाते ही माताजी कमरे से निकली। भाई को विचित्र दशा में बेहोश देखा, चिकन जाली की कुडती और तनजेब का कुडता पारा पारा है, पगडी धूल मे लिपटी हुई है। मट्टी और होली के लाला रग के मेल ने विचित्र दशा बना रखी है। प्रात जो मुख कमल की तरह खिला हुआ था, वह अब कुम्हला ही न गया

डरावना भी प्रतीत होता है। हाथ पैर चारपाई पर पटके जा रहे है। पान ि ाल मुह से निकल कर दाडी पर बह रही है, और सारे शरीर ः दुर्गन्ध फूट–फूट कर निकल रही है। माताजी ने बाहर आते ही शराबी के सिर पर पानी डलवाना आरम्भ किया। मै चारपाई के पास खडा था। मुझ पर दृष्टि पडते ही माताजी के मन का भाव बदल गया। मुझे झट गोद मे उठा लिया और घबरा कर नौकर से कहा – "इसे क्यो यहा आने दिया।" भृत्य अभी उत्तर देने को ही था कि मुझे बगले के कमरे मे ले गई और प्रयत्न करती रहीं कि मैं उस दृश्य को भूल जाऊ मैने कुछ प्रश्न भी किया था जो स्मरण नही रहा, परन्तु माताजी ने मेरा ध्यान दूसरी ओर खीच कर खेल मे लगा दिया।

माता जी सर्वथा अनपढ थी, शिशुपालन तथा आचार शास्त्र की शिक्षा उन्हे पुस्तको से नही प्राप्त हुई थी। परन्तु मातृ शक्ति के अन्दर जो स्वाभाविक अगाध प्रेम परमात्मा ने उत्पन्न किया है। उसने उन्हे अपनी सन्तान की रक्षा का ज्ञान दे रखा था। आज उस समय का स्मरण करके मन ही मन, मै पश्चाताप करता हू कि माता की विद्युत रूपी स्वाभाविक शिक्षा को दो अक्षर पढ लेने के अभिमान मे फस कर मैने अपने आगे के जीवन मे क्यो उपेक्षा की दृष्टि से देखा।

बरेली से एक दर्जा उन्नति पाकर मेरे पिता बदायू बदल गए। वहा भी मुझे तीन वर्ष रहना पडा। स्वच्छन्द घूमने की यहा भी स्वतंत्रता थी। मुझे याद है कि पिता जी के साथ अकेला ही होने के कारण जब दिन को वह कचहरी मे कोर्ट इन्सपेक्टर के काम पर चले जाते तो मैं भी कचहरी की गश्त लगाता था। फौज़ी सलाम मैने बरेली मे ही सीखी थी। सब रिश्तेदार तथा मुहर्रिर उसी सलाम की फरमाइश करते और पुरस्कार मे मुझे कागज और कलम देते। कलम मुझे बनी बनाई मिलती थी और मसीपात्र (दवात) घर से लेकर कागज पर लिखते रहना मेरी आदत हो गई थी। एक दिन पिता जी ने मुझे सजीदगी से एक पुस्तक की जिल्द पर कागज रख कर लिखते देख मेरा कागज

का सारा कोष छान मारा उन्हे आश्चर्य हुआ जब उन्होने फारसी हरूफ बने हुए पाये। "अरे ! यह कहा से सीखा ?" जब पास ही "करीमा" और "खालिक बारी" के पन्ने–पन्ने अलग देखे तो मालूम हुआ कि मक्खी की मक्खी मारते हुए मै डारविन के सिद्धान्त का क्रियात्मक प्रमाण दे रहा हूं, और मनुष्य को नकल करने वाले बन्दर की औलाद सिद्ध कर रहा हू।

बदायू मे कोर्ट पुलिस इन्सपेक्टर को बहुत काम करना पडता था। यह लोकोक्ति उस समय प्रसिद्ध थी – "पाव बदोआ लीजे साथ, तब करिए झगडे की आस" बदायू के जात शरीफ दूर दूर के मुकदमे लडाते थे फिर अपने जिले मे तो उन्होने ऊधम मचा ही रखा होगा। ब्रिटिश राज्य के पहले रूहेल खण्ड निवासी रूहिल्ले युद्ध मे निपुण थे और उनका असर कायस्थ और बनियो तक पर पड चुका था। अग्रेजी सरकार ने उसका ध्यान मुकदमेबाजी की ओर खीच दिया। तब हाकिम उनसे निश्चिन्त हो गये। लाहौर जिले की प्रथम बन्दोबस्त की रिपोर्ट मे भी मैंने यही लिखा देखा था। मोहतमिम बन्दोबस्त ने परमेश्वर का धन्यवाद किया था कि लडाको सिक्ख जाटो की कौम मुकदमेबाजी मे मग्न हो रही है, इस लिए उनसे कोई भय नही रहा।

बदायू से शायद सम्वत् १६२२ के अन्त मे मेरे पिता की तब्दीली, एक दर्जा उन्नति के साथ, काशी (बनारस) के जिले मे हो गई।

काशी में प्रथम एक वर्ष का निरंकुश जीवन

काशी मे पहुंच पहला अनुभव छूत छात के भूत का हुआ। मेरे पिताजी जो विजिटिग पुलिस इन्स्पेक्टर थे। उनका काम काशी नगर से बाहर के थानो का निरीक्षण और उधर के ही बडे फौजदारी मुकदमो की तहकीकात करना था। कर्त्तव्य पालन के लिए उन्हे प्राय शहर से बाहर रहना पडता था। मकान बडा था इसलिए माताजी ने एक पंजाबी परिवार को

बिना किराए पर बसा लिया। उस परिवार की गृह पत्नी का नाम निहालदेवी था उसने काशी से छूत–छात की नई शिक्षा ली थी। मेरे और मेरे बडे भाई का नाक मे दम कर दिया। पूस मास का जाडा और हमे हुकुम था कि सर्वथा नग्न होकर शौच जाये और नहा कर धोती पहिने। यदि पैर मोरी पर पड गया तो फट नहाने की आज्ञा यदि चलते फिरते कही छीटा पड गया तो कपडे धो डालने का नादिरशाही हुकुम। एक दिन सायकाल खेलते–कूदते मेरा पैर एक मट्टी के चिराग की ठीकरी से छू गया। निहालदेवी ने शोर मचा दिया "छू गया, छू गया। नहलाओ, नहलाओ।" माताजी कोई बडी आपत्ति समझ कर दौडी आयी। पूछने पर निहालदेवी ने कहा कि "चिराग कउआ लेकर उडा होगा। उससे छूट कर गिरने पर ही तो ठीकरी–ठीकरी अलग हो गई। इसलिए नहाना आवश्यक है।" गरम पानी करके मुझे नहला तो दिया परन्तु माताजी ने दूसरे दिन ही निहालदेवी को दूसरे घर मे चले जाने के लिए बाधित किया।

वह बड़ा मकान छोड माताजी लाहौरी टीले के एक मकान मे जा रही। यह मकान बडा मकान, बडा हवादार, चारो ओर से खुला हुआ था। काशी मे शेष २५० बरस उसी मकान मे व्यतीत हुए। मै अभी तक नियम पूर्वक पढाई मे नही लगा था सुना सुनाया, कठ करने से ही काम था। एक दिन पिता जी मामले की रिपोर्ट लिख रहे थे। मैने शोर मचाया। पिता जी ने झिडक दिया। मुझे बहुत बुरा लगा। सीढ़ी मे चढने वालो के सहारे के लिए रस्सी लग रही थी। मैने गले मे रस्सी डाल कर धमकी दी कि फासी ले लूगा। पिता जी ने एक थप्पड लगाया और रस्सी से छुडा कर घसीट लाए। यह पहला अवसर था कि मुझ लाडले को किसी ने मारा हो। रोते रोते मेरी घिग्घी बध गई। माता जी ने बाहर से आकर गोद मे ले लिया। जो सुख उस समय मिला उसका वर्णन कोई कवि ही कर सकता है।

'गुरु बिन ज्ञान न पाये भोला चेला'

पठन पाठन का आरम्भ

अब तक जो कुछ सीखा निगुरा रह कर ही सीखा था। उस वैरागी की तरह जिसने "सारी गीता रगड मारी और गुरू एक न बनाया।" मैने भी जहा पजाबी स्त्रियो के मुख से "काशी महातम" सुन कर उसे कण्ठ कर लिया था, वहा पिताजी के नित्य पाठ के स्तोत्रो के कुछ भाग भी कठ कर छोडे थे। परन्तु सवत् १९२३ के आरम्भ मे मुझे यज्ञोपवीत पहिनाने का विचार चला। उसमे एक कठिनाई बाधक प्रतीत हुई। गुरुकुलो की प्रथा तो हजारो वर्षो से बन्द हो चुकी थी यज्ञोपवीत संस्कार का नाटक ही रह गया था। फिर यज्ञोपवीत पहिनाया जाता था, और वेदारम्भ की विधि भी हो चुकती तो ब्रह्मचारी कोपीन, दण्डधारण करके भिक्षा ले काशी पढने के लिए जाने की तैयारी करता। उस समय बहिन की आवश्यकता पडती। नवीन ब्रह्मचारी जब कहता कि मै काशी पढने के जाऊंगा तो बहिन बाह पकडकर कहती है – "भाई तुझे यहा ही पढा लेगे और भाई इतने पर लौटता और उसी दिन उसका समावर्तन सस्कार भी हो जाता। परन्तु मेरी सगी बहिन काशी में एक भी न थी। एक धर्म की बहिन बनाई गई। काशी मे तो मै रहता था ही तब वहा से विद्योपार्जन के लिए कहा जाना था। मुझसे कहलाया गया कि मै काश्मीर पढने के लिए जाता हूं। काशी और काश्मीर दोनो ही विद्या के केन्द्र समझे जाते थे। बहिन लौटा लाई। पिता जी ने इतना हौसला दिखाया कि समावर्तन की विधि न करवाई और एक पण्डित को पढाने के लिए नियत करके देवनागरी अक्षरों का अभ्यास और आर्य भाषा की पढाई आरभ करा दी। इन्ही दिनो पिताजी को शिव पूजा करते देख कर हम दोनो भाई एक उजडे मन्दिर से शिवलिग उठा लाये और पिताजी के अनुकरण मे स्नान कराके उस पर पुष्प बेल पत्र चढाने, और धूप दीप, और पैवेद्य देवार्पण करने लग गये। पडित महाशय ने हमे किसी नियम मे न रखा। पिताजी कही रात की गश्त मे एक विद्यार्थी को खूटी मे चोटी बाध कर पढते देख

आये। विद्यार्थी ने पूछने पर बतलाया कि जब उसको ऊघ आ जाती है तो चोटी पर झटका लगते ही जग कर वह फिर पढने लग जाता है। तब पिताजी ने हमे हिन्दी पाठशाला मे भरती करा दिया। नैत्यिक पाठ तो मै पाठशाला मे ही समाप्त कर आता और घर मे आकर पिताजी की तुलसीकृत रामायण ले बैठता। सवा डेढ वर्ष तक पढाई का यह क्रम चला और फिर मेरे पिताजी की बदली जिला बादा (प्रात बुदेलखण्ड) को हो गई। काशी से बादा को प्रस्थान करने से पूर्व दो विशेष घटनाओ का वर्णन करना आवश्यक है जिन्होने मेरे जीवन के भविष्य पर बडा प्रभाव डाला था। उसमे से पहली –

देश भक्त डाकू संग्राम सिंह

का दर्शन था। सग्राम सिह बनारस जिले के एक ग्राम का साधारण कृषिकार था और साधारण जीवन व्यतीत करता था। उसकी अनुपस्थिति मे पुलिस ने उसके घर की तलाशी ली और उसकी धर्मपत्नि का सतीत्व नष्ट करने की चेष्टा की। राजपूत ने घर लौटकर सब हाल सुना तो पुलिस के बडे अफसर के पास फरयादी गया। यहा भी उसके साथ पिशाचत्व का बर्ताव हुआ। राजपूती खून जोश मे आया, पुरानी छिपाई हुई तलवार निकाल पहले निरपराधिनी अर्द्धागिनी को सदा के लिये बदनामी से बचाकर सग्रामसिह ने जगल की राह ली। तलवार का स्वय धनी था, उसके साथ दूसरा राजपूत हाथीसिह मिल गया। जिसका बन्दूकी निशाना कभी खाली नही जाता था। जनरल सग्राम सिह और कप्तान हाथीसिह के साथ बीस पच्चीस सिपाही और हो लिए और संग्रामसिंह एक छोटी सी सेना का सेनापति हो गया।

सग्रामसिह के विषय मे उसी प्रकार की लोकोक्तिया प्रसिद्ध हो गई जो देशभक्त डाकुओ के विषय मे अग्रेजी इतिहास तथा उपन्यास की पुस्तको मे मैने दूसरी बार काशी मे आकर पढी थी। अमीरो के लूटने और निर्धनों को आर्थिक सहायता देने की

कहानिया प्रसिद्ध थी। वेश्याओ को नाच दिखाने की आज्ञा हुई तो बहली पर साज सामान लादकर वह चल दी और जगल मे मगल हो गया बनारस जौनपुर और आजमगढ जिलो मे सग्रामसिह ने ऊधम मचा दिया। तब तो अग्रेज पुलिस सुपरिन्टेडेन्ट ने १५० हथियार बद सेना लेकर उस स्थान के गिर्द बडा घेरा डाल दिया जहा सग्रामसिह की स्थिति सुनी थी और स्वय दो अर्दली साथ लिए घोडे पर धीमी चाल से चलने लगे। अकस्मात् दो आदमियो ने दोनो अर्दलियो को दबा लिया और तीसरे ने साहब बहादुर को घोडे से नीचे फेककर पिस्तौल दिखाई। साहब ने डर के मारी घडी, जजीर, नोट रुपये सब कुछ डाकू की भेट कर दिए। तब डाकू ने जीने के कबूलो मे धरे पिस्तौल के जोडे को सभालकर सलाम किया और कहा – 'सग्रामसिह को पकडने ऐसी असावधानी से न आया करो।' स्वतन्त्र होकर सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब ने जो घोडे को एड दी तो अपने बगले पर पहुच कर ही दम लिया।

अब शहर बनारस पर डाकुओ के आक्रमण होने लगे। शहर कोतवाल एक राजपूत – आलमसिह नामी था। उसने डीग मारी कि एक मास के अन्दर ही सग्राम सिह को पकडकर मजिस्ट्रेट साहब के हवाले कर देगा। सग्राम सिह को पता लग ही जाना था। चार पाच दिन पीछे कोतवाली के बोर्ड पर सग्रामसिह का इश्तहार लग गया। आलमसिह को सम्बोधन करके लिखा था – 'अब हमारे धावे काशी नगर पर ही हो रहे है। चन्द्रग्रहण का स्नान करने भी आऊगा यदि क्षत्रिय के वीर्य से है तो सामने होना।

कुछ दिन पीछे चन्द्रग्रहण का नहान था। अपनी माता को गगा नहलाने के लिए संग्रामसिह ने दो साथियो समेत मणिकर्णिका घाट का रास्ता लिया। माता को नहला और दोनो साथियो की रक्षा मे चलता करके आप उस स्थान की ओर बढा जहा आलमसिह कोतवाल रिजर्व पुलिस समेत, प्रबन्ध के लिए बैठा था। आलमसिह के लगाए पहरे व्यर्थ गए क्योकि एक देहाती

कम्बल ओढे आलमसिह की ओर बढा और चेहरा कम्बल से बाहर निकाल बोला देख। सग्रामसिंह स्नान करके जा रहा है। आलमसिह चौक उठा और कुछ बोलने को ही था कि सग्रामसिह की छुरी बिजली सी चमक गई। आलमसिह घबराकर पीछे हटा और सग्रामसिह भीड़ मे अन्तर्ध्यान हो गया – "दौडियो, 'पकडियो'। वह गया' वह गया। अब शोर मचाने से क्या होता था। बाज तो उड गया।

अन्त को जब पुलिस के आने जाने से साधारण मार्ग भी बन्द होने लगे तो तीन जिलों मे नई पुलिस भरती करके हजारो पुराने जवानो द्वारा सब रास्ते घेर लिए गए। मेरे पिता भी एक स्थान पर, बहुत सी पुलिस समेत, नाकाबन्दी किए बैठे थे। पाच दिन नदी के पानी मे घूमने के पीछे सग्रामसिह पाच–छ साथियो समेत कुछ भोजन लेने को निकला। उसका एक आदमी पिताजी के हाथ लगा। उससे पता पाकर पुलिस गिरफ्तारी को बढी। सग्रामसिह आदि एक चमार की झोपडी में घुस गए। झोपडी को आग लगाई गई। बहादुर राजपूत बाहर निकला। पानी की नमी से बारूद काम का न रहा। बन्दूक रजक चाट गई। तलवार खीची तो म्यान से बाहर न निकली। इधर पुलिस ने गोलियो की बाढे झोकनी शुरू कर दीं। पाचो साथी गिर गए। सग्रामसिह ने बंन्दूक उलटी पकडकर उससे लाठी का काम लिया। तीन चार सिपाही आन की आन मे बिछा दिए और पिताजी के घोडे की गर्दन पर चोट लगाई कि जानवर बहुत पीछे हट गया। पिताजी ने पहले अकेले पर गोली चलानी बन्द कर दी थी, अब अपने क्षत्रियत्व के भावको भूलकर फिर बाढ झुक़वा दी। सग्रामसिह २४ व २५ गोलिया खाकर गिर गया और उसे बाध कर बनारस के अस्पताल में ले आए। प्रसिद्ध है कि जब अंग्रेज सिविल सर्जन ने उसके पच्चीस घाव देखे और कहा कि अन्त को तू पकडा गया तो वीर क्षत्रिय ने उत्तर दिया – "इस प्रकार पकडना बहादुरी नही, मेरे हाथ मे तलवार दे दे और मेरे सम्मुख २० आदमी खडे करा दें। फिर देखू मुझे कौन

पकडता है।' साहब बहादुर उसकी कडक से आश्चर्यचकित हो गए। फांसी तो मिलनी ही थी, परन्तु उसे यमपुर पहुचाकर भी हिन्दुस्तानी पुलिस अफसरो को शोक ही हुआ। एक तो चारपाई पर लेटे हुए सग्रामसिह के दर्शन मुझे स्मरण है जिसे दूसरी बार काशी पहुचकर मै याद करता था और दूसरी घटना –

एक नास्तिक जादूगर

से मेरी रक्षा थी। काशी मे प्रसिद्ध हुआ कि वेद शास्त्र का ज्ञाता बडा नास्तिक आया है जिसके दोनों ओर दिन मे मशाले जलती है। जो भी पण्डित उससे शास्त्रार्थ करने जाता है उसके तेज से दब जाता है मुझे भली प्रकार याद है कि माताजी उन दिनो हमे बाहर नही जाने देती थी – इस भय से कि कही हम दोनो भाई जादूगर के फदे मे न फस जाय। पिताजी ने पीछे बतलाया था कि वह प्रसिद्धि अवधूत दयानन्द की थी। माताजी को क्या मालूम था कि उनके देहान्त के पीछे उनका प्यारा बच्चा उसी जादूगर के उपदेश से प्रभावित होकर उसका अनुयायी बन जायगा।

बांदा में तीन वर्ष और राम भक्ति का मधुर रस

बादा मे पहुचकर हमारी शिक्षा का माध्यम बदल गया। बडे भाई ने मियां जी से फारसी हरूफ सीखे हुए थे। मे अबजद से निरा कोरा ही था, केवल हिन्दी लिखना पढना जानता था। बादा के स्कूल मे हिन्दी की प्रतिष्ठा न थी। उर्दू बेगम का ही राज था। उस समय केवल ६ श्रेणियो मे मिडिल शिक्षा विभक्त थी भाई तो दूसरी कक्षा में प्रविष्ट हुए और मै पहली के ही विभाग के योग्य समझा गया। एक तो लिपि भेद और दूसरे बादा की झोपडिया काशी के प्रसादो की याद दिलाती थी। परन्तु तीन महीनो के पीछे ही मिडिल की ८ कक्षाये बन गयी। तब मेरे भाई तो द्वितीय मे ही रहे और मै तीसरी के योग्य समझा गया।

पाठशाला से बाहर मै तुलसीकृत रामायण के अतिरिक्त देशभाषा पद्य मे महाभारत का अनुवाद भी पढा करता और छुट्टी के दिन युद्ध के पर्व प्राय समाप्त कर देता। रामचरितमानस से बुद्धू भक्त द्वारा अधिक प्रेम उत्पन्न हुआ। मेरे पिता अब तक शिवपूजा ही करते थे परन्तु बादा मे उनका सत्सग एक ऐसे राम भक्त से हुआ जिसने उनकी काया ही पलट दी। मै बीमार हुआ लोगो ने वैद्य बुद्धू भक्त की प्रशसा की भक्त जी बुलाये गए। मै रोग से मुक्त हुआ और भक्त जी हमारे परिवार के प्रमाणिक वैद्य बन गये।

बुद्धू भक्त जात के बनिये थे उनकी कहानी विचित्र है। पहले वह बडे चालबाज और जालसाजो के पुश्तपनाह थे बीसियो मुकदमे लडाये और सैकडो झूठे गवाह बनाये अन्त को एक बार रामायण के उत्तर काड की कथा सुनकर हृदय मे अनुताप का भाव उत्पन्न हुआ। गोस्वामी तुलसीदास जी के हृदय बेधक शब्द काट कर गए और बुद्धू सेसर बुद्धू भक्त बन गया। कौडी बेचने की दुकान खोलकर आजीविका कर ली, चिकित्सा बिना पुरस्कार लिए आरम्भ कर दी और नित्य रात को रामायण की कथा का प्रारम्भ कर दिया।

भक्त जी की भव्य मूर्ति अब तक आखो के सामने फिर रही हैं कुछ लम्बा दुबला बदन, चमडे पर आबनूस का सा स्याह रोगन और पगडी श्वेत। क्या यह मूर्ति आकर्षण करने वाली है? परन्तु आखो का तेज और लबो पर निरन्तर मुस्कराहट जले से जले दिल को भी शात कर देते थे। नित्य रात को भक्त जी उच्चासन पर बैठ कर रामायण खोल लेते। सगत मे झाझ मृदगादि लेकर चमार और द्विज एक आसन पर बैठते। चाहे क्षत्रिय पुलिस इन्सपेक्टर हो चाहे ब्राह्मण डिपुटी कलेक्टर—सबको एक ही चटाई पर बैठना पडता था। पहले मगलाचरण का एक भजन होता फिर दोहा सहित एक चौपाई गाई जाती और अन्त मे भक्त जी एक चौपाई को स्वर सहित कह कर उसके अर्थ करते और अन्य रामायणो के प्रमाणो से उसका समर्थन करते। वीर रस के प्रसग मे जहा श्रोताओ के हृदय बल्लियो उछल पडते वहा करूण रस के आते ही अश्रुधारा बहने लगती।

बुद्धू भक्त के सत्सग का पिताजी पर तो यह प्रभाव पडा कि दिन भर पुलिस आफीसर का कर्त्तव्य पालन करते हुए अपराधियो को गिरफ्तार करते और पुलिस डायरी तैयार करने के पीछे रात को अपराधी और फरियादी थानेदार सिपाही और खलासी सबको एक आसन पर बैठाकर रामायण की कथा सुनाते थे और कभी कभी यह कथा मुकदमा साफ करने का साधन भी बन जाती। मुझ पर इस सत्सग का प्रभाव अब तक वैसा ही है। अब बादा मे प्रत्येक आदित्यवार को हनुमान चालीसा का एक टाग के भार खडे होकर सौ बार पाठ करने के पीछे नमक शून्य भोजन करता था। वहा सनीचर को स्कूल से लौटकर जो बालकाड का आरम्भ करता तो आदित्यवार की रात तक लकाकाण्ड की समाप्ति कर देता।

बादा का एक सब डिविजन 'करबी' था। उसी के इलाके मे चित्र कूट का पर्वत है जिसका रामजीवन के साथ चौदह वर्ष के बनवास में बडा सम्बंन्ध रहा है। करबी मे पुलिस का एक अग्रेज असिस्टेन्ट सुपरिन्टेन्डेन्ट इन्चार्ज रहता था। वह ६ महीने की छुट्टी पर गया। पिताजी उसके स्थानापन्न होकर गये। इस प्रकार मुझे चित्रकूट के सारे दृश्य देखने और करबी के पुराने मरठा राजा के महलो मे निवास का सौभाग्य तो प्राप्त हुआ परन्तु पढाई मे फिर विघ्न पड गया। ६ महीने मे एक श्रेणी पिछड जाना पडा।

बादा जिला मे पिताजी तीन बरस तक रहे। इस अन्तर मे दो बार वह करबी भेजे गये और दोनो बार जहां मेरा साधारण अनुभव बढा वहा कितनी बार पढाई मे विघ्न पड़ते रहे।

मिर्जापुर मे 5 मास और बिंदवासिनी के दर्शन

बादा से बदलकर मेरे पिता फाल्गुन सम्वत् १९२८ वि० मे मिर्जापुर पहुचे। बादा से मे अकेला पिता जी के साथ सिक्रम की सवारी से फतेहपुर की ओर चल पडा। फतेहपुर पहुचकर

रेलगाडी पर चढना था मार्ग मे ही रात हो आई। फतेहपुर १० मील रह गया था जब घोडे ने चलने से जवाब दे दिया। कोचवान और साईस घोडे बदलाने ग्राम मे चले गए। पिताजी सडक पर टहलने लगे और मै शिक्रम के अन्दर ही पडा रहा। अकस्मात् पास के खेत से कुछ लठबन्द निकले। पिताजी के हाथ मे पिस्तौल थी। फायर कर दिया और मुझे पुकारा कि दो नाली बन्दूक उन्हे दे दूं। मै उठा तो डरता हुआ परन्तु पिताजी को बारूद और छर्रा देते और उनकी बन्दूक की बाढ़ का शब्द सुनते–सुनते डर दूर भाग गया। डाकू भाग गए और घोडे आते ही शिक्रम चल पडी। यहां से ही बन्दूक चलाने का शौक हुआ। मिर्जापुर मे पहुचते ही चैत्र के नवरात्र मे विदवासिनी देवी का मेला था पिताजी का खेमा विध्याचल पर जा लगा और मै उनके साथ ही मेले का आनन्द लूटता रहा। पढाई मे यह भी विघ्न था, पर अनुभव वहा भी बढा। उसी स्थान मे पिताजी के अर्दली सार्जन्ट जोखू मिसिर की लीला देखी। देवी पर जो बकरे चढते उनमे से सात की सिरिएं मिसिरजी की पेट पूजां के लिए भेट मे आतीं। सात बकरो के सिर मुफ्त, कण्डो की आग मुफ्त, मिट्टी की हडिया मुफ्त नमक व हल्दी मुफ्त। हा पावभर चून मोल लेना पडता। जोखू मिसिर जितने लम्बे उतने ही चौड़े थे, सातो सिरियो का सफाया करके शेष थाली पाव भर चून की लिट्टी से पोछ और कुल्ला करके पेट की तूदडी पर हाथ फेर दिया करते थे। एक दिन हडिया पकते पकते पिता जी का नौकर चिमटे से चिलम मे आग धर लाया। मिसिरजी आग बबूला हो गये और जब कारण पूछा गया तो बोले – "अरे सरकार! हम अपना धरम कबहू नाही छोडा अरे! झूठ बुआला, जुआ खेला, गाजा का दम लगावा, दारू चढावा, रिश्वत लिहा, चोरी दगाबाजी किहा, कौन फन फरेब बाटे जोन हम नाही किहा, मूल सरकार आपन धरम कबहू नाही छोड़ा, सरकार तो मुस्कुरा के चल ही दिए और मेरे पेट में हसते हंसते बल पड गये।

जोखू मिसिर का मामला तो मनोरजक था, परन्तु थाने की छत से जो एक राजा की स्त्री को नग्न होकर देवी की पूजा

करते देखा – उस दृश्य ने मुझे ऐसे धनाढ्य पुरुषो से बडी घृणा दिलाई।

मिर्जापुर मे पहला महीना तो देवी दर्शन की भेट हुआ फिर गवर्नमेण्ट स्कूल की तीसरी श्रेणी मे प्रविष्ट हुआ। उर्दू और कुछ फारसी तो पढ़ ही रखी थी, मिर्जापुर मे अरबी इखतियारी मजमून लेकर फायलातुन की टांग भी तोड डाली। परन्तु अपनी अरबी के उच्चारण के लिए गला तैयार ही कर रहा था कि श्रावण सवत् १६२८ के आरम्भ मे मेरे पिताजी अब्वल दर्जे के इन्स्पेक्टर बनाए जाकर और १००/– मासिक विशेष वेतन म्युनिसिपलिटी से इसके अतिरिक्त प्राप्त कर, काशी बनारस को बदल गए और वहा जाकर उन्होने पण्डित रघुनाथ प्रसाद कोतवाल के स्थान मे शहर की कोतवाली का चार्ज ले लिया।

काशी में दूसरी बार और हकूमत की बहार

अवध रूहेलखण्ड रेलवे का उन दिनो नमूद भी न था न राजघाट का पुल ही बधा था। माताजी को पवित्र काशी निवास की उत्कट इच्छा थी मिर्जापुर से मुगल सराय पर गाडी बदली, छोटी लाइन पर दूसरी गाडी मे बनारस स्टेशन पर पहुचे। प्रात काल का सुहावना समय, थोडी फुहार पड रही थी। कोतवाल साहब के लिए सुन्दर बजडा छती हुई नाव तैयार। उसकी ओर चलते हुए गगा के दूसरे किनारे पचमजिले सतमजिले तक मकान पर मकान चढे हुए और सबसे आगे माधोदास के धरहरे के मीनार – वह काशी का प्रथम दृश्य कौन भूल सकता ?

दूसरे पार जसाई घाट पर बजड़ा ने लगर डाला और हम सब उतरकर मणिकर्णिका घाट पर स्नान के लिए चले गए। सामान डेरे पर पहुंचा और ब्रह्माना मुहल्ला के पास रियासत कपूर्थला की धर्मशाला मे आसन जमा। कुछ काल पीछे ब्रह्मलाल मे ही एक खुला चौमजिला मकान किराये पर लेकर पिताजी ने परिवार उसमे रख दिया।

काशी के देव मदिरो, बाजारो, घाटियों, गगापुत्रो, गुण्डो और चाइयो आदि के विशेष गुण वर्णन की यहा जरूरत नही है क्योकि आज कोई भी पढा लिखा इन बातो से अनभिज्ञ नही है। मदिरो की भरमार का अन्दाजा इसी से लग सकता है कि काशी मे "जेते ककर ते ते शकर" प्रसिद्ध है। जिस कपूर्थला धर्मशाला मे हम टिके थे उसमे दो शिवलिग स्थापित थे। एक का नाम रामजसेश्वर और दूसरे का नाम मथुरेश्वर दोनो कपूर्थला के बाप बेटा, दीवानो के नाम से प्रसिद्ध थे।

काशी के उस समय के आचार व्यवहार का खुलासा एक लोकोक्ति के अन्दर बन्द कर दिया गया था जिसके लिखने की आवश्यकता होगी।

राड, साड, सीढी, सन्यासी,
इनसे बचै सो सेवे कासी।

काशी मे हिन्दू प्राय अपनी आयु का अन्तिम भाग बिताकर मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा से जाते थे, क्योकि "काश्यां मरणान्न मुक्ति" उक्ति प्रसिद्ध थी। रईस गद्दी से निराश होकर और पुत्रो को सम्पत्ति सौपकर इसी स्थान मे पहुच कर कहा करते थे कि –

चना चबेना गगाजल जो भजै कर्तार
काशी पुरी न छोडिए विश्वनाथ दर्बार

परन्तु व्यभिचारी लोग राडो को भगाकर भी काशीपुरी मे ही डेरा लगाते थे। एक ओर बगाल और दूसरी ओर पजाब पूरब और पच्छिम जहा से भी कोई व्यभिचारी पुरूष किसी स्त्री के सतीत्व को दाग लगाता वह उसे लेकर सीधा काशी पहुचता और काशी पहुचते ही उनको ऐसी मुक्ति प्राप्त होती कि वे अपनी बिरादरी मे मिलजुल जाते। इनके अतिरिक्त बिगडी हुई विधवाओ और अन्य व्यभिचारिणी स्त्रियो से बहुत भय रहता था। इनसे बचकर ही हरि भजन होना सम्भव था।

दूसरे – साडो की भरमार से बहुत भय रहता था। जिस पुरी के राजा विश्वनाथ का वाहन नन्दीगण, उसमे साड छोडना बहुत ही पुण्य समझा जाता है। आख बन्द करके चलने वालो की अकाल मृत्यु का भी भय रहता था।

तीसरे – सीढियो का तो कुछ ठिकाना ही नही है। दृष्टि को सचेत करके न चला जाय तो पग पग पर गिरकर चोट खाने का भय। प्रत्येक दस कदम के पीछे दो तीन सीढिया उतरने वा चढने को मौजूद। काशी ठहरी शिव के त्रिशूल पर बसी हुई, नीचे सारा पोल और ऊपर पत्थर का फर्श। आंख को ऊचाई–निचाई दिखाई भी तो नही देती। एक बार गिरे तो महीनों तक गगास्नान और विश्वनाथ के दर्शन से वचित रहना पडता। और

चौथे सबसे बढकर काशी सेवा मे बाधक उस समय के सन्यासी थे। विस्तार मे यहा जाने की आवश्यकता नही, परन्तु एक और लोकोक्ति से उनका सारा आचार समझ मे आ जाएगा–

जगत गुरू बाह्मन, ब्राह्मन गुरु सन्यासी,
संन्यासी गुरु चपरासी'

यदि पाठक कल्पना कर ले कि चपरासी किस श्रेणी के मनुष्यो के गुरु हो सकते है, तो समझ मे आ जायगा कि किस प्रकार संन्यासी स्त्रियो और पुरूषो के भजन मे भंग डाल सकते थे।

काशी पहुच कर कुछ महीनो के लिए मेरा पढ़ना लिखना फिर बन्द हो गया। काशी की कोतवाली एक नव्वाबी समझी जाती है। तहसीलदार आते और जाते है, कमिश्नर और कलक्टर भी बदलते रहते है, अहलकारो के सिवाय कानो कान भी किसी को खबर नही होती कि कौन आया और कौन गया। परन्तु कोतवाल का बदलना क्या है, एक विप्लव आ जाता है। अमीर

से गरीब तक और महात्मा साधु ब्राह्मणो से लेकर लुच्चे बदमाशो तक सब नर नारी कोतवाल के बदलने से प्रभावित होते है नरम दिल, न्यायकारी कोतवाल आया तो उसकी प्रशसा के गीत बन जाते। और यदि कोई अत्याचारी उस मसनद पर बैठ गया तो स्त्रिया भी गाने लगती–

'कैसे खेलौ रे कजरिया आए नये कोतवाल'

वर्षा ऋतु में काशी पहुचना हुआ। कजरी का गाना जोरो पर था, और हम दोनो भाई नवाबजादे। कोतवाल के द्वार पर रईसो की बग्घियां फिटनादि हर पल खडी, रहती फिर क्या था, नित्य नये मेलो मे जाना ही एक काम था। कही लोलारक छट, कही दुर्गादेवी (जिसे अड्ग्रेज "मकी टेम्पल" कहते है) के दर्शन, कही गौनहारियो के नाच विचित्र समां बंधा रहता था। और फिर श्राद्धो के दिनो पूरी, सहारी, और अनेक व्यंजनो के साथ फलो का स्वादिष्ट भोजन! पितर पक्ष चल बसा तो रामलीला की सैर में २० दिनो से अधिक व्यतीत हो गये। काशी मे वैसे तो कई स्थानो में रामलीला मनाई जाती थी, परन्तु उनमे दो बडी शानदार होती थी एक तो गगा पार महाराजा रामनगर के यहा और दूसरी असि घाट की ओर महाराजा विजयनगरम् की ओर से। यह महाराजा मद्रास प्रान्त से आकर काशी निवास के लिये ठहरे हुये थे। हमारे लिये अब चादी सोने के हौदे वाला हाथी नित्य आने लगा और इस तरह मैने भी जन्म–पत्री की विध मिला कर हाथी नशीन की पदवी प्राप्त की।

दसहरा समाप्त हुआ, भरत मिलाप भी हो चुका, नाटी इमली के मिलाप का दृश्य भी हम देख चुके। तब पिता जी का हमारी शिक्षा की ओर फिर ध्यान खिचा। फारसी पढाने के लिये एक लाला भइया (कायस्थ मुशी) नियत किये गये, जिन्होने दस्तूरुलसीबिया और एक अन्य पुस्तक का पाठ शुरू कराया। मुशी साहब गांजे का जबरदस्त दम लगा कर तो हमे पढाने आया करते थे। चिरकाल से आजीविका बन्द थी और मुन्शी जी

को फिक्र रहती थी कि कही रोजगार का यह दरवाजा भी बन्द न हो जाये इसलिये अपने शार्गिदो को अप्रसन्न नही करना चाहते थे। थोडा सा पढ लिखकर जब हम उकता जाये तो हमे नित्य नई फडकती हुई कहानी सुना देते। उन कहानियों को सुन कर सबक याद करने की कब सूझ सकती थी, और जब गुरु पाठ सुनना अपना कर्त्तव्य ही न समझे। मुन्शी जी ने तो हमे खुली छुट्टी दे रखी थी, परन्तु पिताजी को एक दिन हमारा पढा लिखा पडतालने का ख्याल आ गया। तब मुन्शी की करतूतो का उन्हे पता लगा और हमारे 'उस्ताद' घण्टे भर के नोटिस पर विदा कर दिये गये। मुन्शी साहब के पीछे मास्टर जी की बारी आई। बाबू देवकीनन्दन करणघण्टा स्कूल के हेडमास्टर थे। कुछ दिनो घर पर पढा कर उन्होने हमे अपने निजी स्कूल मे भरती करा दिया। सम्वत् १६२६ का आरम्भ हो चुका था और यत' इस स्कूल मे चौथी कक्षा तक ही पढाई होती थी अतएव मैने नीचे की ओर उन्नति करके तीसरी के स्थान मे चौथी जमाअत मे ही नाम लिखा लिया। मेरा नाम इस स्कूल मे भाद्रपद सम्वत् १६२६ वि० के अन्त तक रहा जिसके पीछे मेरे पिता जी की तबदीली बलिया की हो गई। इन नौ महीनो मे भी मुश्किल से १२५ दिन स्कूल मे मेरी उपस्थिति लगी होगी। होली के दिनो मे रग और अबीर की बहार उडाते रहे और पुलिस की धौस से प्रत्येक प्रकार की रगरेलिया मनाई। बुढवा मगल के मेले के दिनो मे तो किस्ती पर ही चार दिन रात गुजारे और कोतवाल के 'बजडे की बहार उडाते रहे। आवारगी की कुछ हद न रही। फिर एक मुसलमान वकील के यहां एक लडकी मर गई। मुखबिर ने कोतवाली मे रपट दी कि लडकी मार डाली गई है। नायब कोतवाल, होरीलाल ने जाकर लाश (मृतक शरीर) डाक्टरी मुलाहिजे के लिये रुकवा दी। वकील साहब सर सय्यद अहमद की मदद से उन्होने नायब कोतवाल की तहकीकात बन्द करा दी और मेरे पिताजी, नायब कोतवाल और मुखबिर पर फौजदारी नालिश दायर कर दी। मैं फिर उसी मुकदमे के सम्बन्ध मे अग्रेजी पत्र लिखने के काम मे लग गया। इधर मुकदमा सेशन सुपुर्द हुआ और उधर सारा घर 'लाल

बुखार' का शिकार हुआ। परन्तु बनारस मे सर सय्यद अहमदी के प्रभाव से न्याय की आशा न होने पर पुलिस के इन्सपेक्टर जनरल ने हाई कोर्ट इलाहाबाद को हिलाया और जजो ने मुकदमा इलाहाबाद के सेशनकोर्ट मे बदल दिया। परिणाम यह हुआ कि पिता जी अपने साथियो सहित निर्दोष समझे जाकर छूट गये, उनका सब खर्चा सरकार से मिला और उनकी बदली, जैसा कि लिख चुका हू बलिया को हो गई।

काशी मे रहते हुये प्रात काल गगा स्नान और विश्वनाथादि के दर्शन के साथ व्यायाम का भी अभ्यास पड गया। उस समय गगा के सब घाटो के किनारे अखाडे खुदे रहते थे। प्रत्येक अखाडे का एक उस्ताद था जो कुश्ती लडवाता था। मैंने दशहरे के दिनो मे मिले मेले के खर्च मे से कुछ धन वचा कर एक टूटीदार बर्तन खरीदा, जिसे झारी कहते है। इसमे देवता पर चढाने के लिये जल भर लिया जाता है। दूसरी एक पीतल की डलिया खरीदी। जिसके ऊपर पकडने का दस्ता और बीच मे दो कटोरिया जडी होती है। एक कटोरी मे अक्षत, दूसरी मे चन्दन और थाली मे फूल और बेल पत्र रख लिये जाते है। मै नित्य प्रात बाए हाथ मे डलिया दाहिने हाथ मे झारी और बगल मे धोती अंगोछा लेकर चल देता अखाडे मे पहुचकर सब कुछ अलग रख लंगर पहिन लिया और कुछ डड बैठक करके उस्ताद ने एक जोडे से लडा दिया। फिर पवीना सुखा गङ्गा मे गोता लगा, लङ्गर (रुमाली) को धोकर लौटते हुए अखाडे मे रख दिया और भारी डलिया लेकर चल दिए। मार्ग के सब शिवलिगो पर झारी से एक एक बूद चुआते हुए विश्वनाथ, सनीचर देवता, महावीर, अन्नपूर्णा और गणेश ढुण्डिराज की प्रेमपूर्वक चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य धूप दीप से पूजा करके घर पहुंचकर जलपान करना – यह नित्य नियम हो गया, जिसमे बिना किसी विशेष विपत्ति के विघ्न नही पडता था।

काशी मे सम्वत् १६२६ का दशहरा हाथियो पर बैठकर फिर देखा। पढना लिखना सब ताक पर रख दिया और नव्वाब बेमुल्क बने हकूमत का खालिस मजा चखते रहे अन्त को

जुदाई की घडी सर पर आ खडी हुई' और एक बजडा किराये पर करके सारा असबाब उस पर लाद मैं और भाई आत्माराम, पिताजी के साथ बलिया को चल दिये, और माताजी सबसे बडे भाई के साथ, शेष परिवार लेकर, स्वदेश को प्रस्थान कर गई।

बजडा तीसरे पहर तक चलता, और यत गङ्गा के बहाव के साथ जा रहा था, अत अच्छी मजिल मार लेता। लगभग ४ बजे, रसोई और रात्रि शयनादि का सुभीता देखकर, लङ्गर डाल दिया जाता। सायकाल का भोजन खाकर सब सो जाते । पाचक दूसरे दिन के लिए पराठे बना छोडता जो दिन के १० बजे अचार मुरब्बे के साथ बडे स्वादिष्ट लगते। यह स्मरण नही कि कितने दिनो मे बलिया पहुचा, परन्तु एक रात की घटना याद है। उस दिन हमने ऐसे स्थान पर डेरा किया था जहा एक आश्रम मे पुरानी राख बहुत थी और कहा जाता था कि वहां किसी ऋषि ने तप किया है। सबसे पहले सबसे छोटा मै भोजन किया करता था और ६ बजे शाम को घोडे बेचकर सोता तो दूसरी प्रात के छ बजे ही हिलने का नाम लेता। उस दिन पास ही एक पुराना बट वृक्ष देखा जिसकी शाखाए दबदब कर ५० वृक्ष बन गये थे। छाया इतनी घनी और फैली हुई थी कि १०० घुडसवार घोडो सहित, लश्कर डाल ले तो पता न लगे। मैसैर करते करते इस प्राकृतिक छत केनीचे दूर चला गया और ठडी हवा के झोको ने मुझे सुला दिया मेरे साथी दो घटो तक लालटेनो द्वारा टक्करें मारने के पीछे मुझे वृक्ष के तले से उठा लाए। मुझे छुटपने से ही नई इमारतें और सजे हुए प्रसाद प्रभावित नही करते थे, मै ईश्वर कृत दृश्यो और प्राचीन मदिरो और खडहरो की ओर अधिकतम आकर्षित होता था।

शिक्षा का नियमपूर्वक आरम्भ

सुखार्थिन कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ।।

मनु०

बलिया इस समय जिला है, उस समय गाजीपुर जिला का

सबडिविजन था। बलिया पहुच कर भी शायद पढाई लिखाई का अल्ला ही बेली होता परन्तु वहा के स्कूल के मुख्याध्यापक बाबू मुकर्जी पिता जी के पास पहुच गये और यद्यपि उनके स्कूल मे चौथी से कम कक्षा न थी फिर भी परीक्षा लेने के पीछे मुझ अकेले के लिए तीसरी कक्षा बनाई गई। इंगलिश भाषा मे मेरी योग्यता बढी हुई थी, इसी लिए जहा कुछ दिनों पीछे एक अग्रेज कमिश्नर ने मेरे शुद्ध उच्चारण से प्रसन्न होकर विशेष पारितोषिक दिया था, वहा मार्गशीर्ष सम्वत् १९२६ के मध्य मे राजा शिवप्रसाद सी० एस० आई० इन्सपेक्टर आफ स्कूल्स ने परीक्षा लेकर मुझे द्वितीय कक्षा मे उन्नति दी।

यद्यपि पढाई लिखाई मे भी कुछ समय लगने लगा, परन्तु सैर और कुश्ती और गतका लाठी सीखने में भी बहुत सा समय जाता था।

बलिया मे सिख खत्री विशेष मालदार थे। पटना साहब की सगत के वे शिष्य थे। उन्ही मे से एक श्यामसिह कुश्ती लडाता और दूसरा अजीत सिह गतके के हाथ बतलाता। अजित सिंह पर दस्तार शाहनामें के रूस्तम के चित्र के सदृश बाधता और हाथ मे एक गुर्ज रखता था। तलवार हाथ में लिये विरोधी के सामने केवल रुमाल लेकर खडा होता और तीन पैतरो मे तलवार छीन लेता।

बलिया की सभ्य सृष्टि

बलिया मे सभ्य समाज के सभासद् केवल तहसीलदार, मुन्सिफ, पुलिस आफीसर और उनके पढे लिखे मातहत समझे जाते थे। शेष प्रजा मे लखपति तक की भी कोई गिनती न थी। एक ओर राजपुरूष और दूसरी तरफ उनके पाव तले रोंदी हुई प्रजा, तीसरी तरफ स्वतन्त्र समाज का कुछ अस्तित्व ही न था। पिता जी यत. विषय वासनाओ से मुक्त थे इसलिए उनसे सब दबते थें कायस्थ तहसीलदार और उनके नायब, मुसलमान मुनसिफ और उनके कनौजिया रिश्तेदार राजपूत पुलिस दरोगा

और सिक्ख हेड मुहर्रिर सबके सब वैश्यागामी और प्रजा को लूटने वाले, परन्तु तुलसीकृत रामायण पर जो मेरी श्रद्धा थी उसने इस पतित समाज से मुझे घृणा दिला दी ।

तुलसीकृत रामायण पर, इन दिनो, एक विशेष घटना ने मेरी श्रद्धा और भी बढा दी। एक रात पिता जी बलिया मे ही अपने नित्य नियम अनुसार रामायण की कथा कह रहे थे। मेरी उपस्थिति मे पुलिस वालो तथा मुहल्ले वालो के अतिरिक्त एक बडे मुकदमे की आसामिया भी बैठी हुई थी। प्रसग भगवान रामचन्द्र जी की क्षमा का छिड गया और पिता जी ने सिद्ध किया कि यदि मनुष्य अपने पाप को स्वीकार कर ले तो उससे बढ कर कोई प्रायश्चित नही। भगवान् शरणागत को कभी त्यागते नही । अकस्मात् पकडे हुए अपराधियो मे लम्बा दृढाग पुरूष दोनों हाथ बाध पिता जी के सामने यह कहता हुआ, साष्टाग लेट गया –

स्रवन सुजस सुन आयो प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरत हरन सरन सुखद रखुवीर।।

पिताजी ने खडे होकर उसे भूमि पर से उठा लिया और कहा – "मुझ, मनुष्य के सिर पर पाप क्यो चढाते हो" उत्तर मिला – "भगवान् राम तें अधिक रामकर दासा, मै आपकी शरण मे आया हू। सारी कहानी सून लो" उसने फिर चोरी और खून दोनों को मान लिया और जब उसका " इकबाल" लिखकर उसके हस्ताक्षर करा लिए गए तो उसके मुख की काति वर्णन की सीमा को उल्लघन कर गई थी। मुझ पर उस दृश्य का बडा प्रभाव पडा और अपने जीवन मे कई बार उसका स्मरण आया।

बलिया मे कुछ पढा लिखा तो, परन्तु नियम पूर्वक शिक्षा का आरम्भ अभी कहा नही जा सकता था जिस प्रकार रूखड बैरागी बाबा ने अठारह अध्याय गीता रगड़ मारी थी और गुरू एक भी नही बनाया था, इसी प्रकार अब तक मैं भी "लैभज"

बना रहा। इधर उधर की बाते और हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी सब रगड मारी और गुरू किसी एक विद्यालय को भी धारण नही किया था। तीसरी बार काशी मे पहुचकर सचमुच विद्यार्थी जीवन का, जैसा कि उस समय था, आरम्भ हो गया।

कुइन्ज (महाराणी वाले) कालेज में प्रवेश

पौष सम्वत् १९३० मे मेरा प्रवेश कुइन्जकालिज मे स्कूल 'पाठशाला' विभाग मे हो गया। इन्सपेक्टर के प्रमाणपत्र को देखते ही मुझे द्वितीय कक्षा मे ले लिया गया।

कुइन्जकालिज जिसे अब बनारस कालिज कहकर पुकारा जाता है उस समय के संयुक्त प्रात मे बडी उच्च कोटि का महाविद्यालय था। अवध उस समय सर्वथा अलग सूबा था, परन्तु उधर से भी शिक्षा प्राप्त करने के लिये विद्यार्थी बनारस मे ही आते थे। क्या महाविद्यालय भवन के सौन्दर्य और गम्भीर प्रभाव की दृष्टि से और क्या विद्यार्थियो की योग्यता की दृष्टि से आगरा, इलाहाबाद, प्रयाग इत्यादि कालिज इसका मुकाबिला नहीं कर सकते थे। इंजिनियर ने इमारत बनवाते हुए व्यय को अनुमान से इतना बेढब बढा दिया कि उसके लिए हिसाब किताब समझना कठिन हो गया और उस बखेडे से बचने के लिए उसे आत्मघात की शरण लेनी पडी। उसकी कबर कालिज के बडे आगन के सामने बडी सुन्दर बनी हुई है। कालिज की दो मन्जिले डेवढी के अन्दर चलकर बडी विस्तृत वाटिका है। कालिज सामने है जिसका एक ही बहुत लम्बा हाल है। उसके दोनो ओर नौ नौ कमरे है। मध्य स्थानीय एक ओर के कमरे मे उस समय का बडा भारी दोमजिला पुस्तकालय और दूसरी ओर के दाहिने कमरे मे सस्कृत प्रोफेसर के बैठने का स्थान और दूसरी मन्जिल मे अद्भुतालय था। दोनो मध्यवर्ती कमरों की तीसरी मन्जिल पर बुर्ज है, जिनमे से एक मे सम्वत् १९१४ की राजक्रांति अंग्रेजो की भाषा मे गदर मे प्रिन्सिपल ग्रिफिथ जा छिपे थे। इंगलिश विभाग के सब प्रोफेसर और स्कूल की दो

बडी जमातो के टीचर तो ११ कमरो मे बैठते थे और शेष ५ कमरो मे सस्कृत के अध्यापक बैठते थे। पण्डित बालशास्त्री वैदिक और अलोकिक साहित्य के, प० ढुण्डिराज शास्त्री, गणित के और प्रसिद्ध ज्योतिष के धुरन्दर पण्डित वासुदेव शास्त्री भी उन्ही के अन्तर्गत थे। हाल खुला था और उसके बीच मे मार्ग छोडकर दोनो ओर पांचवी से आठवी कक्षा तक मिडिल विभाग के विद्यार्थी बैठते थे। प्राइमरी की निचली जमातो के लिए हेड मास्टर साहब ने गवर्नमेण्ट से रहने के लिए मिली हुई अपनी कोठी किराए पर दे रखी थी क्योकि उन्होने मुहल्ला दशाश्वमेघ घाट पर अपना निजी मकान बनवा लिया था। बडी वाटिका की समाप्ति पर एक कोने मे प्रिन्सिपल साहब के रहने का बगला और दूसरे कोने मे कुन्ज में छिपा सगमरमर का मेज और उसी पत्थर का बेच था जिस पर कागज और पेन्सिल धरे रहते थे। चारो वेदो का इङ्गलिश पद्य मे अनुवाद करने वाले प्रिन्सिपल 'राल्फ टी० एच० ग्रिफिथ कवि थे और जब नए विचार हृदय में उठते तो इसी सगमरमर के बेच पर बैठकर हृदय के उद्‌गार पेसिल द्वारा प्रकट किया करते । मैने दो बार उनकी छोडी हुई कविता को पढकर अपने आपको धन्य समझा था। परन्तु यह तो कालिज विभाग मे आने के पीछे सवत् १६३३ ई० की बात है।

बनारस कालिज के प्रिन्सिपल और प्रोफेसर

बनारस मे विद्यार्थी बन कर मै सवत् १६३० के पौष मास से लेकर सवत् १६३४ के ज्येष्ठ मास के अन्त तक बराबर रहा। इस अन्तर मे केवल सवत् १६३२ का पूरा वर्ष रेवडी तालाब के स्कूल जयनारायनज कालेज मे गुजारा, शेष ३।। वर्ष बनारस कालिज की चार दीवारी मे ही व्यतीत किए। रेवडी तलाब के स्कूल मे एक वर्ष मेहमान बनकर ही काटा, असली विद्यागृह मै कुइन्ज कालिज को ही समझता रहा।

एक बात यहा बतला देना आवश्यक है। उन दिनो सयुक्त प्रात मे कोई युनिवर्सिटी न थी और ना पजाब मे ही। दोनो

प्रान्तो के विद्यार्थी एन्ट्रेन्स से लेकर एमए तक की परीक्षा कलकत्ता यूनिवर्सिटी के अधीन देते थे। हा सस्कृत विद्यालय विभाग अपने आप मे अवश्य स्वतन्त्र था।

कालिज प्रिन्सिपल ग्रिफिथ साहब थे जो बाल्मीकीय रामायण का अनुवाद इग्लिश पद्य मे करने के अतिरिक्त चारो वेदों के भी अनुवादक थे। पाच फीट से शायद एक आध इन्च ही लम्बे हो, परन्तु थे नख सिख से दुरुस्त। जैसे बामन आप थे वैसा ही बौना भृत्य आपको मिला हुआ था। उसने भी साहब बहादुर के अनुकरण मे गलमुच्छे रक्खे हुए थे। ग्रिफिंथ साहब एक टाग से लगडे हो चुके थे। इसका कारण भी विचित्र था। कवि ही तो ठहरे, टमटम इतनी ऊची बनवाई कि जब एक सडक से दूसरी सडक की ओर घुमाने लगे तो गला तार से फस गया और साहब शेष जीवन भर के लिए लगडे हो गए। लगडी टाग की एडी जरा ऊची रखवाते और ऐसी सावधानी से चलते कि देखने वाले को टाग की व्यग प्रतीत न होता। शौकीन ऐसे थे कि नया कोट वा नई पतलून पहिरते समय यदि तनिक भी बेढब मालूम हुई बाहर के बरामदे मे फेक दी गई। जो भी भृत्य उपस्थित हुआ उसके भाग्य उदय हो गए। बगले की सजावट जगत प्रसिद्ध थी। ऐसा कोई ही हतभाग्य विद्यार्थी होगा जिसने गल मुच्छवाले बौने भृत्य को अठन्नी वा रुपयादेकर, प्रिन्सिपल साहब की अनुपस्थिति मे उनकी नरम गद्दे वाली कौचो और कुर्सियो का आनन्द न लूटा हो। कवि ने विवाह तो किया नहीं था, परन्तु बीच के सडक की दूसरी ओर एक कोठी किराये पर लेकर अपनी सदा सोहागिन प्रिया को रखा हुआ था। नाजुक इतने कि यदि कोई उनकी ओर बढे तो पीछे हटते जाते थे। साधारण पुरुष के मुह से निकली आपान वायु को सहन नही कर सकते थे। प्राय. बोलते बहुत धीरे थे और इसी लिये मिलने वाले को आगे बढना पडता था, परन्तु जब पढाते तोगरज ऐसी होती कि एक–एक शब्द स्पष्ट सुनाई देता। शायद गर्ज की सारी शक्ति का सचय उसी समय के लिए कर छोडते थे। मेरे अग्रेजी प्रोफेसर की बीमारी पर एक बार, सम्वत् १६३४ मे उन्होंने मेरी कक्षा को एक सप्ताह तक इगलिश पद्य पढाया था, जिसे मै कभी नही भूला।

सस्कृत विभाग के उपाचार्य पहले एक साहब थे जिनका नाम सस्कृत के आन्दोलन मे कुछ–कुछ लिया जाता है। ग्रिफिथ साहब के स्थान मे, उनके प्रिसीपल बनने पर, डॉक्टर थीवी जर्मनी से लाए गए। उनकी विद्या और विशेषत परिश्रम की धूम मची हुई थी। गर्मियो मे रात की आधी मे न बुझने वाला लेम्प जला कर ग्यारह बजे तक उन्हे पढते देख एक आदमी ने आश्चर्य प्रकट किया। उत्तर मिला कि रात को गणित का फिर से अभ्यास किया करते है और इस प्रकार किसी भी पढे हुए विषय का ज्ञान बासी नही होने देते। आते ही प बाल शास्त्रीसे दर्शन शास्त्र का पढना और सस्कृत सभाष का अभ्यास कर दिया। थोढे दिन पीछे ही षाण्मासिक परीक्षा मे सस्कृत के परीक्षक हुए। एक भी अनुत्तीर्ण न हुआ। पहले यूरोपियन थे जिनकी दाढ़ी के साथ मोंछो का भी सफाया मैने देखा। प्रसिद्ध यह था कि धर्मशास्त्र मे उच्छिष्ट की निन्दा देख कर इन्होने मोछ मुडा ली है, जिससे बालों मे उच्छिष्ट न फस जाय।

गणित प्रोफेसर मिस्टर राजर्स भी अपने विषश मे निपुण थे और उन्ही के पढाये हुए, उनके शिष्य, लक्षमी नारायण मिश्र सहायक प्रोफेसर थे और पीछे से गणित साईन्स, दोनो के प्रोफेसर हो गए।

इगलिश के प्रोफेसर किबल प्रिन्सिपल साहब की अपेक्षा भी नाटे थे, परन्तु हर समय उनकी नस–नस फडकती रहती थी, और हस मुख इतने थे कि उनसे पढते हुए विद्यार्थी का जी नही उकसाता था। परन्तु मेरे होते हुए ही किबल साहब चले गए और उनके स्थान मे पलटन की क्लर्की और स्कूल मास्टरी से बढते–बढते चार्लस डाड स्थानापन्न प्रोफेसर होकर आये जिनका सारा बल विद्यार्थियो के उच्चारण शुद्ध करने की ओर लगता था।

इतिहास के प्रोफेसर इंलिस्तान से एक सिफारसी युवक बुलाये गए, जिनको अयोग्यता के कारण कोई डिग्री न मिल सकी तो उन्हे बनारस कालिज के गले मढा गया। इनको विद्यार्थी बहुत तग किया करते थे और इनकी इतिहास से अनभिज्ञता की पोल खोला करते थे।

अग्रेजी के सहायक प्रोफेसर दो हिन्दुस्तानी एम ए थे – एक बालकृष्ण भट्ट और दूसरे उमाचरण मुकर्जी। ये दोनों भी अपने विषय मे बहुत योग्य थे, जिनमे भट्ट जी तो सदाचार की मूर्ति थे। दोनो ही कालिज के अतिरिक्त एन्ट्रेस की दोनो कक्षाओ को भी पढाया करते थे। रह गए दो प्रोफेसर उन विषयो के जो गौण समझे जाते है। अग्रेजी उस समय मुख्य भाषा समझी जाती थी। ब्रिटिश गवर्नमेट के स्कूलो और कालिजो मे अब भी मुख्य भाषा अग्रेजी और सस्कृत तथा फारसी अरबी दूसरी वा गौण भाषा समझी जाती है। सस्कृत के उपाध्याय पडित रामजसन थे जो प्रिन्सिपल ग्रिफिथ को संस्कृत से अग्रेजी उलथा में भी सहायता देते थे। इसके अतिरिक्त किसी विशेष आश्रय पर इनका ग्रिफिथ साहब पर बडा अधिकार था। यही कारण था कि इनके बडे लडके लक्ष्मीशकर मिश्र एम ए पास करते ही प्रोफेसर बन गए। दूसरे उमाशकर एम ए अग्रेजी में फेल होकर बिजनौर जिला के ताजपुर के राजा के पुत्रो के अध्यापक नियत होकर भेजे गये और तीसरे रमाशकर मिश्र एम ए परीक्षोत्तीर्ण होते ही पहले बनारस कालिज मे गणित के सहायक प्रोफेसर और फिर नए अलीगढ मे स्थापित ऐगलो महम्मडन कालिज के गणित के मुख्य प्रोफसर बन कर गये थे। दूसरे गौण विषय अर्थात् फारसी अरबी के मुख्य उपाध्याय का नाम "मौलवी साहब" के अतिरिक्त मुझे और कुछ याद नही और उस समय भी उनके सब शागिर्द उन्हे मौलवी साहब कहके ही जानते थे। मौलवी साहब ने भी अपने किसी शिष्य को सम्बोधन करते हुये सिवाय "बरखुरदार" (चिरजीव) के और किसी शब्द का प्रयोग नही किया। यो तो मौलवी साहब किसी काम के लिये कमरे से जाए तो कोलाहल का पारावार न रहता था। मौलवी साहब ने लौट कर बाह पसार कर घुमाई और कहा 'हश ! श ! श !!!" शागिर्द अपनी–अपनी जगह बैठ गये फिर भी कोई शरारत करता रहता हो हुक्म हुआ – 'कामता प्रसाद बेच पर खड़े हो जाओ।' कामता मुस्कराता हुआ एक पैर बेच पर और एक अभी भूमि पर ही था कि बोला – "मौलवी साहब ! अज खुर्दा खता अज बुजरगां अता।" अर्थात् छोटे से

अपराध और बडो से क्षमा बुजुर्ग, प्रेम की मूर्ति मौलवी साहब बोले – अच्छा बर्खुरदार बैठ जाओ।' एक बडे नटखट लडके ने भी, जो कई बार बख्शा जा चुका था, ऐसा ही अमल किया। मौलवी साहब बोले – 'हर रोज ईद नेस्त किहलवा खुरद कैसे। – लडका था हाजिर जवाब, हाथ बाध कर बोला – मेरे बुजुर्गवार मौलवी साहब करम्हाये तो मारा कर्द गुस्ताख' मौलवी साहेब की आंखे डबडबा आई, बोलने का साहस न हुआ और इशारे से उसे बैठने की आज्ञा दी। पढाने के समय भी शोर मचता रहता था, परन्तु जब कोई आवश्यक नोट देना होता तो मौलवी साहब कहते "बरर्खुरदार !" अब मतलब की बात आई। जरा गोश–होश से सुनो," बस सन्नाटा हो जाता। उस समय रुमाल गिरने का शब्द भी सुनाई देता मौलवी साहब ने नोट लिखा दिया और चहल–पहल वैसी ही फिर हो गई। अपने मौलवी साहब के पैतृक प्रेम का जब स्मरण आता है तो अब भी दिल भर आता है और हिन्दू मुसलमानो के झगडो को देख कर बडा कष्ट होता है। जिस पवित्र भूमि ने दोनो को जन्म दिया, जिसके अन्न जल ने उन्हे पाला जिस गंगा के शीतल जल ने शान्ति देने मे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई मे कोई भेद नही किया उस मातृ भूमि के पुत्र–आपस मे लड झगड माता को सताते है यह कैसी कष्ट की बात है। परन्तु जिस समय का मै जिक्र कर रहा हू उससे पहले भी सवत् १६२३ मे चन्द्र नगर मे फ्रासिसी चीफ जस्टिस 'लुइस जमालियट' ने काशीपुरी मे पहुच कर लिखा था– ज्यो ही मैने मांझी को अपना बजरा शिवजी के घाट पर बाधने का हुकुम दिया त्यो ही एक घटना ने मुझे आश्चर्यचकित कर दिया। हिन्दू और मुसलमान, दोनो बनारस के घाटो की सीढियो पर बिना भेद–भाव के इकट्ठे नहा रहे थे। यद्यपि पैगम्बर (मुहम्मद साहब) के अनुयायी सदा मूर्ति पूजा के विरूद्ध और तलवार के साथ युद्ध करते रहे है परन्तु औरगजेब के शासन काल से पहले वे अपने पराजित शत्रु के पवित्र तीर्थ का मान करते रहे थे।" मेरे सामने काशी मे सर सैय्यद अहमद की बदौलत हिन्दू मुसलमानो मे परस्पर के विद्वेष की बुनियाद पडने

लग गई थी, परन्तु मेरे पूज्य मौलवी साहब के ढरे के मुसलमान उस विरोध को देख कर दुखी होते थे।

स्कूल (विद्यालय) विभाग के अध्यापक भी अन्य स्कूलो के अध्यापको की अपेक्षा अधिक योग्य थे, परन्तु मेरे शिक्षको का वर्णन बिना उस समय के हेडमास्टर की सक्षिप्त जीवनी के अधूरा रहेगा। जहा प्रिन्सिपल साधारण पुरुष थे वहा हेडमास्टर भी एक विशेष व्यक्तित्व के स्वामी थे।

मथुरा प्रसाद मिश्र, जो अग्रेजी मे हस्ताक्षर करते एम पी एम लिखा करते थे, बनारस कालिज की विशेषताओ की जान थे। सर्व साधारण मे उनका नाम था मथुरा मास्टर। उनकी आकृति विचित्र थी लम्बाई में ६ फीट से भी कुछ सिर निकाले हुये, रग साबले से भी एक आध पानी चढा हुआ शरीर के अजर पजर गिन लो, सिर पर पडिताऊ पगड़ी, पैर मे सफेद पायतावे पर हिन्दोस्तानी जूते, चढी हुई धोती लम्बी छोडे और अगरखा के ऊपर मान्धाता के समय का लम्बा चोगा फैलाये, उसके ऊपर भी बिना तह खोले दुपट्टा लटकाये डग बढाये जाते देख कर किसे विश्वास आ सकता था कि डॉक्टर वैलेन्टाइन से प्रसिद्ध भाषा भाषी अपूर्व विद्वान के अपूर्व शिष्य बनारस कालिजिएट स्कूल के हेडमास्टर जा रहे है। परन्तु जब उनको मिलते ही उनकी आखो पर दृष्टि पडती थी और उनकी धारा प्रवाह वाणी की लहरे चल पडती थी तब समझ मे आ जाता था कि न केवल अग्रेजी और सस्कृत साहित्य का कोष ही उनके अन्दर सुरक्षित है प्रत्युत प्रबन्ध की निपुणता उनके आगे हाथ बाधे खडी रहती है। अध्यापकों और विद्यार्थियो दोनो पर उनका तेज छा जाता था और जब कभी वह अपने कमरे से हाल मे निकलते तो स्कूल क्लासे तो क्या कालिज के कमरो मे भी सन्नाटा छा जाता था। वे पढाने के समय सदा खडे रहते, प्रत्येक विद्यार्थी को उनकी आखे अपने ऊपर ही गडी हुई प्रतीत होती थी। मथुरा मास्टर न बी ए थे और न एम ए परन्तु जब कभी अग्रेजी साहित्य सेवी तथा बडे अफसर भी आ जाते थे इनका शुद्ध उच्चारण और ललित भाषा

का प्रभाव देख कर आश्चर्य मे रह जाते और सारी बातचीत का ठेका मथुरा मास्टर ही ले लेते। इनका बनाया त्रैभाषिक कोष देर तक स्कूलो मे काम देता रहा। मैने एक वर्ष मथुरा मास्टर से पढा है। उन्ही के कारण बनारस कॉलिज के विद्यार्थी शुद्धोच्चारण और शुद्ध आग्ल भाषा बोलने के लिये प्रसिद्ध थे।

यह था विद्वत्मडल जिसकी छत्र–छाया मे मैने काशी के अन्दर ३।। वर्ष से अधिक व्यतीत किए, परन्तु शुष्क पुस्तक पाठ के अतिरिक्त मुझे, उन छ घटो मे जो मै विद्यालय मे नित्य बिताता था, इन विद्वानो से एक भी शिक्षा, जीवन सुधार के लिये न मिली। वह शिक्षा की विधि अब तक भारत सन्तान के जीवन को खोखला कर रही है, और जो कही–कही उसके विषधर प्रभाव को दूर करने का यत्न होता है वह भी पूर्वतया फलदायक नही होता।

व्यावहारिक जीवन में परिवर्तन

मेरे एक स्वभाव का ज्ञान मुझे काशी मे "गगा गये गगादास यमुना गये यमुनादास" हुआ। बनारस पहुचते ही मैने अपने जीवन की सारी गति बदल डाली। बलिया मे तीन महीने के अन्दर ही मै भोजपुरी बोली और हकूमत के झकोलो से मस्त होकर ठाठ–बाठ से सिह–सरदारो की पोशाक पहिरने लग गया था। बनारस पहुच कर एक महीने के अन्दर बनारस की खडी बोली बोलने लग गया। स्कूल मे प्रवेश के पन्द्रह दिनो पीछे ही हकूमत का सारा नशा हिरन हो गया और विद्वानो के विद्यार्थी जीवन की कहानिया पढ–पढ कर उनके अनुकरण की चेष्टा करने लगा। बाके दस्तारे का स्थान बनारसी दुपल्लिया टोपी ने ले लिया, शानदार लबादे के स्थान मे अगरखा पहिर लिया, दुपट्टा बाकेपन का तिर्छापन छोड कर गले का हार बना चुस्त चूडीदार पाजामे का स्थान सीधे सादे घुटन्ने ने लिया और चमकते हुये सल्मे सितारो को जूतो को ठोकर लगा कर लक्कड़तोड बूट पैरो मे श्रृगार बना।

अन्तरीय परिवर्तन

बाह्य परिवर्तन के अतिरिक्त अन्तरीय सकल्पो तथा आशाओ का सारा चित्र ही बदल गया। छ बजे के स्थान मे ब्रह्म मुहूर्त मे ४ बजे उठ कर गगा तीर स्नान के लिये जाता। वहा से डलिया भारी लिए विश्वनाथ की सारी परिक्रमा मे देव पूजन कर घर लौट आध घण्टे तक शारीरिक व्यायाम कर भीगे चने खाकर दूध पीता और नैत्यिक पाठ की आवृत्ति होती। अढाई घण्टे बराबर स्कूल की तैयारी मे लगते। फिर भोजन पीछे स्कूल और वहा से ४।। बजे लौट कर आवश्यकताओ मे निवृत्त हो एक घण्टा अन्य स्वाध्याय मे व्यतीत होता। साझ होते ही. कुर्ता दुपट्टा ओढ हाथ मे छाता घुमाता हुआ शहर से बाहर वायु सेवनार्थ भ्रमण के लिए चल देता। वह भ्रमण भी एक प्रकार की कसरत ही थी। एक घण्टे मे ४।। मील का भ्रमण खासी दौड के बराबर ही है। उन दिनो और उसके पश्चात् चिरकाल तक मै इतना शीघ्रगामी आधी की तरह चलता था कि मार्ग मे मिले मित्रो को देख तक न सकता था। ७।। बजे घर लौटकर विश्वनाथ बाबा के मन्दिर की ओर चल देता और उनके द्वार पर हाथ पैर धो फिर सब देव मूर्तियो के दर्शन मात्र करके लौटता। इस क्रिया को पूरी किये बिना भोजन नही करता था। फिर कुछ टहलते गप–शप उडती और नौ बजे से पहले ही सो जाता। मुझे भली प्रकार स्मरण है कि सन् १८७२ ई भर एक दिन भी रात को दिये के सामने पढने के लिये मै नही बैठा। यदि शिक्षा प्राप्ति के सारे समय मे मै इस नियम का पालन कर सकता तो आज मै ऐनको का गुलाम न बन जाता। गुरुकुल खोल कर कुछ काल मैने इस नियम को चलाया परन्तु जब शिक्षा के कार्य मे अंग्रेजी कालिजो के ग्रेजुएटो से काम लेना पडा तो न केवल रात की पढाई पर ही उन्होने बल दिया, प्रत्युत अंग्रेजी की लियाकत से पास हुये डाक्टरो की सहायता से देशी सरसो के तेल के स्थान मे बदबूदार मिट्टी का तेल जलवाना आरम्भ कर दिया। मेरी पहली अनुपस्थिति मे यह रिवाज बदला गया और जब लौट कर मैने नियम चलाना चाहता तो इन नई रोशनी वालो ने लोटे मे

नमक डालकर कह दिया कि बिना रात की पढाई के पाठ तैयार नही हो सकते। यह मैने स्वय अपनी आखे मिट्टी के तेल और अन्धी टाइप वाले अंग्रेजी उपन्यासो के अर्पण न कर दी होती तो शायद अपने ब्रह्मचारी पुत्रो को इस आपत्ति से बचा सकता।

पहले वर्ष के नियम पूर्वक जीवन का वर्णन करने से मेरा यह मतलब नही है कि इन बारह महीनो के अन्दर कोई भी नई लहर मेरे अन्दर नही उठी। पहिला काम मैने यह किया कि बनारसी गुण्डो का अनुकरण करते हुये शाम को अपनी कमर मे छुरी लगा कर बाहर जाता। माता पिता से शरीर मुझे सुडौल, और हाथ पैर खुले प्राप्त हुये थे। इसके साथ व्यायाम ने शरीर को गठित कर दिया था। परन्तु यह सब होते हुये भी मै ऐठने और बिना कारण किसी से उलझने का अभ्यासी न था बल्कि लज्जा का नमूना बना हुआ था। इस लज्जा का परिणाम ही मेरी दो निर्बलताए थी जिनका परिचय मेरी आगे की कहानी मे मिलेगा।

प्रथम तो यह है कि दूसरे के अत्याचा।. को बार-बार सह॰ करता चला जाता हू और जब सहनशीलता पराकाष्ठा को पहुच जाती है तब निवृत्ति की ओर ध्यान देता हू। इससे जहा पापी का पाप मे बह जाने का अवसर मिलता है क्योकि वह मेरी क्षमता को निर्बलता समझता है वहा मेरे व्यवहार मे अचानक परिवर्तन देख कर मेरे शत्रुओं की सख्या बढ जाती है।

दूसरी निर्बलता यह थी जो बहुत कुछ दूर हो चुकी है कि जहा पहिले से जानी हुई आपत्ति का सामना मै बड़े कठिन समयो मे भी शान्ति और बल से कर सकता वहा अकस्मात् किसी आपत्ति के सामने आने पर मुझे उसका हल न सूझता था।

आंखें खुलने लगीं

अब तक आवारगी का जीवन तो अधिक रहा किन्तु उसमे पाप का प्रत्यक्ष प्रवेश कभी नही हुआ। संसार को शुद्ध पवित्र ही मै समझता रहा। परन्तु अब कुछ घटनाए ऐसी हुई जिन्होने हृदय के उस शुद्ध भाव पर ठेस लगानी शुरू कर दी।

पिताजी का मुझ सबसे छोटे पुत्र के साथ जितना प्रेम था उतना ही विश्वास भी था। जिस कोठी मे उनका रुपया जमा था उसके मालिक को आज्ञा दे दी कि मेरे हस्ताक्षर पर जितना धन मै मागू दे दिया जाय। खर्च की कमी थी नही, इसलिए वसन्त पचमी की छुट्टी होते ही मै बलिया चला गया। वहा श्यामसिह और अजीतसिह तो थे ही, मुहल्ले के सिक्ख, खत्रियो ने हमारे मकान के पास ही एक बैठक मे मुजरा कराने की ठानी। मुजरे मे वेश्या बैठ कर गाती है नाचती नही। इन सबने मुझे निमन्त्रण दिया। मैने उत्तर मे कहा कि पिता जी सदा नाच तमाशो से जुदा रहते है, मै उनसे आज्ञा नही ले सकता। मुझे उन लोगो ने मुजरे मे शामिल होने की विधि बतलाई और मै पिता जी के सो जाने पर चुपके से उठ कर बाहर बैठक में आया और केसरी बाना पहिन कर मुजरे मे शरीक हो गया। पहिले तो शका और लज्जा ने आ घेरा परन्तु लौग समेत पान पर पान खाते हुये शका दूर हो गई। चार घण्टो मे मैने ५० से कम पान न खाये होगे। ३ बजे चुपके से फिर चारपाई पर लेट रहा। यह पहिला अविश्वास का पर्दा था जो मेरे और पिताजी के बीच मे पड गया। प्रात काल गला सूख कर काटा हो गया। अपने किये पर पश्चाताप भी हुआ परन्तु प्रायश्चित करके पिता जी से क्षमा मागने का साहस न हुआ।

बनारस लौटने पर एक और अनुभव हुआ। मेरे एक मामू ने पिता जी के साथ काशी मे आकर दुकान खोल ली थी। मै आदित्यवार की छुट्टी के दिन उनसे मिलने जाया करता था। मार्ग ठठेरी बाजार मे से था जहा एक गुण्डो का गोल बैठता था। वह कुछ आवाजे कसते थे जिनकी ओर मै ध्यान न देता और नीची आखे किये चला जाता। एक बार एक गुण्डा मेरे पीछे कुछ दूर तक बोलता गया तब मेरे कान खडे हुये। लौटते हुये उसने मेरे मोढे पर हाथ रखा ही था कि मैने पैर घुमा कर उसके मुह पर बडे जोर से थप्पड मारा। उसका सिर भिन्ना गया। यह कुछ टिर्राने को तैयार हुआ और मैने उसे बलपूर्वक धक्का दिया तो वह पत्थर के फर्श पर चित गिर पडा। मैने तो समझा था कि

बदमाश दल मुझ पर टूट पडेगा, परन्तु उसी दुष्ट पर सब हस दिये। भले मनुष्यो को तब हौसला हुआ कि उसे फटकारे और फिर मार्ग मे किसी ने भी मेरी ओर आख उठाकर नही देखा।

बनारस के गिरे हुए आचार की एक दूसरी घटना से, मुझे प्रत्यक्ष होने लगा। स १६३० की गर्मिया आ पहुची, मई का महीना था। मेरे घर से कालिज भवन डेढ दो मील दूर था। अन्य स्कूलो का समय बदलकर प्रात काल हो गया, परन्तु क्वीन्स कालेज और स्कूल दस बजे से चार बजे तक ही लगते रहे। कारण यह कि प्रत्येक कमरे तथा हाल के दोनो ओर खस की टट्टियो पर पानी छिडकवाया जाता था। प्रोफेसर और अध्यापक तो बग्घियो और पालकियो मे आते परतु विद्यार्थी स्कूल पहुचते हुए पसीना-पसीना हो जाते। तिस पर भी अध्यापक पढाते समय ऊघते ही रहते। मैने गर्मियो के लिए इक्का किराये पर कर लिया जो मुझे दस बजे पहुचा देता और चार बजे स्कूल से लौटा लाता। एक दिन मै स्कूल की ओर जा रहा था कि मैने एक विद्यार्थी के पीछे लगे बदमाश देखे। विद्यार्थी के साथ एक नौकर भी उसका बस्ता उठाये जा रहा था, परन्तु हौसला कहा जो पाच-छ गुण्डो का सामना कर सके। मैने लडके को इक्के पर बैठा लिया और गुण्डे मुह ताकते रह गए। शाम को भी उसे इक्के मे ले जाकर उसके घर पहुचा दिया। तब मालुम हुआ कि उसकी माता के साथ गगा में सकल्प पढ कर मेरी माता ने उसे धर्म की बहिन बनाया हुआ है। भाई मेरे पास पढने आने लगा। मैने उसे कसरत करना सिखाया, तब उसका शरीर दृढ होना शुरू हुआ और उसकी अनुचित लज्जा भी दूर होने लगी। स्कूल भी वह मेरे साथ जाने लगा। मेरी मौसी ने समझा कि बच्चे का बदमाशो से छुटकारा हो गया, परन्तु फिर मेरे घर पर ऐसे आदमियो का आना आरम्भ हुआ जिनके आने की आशा न थी। उसमे एक वेदपाठी पण्डित थे जिनकी लम्बी कहानी देकर पुस्तक को बढाना अभीष्ट नही। साराश यह है कि जब उस भाई के विषय मे उस पतित पण्डित के घृणित भाव का पता लगा तो मैने उसे अपने घर आने से रोक दिया, और मै गर्मी की छुट्टी

मे बलिया चला गया, तब वेदपाठी ने लडके को उसके सगे भाई के साथ इक्के पर जाते हुए गुण्डों द्वारा उठवा मगाना चाहा। गुण्डो ने उसे उठवा भी लिया, परन्तु पास ही एक सदाचारी थानेदार कुछ आदोलन कर रहे थे। उन्होने लडके को उन दुष्टो के पजे से छुडवा कर घर पहुचवाया और उसकी माता ने सदा के लिय उसकी पढाई बन्द कर दी। इस पिशाच वेदपाठी ने अपनी मनोरथसिद्धि मे मुझे बाधक देख कर मुझपर ही मेरे धर्म भाई के सम्बन्ध मे लाछन लगाना चाहा, जिस पर उसे उचित दण्ड भी मिला, परन्तु मुझे इस घटना से बडा सदमा पहुचा।

तीसरी घटना एक इन्ट्रेस के विद्यार्थी के सम्बन्ध मे थी। इसका नाम राम–लगन मिश्र था। मथुरा मास्टर की तरह यह लम्बा, दुबला और काला था और उन्ही के अनुकरण के वैसे ही कपडे पहिरता था। आयु २२ वर्ष की थी, तीन बार इन्ट्रेस मे अनुत्तीर्ण हुआ और दो बार परीक्षा मे न बैठा परन्तु स्कूल मे बराबर भरती रहा। इसके मारे भी विद्यार्थियो का नाक मे दम था। इसने मेरे स्थान मे पहुचकर कुछ कुचेष्टा का यत्न करना चाहा। मैने उसे फटकार कर बरामदे के नीचे ढकेल दिया। उसने गिडगिड़ाकर मिन्नत की कि मै उसकी पोल स्कूल मे न खोलू। मैने उसे फिर फटकार दिया और दूसरे दिन उसकी दुर्गति की सारी कहानी विद्यार्थियो को सुना दी। मिश्र जी तीसरे दिन ही नाम कटा कर घर को चल दिए। इन घटनाओ ने मेरी आखे खोल दी और तब मुऐ मालूम हुआ कि काशी पुरा सब प्रकार के व्यभिचार का नरक कुण्ड बनी हुई है। साथ ही वेदपाठी पण्डित के जीवन के देखकर सस्कृत–भाषा तथा विद्या से ही घृणा हो गई। छमाई परीक्षा की तैयारी मे सब कुद भूलकर मै फिर नियमपूर्वक ही काम करता रहा।

सन् 1873 का शेष भाग और परीक्षा में असफलता

वर्ष के मध्य भाग की छुट्टियो मे पिताजी को पत्र द्वारा सूचना देकर मै बलिया चल दिया। डुमराव स्टेशन का टिकट लिया

जहा से इक्के बलिया को जाते थे। 'बक्सर' के स्टेशन पर खडी होकर जब ट्रेन चल दी तो मेरे कान मे शब्द पडे। कोई पुकार रहा था – "बबुआ मुन्शीराम!" बबुआ मुन्शीराम!!" यह आदमी पिताजी ने भेजा था। उस प्रान्त मे वर्षा बहुत हुई थी और बलिया से डुमराव १८ वा २० मील तक पानी ही पानी फैला हुआ था। आदमी इसलिए भेजा था कि बक्सर मे मुझे नाव पर बैठाकर ले आवे। परन्तु रेल चल दी। डुमराव पहुचकर मालूम हुआ कि इक्का डेढ मील जाकर रुक जायगा और शेष मार्ग मे घुटनो से लेकर कमर तक पानी मे चलना पडेगा। मैने एक मजदूर को अपना बैग दिया और छोटी दरी भी उसी में डाल दी। फिर पैदल चल दिया। छ बजे प्रात काल डुमराव से प्रस्थान करके एक बजे दिन के गगा के किनारे पहुचा जहा एक व डेढ मील का पाट था और सामने के किनारे पर बलिया। मजदूर नाटा था। इसलिय जहा जल अधिक आता वहा उसके सिर पर थैला रखकर मै, आश्रय दे, उसे चलाता आया। मजदूर को आठ आने पर ठीक किया था। मजदूर को मजदूरी देने के लिए जब जेब मे हाथ डाला तो जेब कटा हुआ पाया जेब कतरने वाले ने छ पैसे ही छोडे थे। बलिया प्रान्त के दो कृषक दिखाई दिए। इन्स्पेक्टर साहब का पुत्र जानते ही उन्होने मुझे चार रुपये उधार दिये। मजदूर ने काम बहुत किया था। उसे बारह आना देकर बिदा किया और स्नान करके मानसिक पूजा की। फिर पेट पूजा का फिक्र हुआ। मार्ग मे एक भडभूजे की ही दुकान थी। जिसमे केवल आठ लड्डू मिले। रुपया दिखाया दुकानदार ने उत्तर दिया कि बाकी देने को उसके पास नही है। लड्डू पैसे का एक देता था। छ पैसे देकर उतने ही लड्डू खरीद लिए। लड्डू ऐसे दृढ थे कि दात उन्हे काट न सके। पत्थर पर तोड़कर मुह मे रक्खे तो गले के नीचे नही उतरते थे। अस्तु केवल थोडा पानी ही पी लिया। फिर बकरिया चरती दिखाई दी। चरवाहे से दुहाया तो मुश्किल से आधा सेर दूध निकला। कुछ गुड भी मिल गया। गुड खाकर दूध पिया। उस समय जो आनन्द आया वह कभी बडे महलो और गोपाल मन्दिर वाले छप्पन प्रकार के भोजन मे भी नही आया था।

कुछ देर पुस्तक पढने मे व्यतीत किया क्योकि कृषक अपने सत्तू डॉटकर सो गये थे। उनके जागने पर पार जाने की चिन्ता हुई। घाट पर तीन बडी किश्तिया लगर डाले पडी थी। परन्तु एक के साथ ही छोटी डोगी थी। मै दस रुपये तक किराया देने को राजी हुआ परन्तु किसी मल्लाह ने भी हा न की। मै निराश होकर उस रेतीले मैदान मे ही रात काटने की तैयारी कर ही रहा था कि छनछन करता हुआ डाक वाला आ पहुचा। उसकी छोटी सी डोगी और खेने वाला वह अकेला ही रह गया क्योकि चलाने वाले मल्लाह को पीछे छोड दिया मैने अपने साथ दोनो जमीदार भी बैठा लिए और उनमें से एक को चप्पे पर लगा दिया। मै ऊपर के तख्ते पर डाक के थैले के साथ बैठ गया और शेष कृषको को नीचे बिठा लिया। जब तक ढोगी उथले खडे पानी पर चलती रही तब तक सब को आनन्द आता रहा, परन्तु तेज धारा मे जाते ही डोगी डगमगाने लगी तो जमीदारो के होश उड गए। चप्पेवाला चक्कर खाकर गिरा। मैने चप्पा सम्भाल कर डोगी ठीक की और डाकिए को कहा कि पतवार मेरे हवाले कर दे क्योकि चप्पा पर शायद मै थक जाऊ। उसको कुछ सन्देह था परन्तु मैने उसे जबरदस्ती चप्पे की ओर ढकेलकर पतवार अपने हाथ मे ली। अब माझी ने समझ लिया था कि डोगी डूबी, परन्तु उसे बडा आश्चर्य हुआ जब मै ३० व ४० फीट ऊची लहरो मे से उस छोटी डोगी को साफ निकाल ले गया। परन्तु मै छोटी नावो मे सैर करते हुए बनारस के निपुण माझियो से पतवार का सम्भालना सीखे हुए था। आठ बजे रात को हम पार किनारे पर लगे। मेरे कृपालु कृषको के भी होश ठिकाने हुए और मैने पिताजी की सेवा मे पहुचकर प्रणाम किया।

इस बार की छुट्टियो में शाम को नित्य घोडे की सवारी होती और हर तीसरे चौथे दिन शिकार की भेट होती। इसी मे मैने क्षत्रियत्व समझ रखा था क्योकि दशहरे पर पिताजी हथियारो की पूजा, श्रद्धा से किया करते थे। यह नही कि मै सिह वा वाघ व जगली सूअर को मारकर मनुष्य की जान और उनकी खेती की रक्षा करता। मैं केवल निरपराध पक्षियो को धोखे से गोली

छरे का शिकार बनाकर ही तीसमारखाओ मे नाम लिखवाना चाहता था।

छुट्टियो की समाप्ति पर मै काशी लौटा और परीक्षा की तैयारी मे लग गया उस समय यह शिक्षा विभाग की ही परीक्षा थी और इसमे अनुत्तीर्ण होने वाला इन्ट्रेन्स श्री श्रेणी मे उन्नत नही किया जा सकता था।

परीक्षा के लिए मेरी तैयारी पूरी थी। नवबर के अन्तिम सप्ताह मे सोमवार को परीक्षा का आरम्भ होकर बृहस्पतिवार को समाप्त होने वाला था और शुक्रवार को मै अपनी जन्मभूमि "तलवन जिला जालन्धर" के लिए प्रस्थान करने वाला था। पिताजी की ऐसी ही आज्ञा आई। लिखा था कि मेरे नाते का शकुन पल्ले डाला जायगा, इसलिए मुझे माताजी के पास पहुच जाना चाहिए। मुझसे दो वर्ष बडे भाई का विवाह द्विरागमन तिरागमन सब कुछ हो चुका था और मै अभी कुमार ही था। क्या मेरे पिता ब्रह्मचर्य की महिमा का अनुभव करने लग गए थे? नही, कारण यह था कि जिस देवी कन्या के साथ बिना देखे भाले मेरा नाता किया गया था उसका दैवयोग से देहान्त हो गया। यह समाचार सुनते ही तीन वर्ष पहले जालन्धर के प्रसिद्ध साहूकार और तहसीलदार राय शालिग्राम ने अपनी लडकी के लिए मुझे रुकवा लिया था। रुकवाने से मतलब था कि और कही नाता न हो। और तो शायद ब्रह्मचर्य के नियमो को उन्हे पता न था परन्तु राय शालिग्राम वर–वधु की आयु मे पाच सात वर्ष का अन्तर आवश्यक समझते थे क्योकि ऐसा न होने की अवस्था का बुरा परिणाम वह कई परिवारो मे देख चुके थे। अस्तु मै न विवाह का असली उद्देश्य जानता और न नाते के अर्थ समझता था, मुझे यदि उत्सुकता थी तो माता जी से मिलने की।

सोमवार को अग्रेजी, मगल को गणित, बुधवार को इतिहास भूगोल के प्रश्न पत्रो के उत्तर रीति से लिख आया था। बृहस्पतिवार को फारसी का पहला पर्चा ही ऐसा किया था कि वही मेरे अनुर्तीण होने के लिए पर्याप्त था, परन्तु दूसरा पर्चा हाथ मे आते

ही सुपरिन्टेन्डेण्ट ने सुना दिया कि अग्रेजी के प्रश्न पत्र पहले निकल चुके है इसलिए उस विषय की परीक्षा फिर आगामी सोमवार को होगी। फारसी का दूसरा पर्चा फिर बहुत अच्छा किया और घर आकर विचार किया कि देश को तार देकर परीक्षा के लिए ठहर जाऊ। परन्तु तलवन मे तार घर था नही और माताजी का प्रेम मुझे खीच रहा था, मैं शुक्रवार की शाम को ही चल दिया और आदित्यवार को प्रात' फिल्लौर रेलवे स्टेशन से उतर उसी दिन मध्यान्होत्तर तलवन पहुचकर माताजी से आशीर्वाद प्राप्त किया।

पहली स्वतन्त्र यात्रा

मार्ग मे यू तो बहुत घटनाए देखी, परन्तु उनमे से दो का वर्णन आवश्यक है। अनुभवशून्य होने के कारण गाजियाबाद के स्थान मे मैने इलाहाबाद का टिकिट लिया। न जाने कैसे यह ख्याल दिल मे बैठ गया कि वहा पहुच कर गाडी बदलेगी। इलाहाबाद ट्रेन से उतर कर मुसाफिरखाने मे आया। बहुतेरा यत्न किया परन्तु उस गाडी का टिकट न मिला। सिपाही ने अवश्य कहा कि अठन्नी दो तो टिकट ला दू, परन्तु उन दिनो उच्चकोटि की अग्रेजी पुस्तके पढकर रिश्वत देना अधर्म जचता था, दो घन्टे पीछे, दूसरी गाडी आती थी। टिकट बटने लगा। मुझे समझाया गया था कि यात्रा मे किसी का विश्वास न करना। मैने दरी कन्धे पर डाली थैला बाए हाथ मे लिया हुआ था इसलिए किसी कपडे की जरूरत न पडी। कानपुर पहुचते ही सूर्य भगवान के दर्शन हुए कमरा भी खाली हो गया। तब पता लगा कि दरी उड गई। मैने बैग खोल कर नई फर्रुखाबादी फर्द निकाली, जिसमे अभी रुई न पडी थी, और उसे बिछा कर आराम से बैठ गया। शाम को गाजियाबाद पहुचा वहा से फिर नया टिकट लेकर एक लम्बे कमरे मे बैठ गया। कुछ दूर तक भीड के कारण जाडा न लगा, परन्तु जब सहारनपुर सब सवारिया उतर गई और मेरे सिवा एक ही अन्य यात्री रह गया तो गुलाबी जाडा विदा हुआ और ठण्डक जोर से लगी। अब भला फर्रुखाबादी

फर्द से क्या काम चलता। जो नया गवर्नेट का रुईदार अगरखा शकुन के समय पहिरने को दिया गया था उसे पहिन कर रात काटी। इससे भविष्य की यात्राओ के लिए मुझे बडा अनुभव मिला।

दूसरी घटना ने मुझे आगे के लिये अधिक सावधान होना सिखलाया। मुझे लिखा गया था कि फिल्लौर पहुचने पर बाबा पजाब दास के यहा उतरू क्योकि सवारी आदमी समेत वहा मौजूद होगी। उसकी धर्मशाला स्टेशन के पास ही थी। मै पजाब दास का नाम तो भूल गया, कुली को कहा कि पजाबी बाबा के यहा ले चलो। वह मुझे एक दूसरे बुर्ज वाले बाबा के पास ले गया। वह तलबन के किसी और धनाढ्य के लडके की प्रतीक्षा कर रहे थे। एक दूसरे ने पूछा कुछ नही इसलिये भेद न खुला। विवाहो का जोर था, इसलिये बैल गाडी टट्टू आदि तो क्या गदहा भी सवारी के लिये न मिला। मजूदर तो कही आस–पास थे नही। मक्की की रोटी और सरसो के साग के साथ मक्खन ने आनन्दित कर दिया और छाछ ने उस पर और भी सुहागा फेर दिया। मेरी प्रेरणा पर बाबा जी साथ जाने को तैयार हो गये, क्योकि अपने जिस यजमान का लडका मुझे समझे थे उससे बडी भेट की आशा थी। हम दोनो ने अपनी–अपनी बारी ठहरा ली। दस मिनट थैला बाबा जी के कन्धे पर रहता और दस मिनट मेरे हाथ मे। कुछ दूर जाकर बाबाजी थक गये तब उन्हे दम दिलाने के लिये कुछ दूर मै ही ले गया। फिर मेरे डण्डे मे थैला लटकाया गया और दोनो ओर हम दोनो लगे। गांव समीप आया। मैने एक कुए पर अपनी बिगडी हुई शान सुधारी और बैग बाबाजी के सुपुर्द करके सीधा अपने घर जा पहुचा। माता जी ने मुह चूम कर बलाए ली, बाबाजी बैग अपने यजमान के घर ले गये जहा से बैग समेत उनको हमारे यहा लाया गया और दूसरे दिन शकुन के समय जहा बाबा पजाब दास को चार रुपये और मिठाई मिली वहा इन बाबा जी को भी भेट मे उतना ही सामान दिया। 'अन्त भला सो ही भला' यह ठीक है परन्तु यदि भूल–भुलइया मे दोनो न फस जाते तो मुझे उस दिन तलवन पहुचना कठिन हो जाता।

शकुन पल्ले डाला गया माता जी के पास पन्द्रह दिन रह कर मै पिताजी के पास चला गया और वहा से बनारस पहुंचा।

बनारस स्कूल में दूसरा वर्ष और आवारगी की दूसरी लड़ाई

' अग्रेजी की सशोधित परीक्षा मे मै शामिल ही नही हुआ। उस विषय मे शून्य मिलना ही था, इस लिए उन्नति न मिली और मुझे दूसरी श्रेणी मे ही रहना पडा। मेरे बडे भाई कही अब चौथी जमात से निकले थे। उन्हे भी पिता जी ने बनारस भेज दिया। मुझसे दो बरस बडे होते हुये वह मुझ से निचले दर्जे मे कैसे प्रविष्ट होते। पाच छ दिन तो उन्होने सैर मे व्यतीत किए। एक दिन आकर उन्होने बतलाया कि वह लण्डन मिशन स्कूल मे दाखिल हो गये है। वह स्कूल प्रात काल लगता था जब मेरे स्कूल जाने का समय होता उस समय भाई साहब लौट आते। बारह दिन तो नियम पूर्वक स्कूल गया। फिर पुराने लगभग सब सहपाठियो के ऊचे दर्जे मे चले जाने के कारण उदासी छा गई। जिन पुस्तको को पढ चुका था उनकी घर मे तैयारी की आवश्यकता न थी। नये नीचे दर्जे से आये लडको के साथ बैठने मे भी कुछ लज्जा प्रतीत होने लगी। तब मैने कंबाडियो की दुकानो पर चक्कर काटने शुरू किए। वहा पुराने अग्रेजी उपन्यासो की भरमार थी। उपन्यास पढ कर और भी मन डावाडोल हुआ। भाई साहब ने मुझे गपशप मे फसाना शुरू किया। एक दिन स्कूल जाने मे देर हो गई। जुर्माना लिखा गया। दूसरे और तीसरे दिन सर्वथा अनुपस्थित रहा। चौथे दिन गया तो सारा पिछला जुर्माना दाखिल करने का हुकुम हुआ। मैने जाना ही बन्द कर दिया और मेरा नाम कट गया, परन्तु न तो इस घटना की पिता जी को सूचना दी और न फिर स्कूल मे दाखिल होने का यत्न किया। मई मास मे पिता जी को मालूम हुआ कि भाई साहब किसी स्कूल मे दाखिल नही हुए। केवल सैर सपाटे मे ही समय और धन का व्यर्थ व्यय कर रहे है। उनकी भविष्य की पढाई से निराश होकर पिता जी ने उन्हे आज्ञा भेजी कि अपनी

धर्मपत्नी को बिदा करा लावे। भला जिनके दुरागमन क्या तिरागमन को भी ३ वर्ष से अधिक हो चुके हों उनसे स्कूली पढाई मे लगने की आशा कैसे सार्थक हो सकती है। मैने बहुत से उपन्यास, जीवन चरित्र और यात्रा के इतिहास खरीदे और छुट्टी के दिन समीप आने पर पिताजी के पास चला गया। वहा मै तो अपने आप को उपन्यासो का नायक कल्पना करके हवाई किले बनाता रहा, परन्तु पिता जी ने यह समझा कि बरखुरदार परीक्षा की तैयारी मे दृढता से लगा हुआ है। अपनी असाधारण आखो की ज्योति पर अभिमान करके मैने पूर्णिमा के दो तीन दिन पहले और दो तीन दिन पीछे चन्द्रमा के शीतल प्रकाश मे अन्धी टाइप के उपन्यास पढने का लगाया। गर्मियो के दिनो मे रात को दिये के प्रकाश पर पतग बलि चढते है और गर्मी भी सताती है। दोनो से बचने का यह इलाज था। यह अभ्यास १० वर्ष तक जारी रहा जिस से दर्शन शक्ति को हानि पहुची।

स्कूल खुलने के दिनो मे मै फिर बनारस पहुचा। लौटते ही विचार किया कि दूसरे स्कूल मे प्रविष्ट होकर द्वितीय कक्षा की परीक्षा दू। इसी उधेडबुन मे अक्टूबर व्यतीत हुआ और दशहरा दिवाली भी मनाई गई। इतने मे पिताजी, कमिश्नर को मिलने आये और मेरे पास उतरे। दूसरे दिन १ बजे कमिश्नर की कोठी पर मिलने जाने वाले थे। भोजन के पश्चात् पिताजी ने पूछा कि स्कूल कब जाओगे। आज तक झूठे अमल करते हुये भी पिताजी से असत्य भाषण नही किया था। उस समय भी सारी सच्ची कहानी सुनाने का विचार हुआ, परन्तु लज्जा ने रोक दिया और मैने कह दिया कि स्कूल मे छुट्टी है। पिताजी एक बजे चले गये। लौटते हुये उनको मेरी कक्षा के लडके मिले, जिन्होने मेरे नाम कट जाने का समाचार उन्हे सुना दिया। पिताजी को कितना शोक हुआ होगा, उसका समझना मेरे लिए मुश्किल न रहा, जब उन्होने ठन्डी सास भरके कहा – "बेटा ! मै तुम पर इतना विश्वास करू और तुम मेरा ऐसा अविश्वास करो। यदि दिल नही लगता था तो मुझे क्यो न लिख दिया !" यदि मुझे कोई दण्ड मिलता तो शायद मेरा दिल पत्थर हो जाता। परन्तु

पिताजी का प्रेम एक तरफ और मेरी अयोग्यता और विश्वासघात दूसरी ओर। दोनो की तुलना ने मुझे आठ–आठ आसू रुलाया। पिताजी ने मुझे दिलासा देकर अलग तो कर दिया परन्तु मुझे शान्ति कहा थी मुझे ससार अन्धकारमय दीखने लगा। आसू तो बन्द हो गये परन्तु आखे पथरा गई, न भूख थी और न प्यास। पिताजी ने बडी बुद्धिमता से काम लिया और मुझे बिलकुल न छेडा। मेरे मन मे विचित्र उतराव चढाव हो रहे थे। क्या मुझ पापी के लिए अब परमेश्वर की ठण्डी पवन चलेगी ? क्या जल मुझे शीतलता प्रदान करेगा ? क्या प्रकाश मुझे मार्ग दिखयेगा ?" उसी उधेडबुन मे था कि परमात्मा की अपार दया रूपी नियम ने मुझे सुला दिया। प्रात काल जब नीद खुली तो चिडियो को उसी तरह चहचहाते सुना, गंगा मे गोता लगाने पर मन शान्त हुआ और तब झारी डलिया लेकर देवपूजा के लिए चला तो शीतल वायु के झकोलो ने हृदय फिर प्रफुल्लित कर दिया। विश्वनाथ की परिक्रमा से लौट पिताजी को प्रणाम किया। वह मुझे मथुरा मास्टर के पास ले गए। उन्होने नाममात्र परीक्षा लेकर फिर मुझे दूसरे दर्जे मे दाखिल कर लिया।

परीक्षा मे केवल एक महीना बाकी था। मैने गणित 'भूगोल' इतिहास भुला दिया था। मेरे कृपालु मौलवी साहब ने गले पड कर फारसी की तैयारी तो करा दी। परन्तु चित्त जो चचल हो चुका था, उसने शेष विषयो की तैयारी न करने दी। केवल अग्रेजी और फारसी की तैयारी से कुछ हो भी न सकता था। ऐसी अवस्था मे अनुत्तीर्ण होना निश्चित था, इसलिए परीक्षा मे बैठा ही नही और बनारस कालीजिएट स्कूल से नाम कटवा कर अलग हो गया।

रेवड़ी तालाब के स्कूल में एक वर्ष का स्वतन्त्र जीवन (1932 संवत्)

अब भरती होने के लिए नये स्कूल की तलाश हुई। मेरी ही कोटि के तीन और विद्यार्थी या यो कहो कि सुखार्थी – भी इसी ढूढ मे लगे हुए थे। लण्डन मिशन 'ईसाई' स्कूल तो न जाने

क्यो, हमारी नजरो मे जचा ही नही। जैनारायण कालिज पहुचकर हमारी मनोकामना सिद्ध होती प्रतीत हुई। इन चारो बिगड़े दिलो का मै ही नेता था और मुझ उपन्यासो के कल्पित नायक – को आकर्षित करने के लिए वहा सब सामान मौजूद थे। इस कालिज की बेतरतीब खुली इमारत, इसके पास ही जगल का रास्ता और सडक की दूसरी ओर पूरानी इमारते मुझे स्वभावत अपनी ओर खीच रही थी। सबसे बढ़कर यह कि कालिजी कहलाते हुए भी हम सबसे उच्चश्रेणी के विद्यार्थी समझे जा सकते थे। इस सस्था का नाम तो कालिज था, परन्तु कालिज की सब श्रेणिया टूट चुकी थी और सबसे ऊची कक्षा एन्ट्रेस की थी। पादरी हबर्ड इसके प्रिन्सिपल थे जो केवल इन्ट्रेस को ही इगलिश साहित्य पढाया करते थे। यह सस्था तो ईसाइयो के अधिकार मे थी, परन्तु कालिज की कोठी अहाते सहित बंगाली राजा जय नारायण घोशाल ने दान मे दी थी इसलिए कालिज के साथ उनका नाम चला आता था। स्कूल के चालक तो लकीर पीटते हुए इसे कालिज ही कहते चले जा रहे थे, परन्तु सर्व साधारण ने इसका गुण–कर्मानुसार नामकरण सस्कार कर छोडा था। इमारत के समीप जगल की ओर एक तालाब था जिसका नाम था 'रेवडी तालाब'। जनसाधारण ने इसलिए इसका नाम रक्खा था 'रेवडी तालाब का स्कूल' और कोई–कोई सक्षेप से 'रेवडी स्कूल' कहते थे। न तो स्कूल में ही रेवडी बटती थी और न तालाब से ही निकलती थी। परन्तु नाम यही था।

अच्छा, तो हम पौष सवत् १६३२ के आरम्भ मे 'रेवड़ी स्कूल' मे प्रविष्ट हो गए। एन्ट्रेन्स की कक्षा मे लगभग तीस विद्यार्थी थे। प्रिन्सिपल हबर्ड ने दो तीन दिन पीछे हम सबकी अग्रेजी भाषा मे परीक्षा ली। हम चारो बिगडे दिलो की अग्रेजी मे योग्यता सबसे बढ़कर निकली। यदि गणितादि मे भी परीक्षा होती तो शायद हममे से एक भी इस कक्षा मे न रहता। परन्तु प्रिसिपल हबर्ड का सम्बन्ध अग्रेजी के साथ ही था। हमारे लग्गे के पाच विद्यार्थी ही और निकले। इसलिये एन्ट्रेस की कक्षा के दो विभाग किये। 'क' विभाग मे हबर्ड साहब चुने हुए ६ और शेष सब 'ख' विभाग मे।

अब हम चारो को एक वर्ष के लिए रेवडी स्कूल की मशीन के पूर्जे समझ लीजिए। इससे बढकर विश्रामघाट मुझ आवारागर्द को इन दिनों कहा मिल सकता था। प्रिंसिपल साहब हमे नित्य अंग्रेजी पढाते थे जिसमे कुछ भी परिश्रम नही करना पडता था। एक मास पीछे इनके स्थानापन्न होकर पादरी ल्यूपोस्ट आये, अर्थात बूढे शात पादरी हबर्ड का स्थान जवान कट्टर पादरी ने लिया। वह अधिकतर अपने सम्प्रदाय के प्रचार मे लगे रहते और हमारी कक्षा को सप्ताह मे केवल दो बार पाठ पढाते हुए शेष दिन के लिए उस अन्तर मे स्वतन्त्र छोड देते मुझसे वह अधिक प्रसन्न थे क्योंकि मे उनके बतलाए प्रमाणो को अपने विस्तृत स्वाध्याय के कारण शीघ्र समझ लेता था। हमारे गणित के अध्यापक काली बाबू अपने विषय के योग्य ग्रेजुएट थे परन्तु इनकी आखे लज्जा से नीचे रहती। अपने शिष्यो से कभी लज्जा के मारे कुछ न पूछते और इसलिए हमारी उन्नति व अवनति का उन्हे कुछ भी पता न लगता। क्लास मे से कौन उठ गया, कौन आया और कितने उपस्थित है – इसका काली बाबू को ज्ञान न होता। इतिहास और भूगोल की तैयारी प्रिंसिपल साहब ने हम पर छोड दी थी। कुछ परिश्रम की आवश्यकता तब होती यदि द्वितीय भाषा फारसी लेता।

मैने इसका भी झगडा मिटा दिया और उर्दू को द्वितीय भाषा स्थिर किया। उर्दू के उस्ताद एक शौकीन हकीम साहब थे जिनकी बजादारी की एक दुनिया मे धूम थी। इलाज न जाने कोई उनसे कराता था या नही और उससे उनको क्या मासिक आय होती थी – इसका किसी को ज्ञान न था स्कूल से अलबत्ता उनको ४० रू० मासिक मिलते थे। आप हसोड तो थे ही कुछ शेर शायरी की टाग भी तोडा करते थे। हकीम साहब थे आदमी को समझने वाले, इसलिए मुझसे पढने पढाने की बात तो छेडते न थे, सारा घण्टा मनोरजक बातचीत मे ही व्यतीत होता यदि मै किसी अन्तर मे कभी अनुपस्थित न हुआ तो वह हकीम साहब का घण्टा था।

इतना स्वतन्त्र समय जो हमारे पास था उसका व्यय हम कैसे करते थे ? प्रथम तो सारी इमारत का दो तीन बार चक्कर काटकर किसी न किसी अध्यापक को तग करते और अधिक समय मिलता तो पास के जगल का पत्ता पत्ता छान मारते। जब हम जगल की सैर को जाते तो मास्टरो को बडी प्रसन्नता होती, क्योकि हम लोगो की अनुपस्थिति के समय उनके पढाई के काम मे विघ्न न पडता ऐसी अवस्था मे स्कूल से अनुपस्थित होने की जरूरत ही क्या थी ? स्वतन्त्रता सीमा उल्लघन कर चुकी थी, परन्तु एक और घटना इस समय हुई जिसने स्वछन्दता को पराकाष्ठा तक पहुचा दिया।

अन्धविश्वास के जीवन की समाप्ति

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना· स्वय धीरा पण्डितम्मन्यमानात।
जंघन्याना परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ।।

जहा प्रात काल गगास्नान से पहिले कुश्ती का फिर प्रारम्भ हो गया था और डलिया झारी लेकर विश्वनाथादि की पूजा अर्जुन करके जलपान करना नित्य कर्म विधि का एक अग बनाया गया था वहा सायकाल भ्रमण के पीछे ७ बजे विश्वनाथादि के दर्शन नित्य करने के पीछे मै रात्रि का ब्यालू करता था। पौष १६३२ के अन्त मे एक भ्रमण करने ऐसी ओर गया जहा से मेरा निवास स्थान समीप न था। दूर चले जाने से लौटना ७।। बजे हुआ। कुछ आराम करके आठ बजे दर्शनो के लिए चला। विश्वनाथ का मन्दिर एक ही गली मे है जिसके दोनो ओर पुलिस का पहरा रहता था। मै विश्वनाथ की ओर से फाटक पर पहुचा तो पहरे वालो ने मुझे रोक दिया। पूछने पर पता लगा कि रीवा की रानी दर्शन कर रही है, उनके चले जाने पर द्वार खुलेगा। मुझे कुछ खिसियाना सा देख पुलिस मैन ने, जो मेरे पिता की अर्दली मे रह चुका था, मोढा बैठने को रख दिया। मै एक पल को बैठ तो गया परन्तु विचार कुछ उलट गए। इस रूकावट से मेरे दिल पर ऐसी ठेस लगी जिसका वर्णन लेखनी

नही कर सकती। जी घबडा गया और मै उठा और मै उलटा चल दिया। पहरे वाले ने बहुत पुकारा परन्तु मैंने घर आकर ही दम लिया। आहट पाकर भृत्य भोजन लाया तो क्या देखता है कि मै, कपडे पहिरे ही बिस्तरे पर लेट रहा हू। कह दिया कि भोजन नही करूगा। नौकर मेरे आग्रह करने पर स्वय खाना खाकर सो गया।

मुझे वह रात जागते बीती। मन की विचित्र व्याकुल दशा थी। प्रश्न पर प्रश्न उठते थे – क्या सचमुच वह जगत् स्वामी का दरबार है जिससे एक रानी उसके भक्तो को रोक सकती है ? क्या यह मूर्ति विश्वनाथ हो सकती है या वे देवता कहला सकते है जिनके अन्दर ऐसा पक्षपात हो ? परन्तु मूर्ति को देवता किसने बनाया ? नित्य मेरे सामने सगतराश ही तो मूर्तिया बनाते हैं·· ·" कभी व्याकुल होकर दस मिनट टहलता फिर बैठ जाता। फिर दूसरी ओर प्रश्नावली की लहर पर लहर उठी – "जब सासारिक व्यवहारो मे पक्षपात है तो देवताओ के दरबार मे उसका दखल क्यो न हो । क्या मनुष्यो ने भी पक्षपात देवताओ से ही सीखा ? क्या मेरे स्वछन्द जीवन ने तो मुझे अविश्वासी नही बना दिया ?" गोस्वामी तुलसीदास के दोहे और चौपाइया याद आने लगीं। जब नीचे लिखे दोहे का स्मरण हुआ तो अश्रुधारा बह निकली –

बार बार मागहू, हर्ष देहु सिय रग।
पद सरोज अनुपायनी, भक्ति सदा सतसग।

एक घण्टे तक आंसुओ का तार बधा रहा, अपने इष्टदेव महावीर से प्रकाश के लिये प्रार्थना की। परन्तु उस समय बालयति के ध्यान से भी कुछ न हुआ। अन्त को रोना-धोना बन्द हुआ और प्राचीन यूनान रोम की मूर्ति पूजा के इतिहास पर मानसिक दृष्टि दौड गई। पहिले जो लेख मूर्ति पूजा मे रूचि दिलाते थे, उस पर नया प्रकाश पडने लगा। हिन्दू मूर्ति पूजा के विरूद्ध ईसाईयो की जो दलीले पढी थी उन्होने मुझे हिन्दू

देवमाला से बेगाना बना दिया और आधी रात पीछे यह निश्चय करके सो गया कि अपने प्रिंसिपल पादरी ल्यूपोल्ट से सशय निवृत्त करूगा।

दूसरे दिन पादरी ल्यूपोल्ट को मैने जा घेरा। वह बहुत प्रसन्न हुए और मुझे अपनी कलीसिया मे लाने के लिये बहुत मगजपच्ची की। मेरे तीन दिनो के प्रश्नो से ही पादरी साहब घबरा गए और मुझे निराशाजनक मामला समझकर उन्होने छोड दिया। नास्तिकपन से मेरा चित्त अभी तक घबराता था। मुझ से अग्रेजी पढने बनारस सस्कृत कालेज के एक विद्यार्थी आया करते थे। वह दर्शनो का अभ्यास करते और योग्य विद्वान थे। अग्रेजी इसलिए पढते थे कि उसके कारण उनकी छात्रवृत्ति तिगुना हो सकती थी। इन्होने मुझे लधुकौमुदी पढानी आरम्भ कर दी। व्याकरण मे भी इनकी अच्छी गति थी। उनसे भी एक दिन स्वाभाविक बातचीत हुई। उनकी युक्तियों ने मुझे शान्त तो न किया, उल्टी सस्कृत से ही मुझे घृणा हो गई। मैने पण्डित विद्याधर से कह दिया कि सस्कृत मे कोई अकल की बात ही नही और इसलिए अब मै कौमुदी न पढूगा। परन्तु पण्डित जी मझ से सरेस की तरह चिपक गए और थोडा बहुत व्याकरण का बोध कराके ही मुझे छोडा। अस्तु!

यह तो आगे की बात है। साराश यह कि हिन्दू मूर्ति पूजा से मुझे घृणा हो गई, प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयो की दलीले पोच मालूम हुई, हिन्दू शास्त्रज्ञ मेरी शान्ति न कर सके, इसलिये कुश्ती और गगास्नान का नियम स्थिर रखते हुए भी दर्श स्पर्श से मुक्ति मिल गई। परन्तु अश्रद्धा की ओर सर्वथा जाने में झिझक बाकी थी।

एक दिन सिकरौर छावनी की ओर घूमने जाते हुए एक रोमन कैथेलिक पादरी मिल गये। बातचीत करते हुए उन्हे प्रोटेस्टेन्ट पादरी ल्यूपोल्ट की अपेक्षा अधिक विनयशील, शात और सहिष्णु पाया। उन्होने मुझे विश्वास दिलाया कि यदि खृष्टीयत का तत्व जानना हो तो कैथेलिक कलीसिया के सिद्धान्तो

को समझना चाहिए। उनके चर्च मे मेरा आना जाना शुरू हुआ। उनकी धार्मिक संस्थाओ तथा प्रार्थना सभाओ का मुझ पर विशेष प्रभाव पडा। मेरे श्रद्धा सम्पन्न चित्त पर फादर लीफू के आचार व्यवहार का भी असर हुआ। मै यहा तक उन पर मोहित हुआ कि रोमन कैथेलिक विधि से बप्तिस्मा लेने को तैयार हो गया मेरे एक ही मित्र को मेरे निश्चय का पता था परन्तु उन्होने मुझे रोकने की कोशिश ही न की। फाल्गुन १६३२ सवत् मे यहा तक नौबत पहुची कि बप्तिस्मा लेने की तिथि नियत करने के लिये मै एक शाम को फादर लीफ की ओर गया। स्वाध्याय के कमरे मे वह थे नही, मैने अन्दर के कमरे का पर्दा उठाया। पादरी साहब तो वहा थे नही परन्तु एक दूसरे पादरी और एक ब्रह्मचर्य वस्त्र-धारिणी को ऐसी घृणित दशा मे पाया कि मै उल्टे पांव लौट गया और फिर उधर जाने का नाम न लिया।

मुसलमानी मत की ओर से पहले ही उदासीन था क्योकि पिता जी से जो उन लोगो के मुकदमे हुये उनमे उनके आचार व्यवहार कुछ उच्च न देखे गये। मुझे माला और तसबी दोनो से ही ओर "ईसाई तसबी" तीनो से ही घृणा हो गई और कबीर भक्त का गीत कण्ठ हो गया जिसे मै स्वर सहित गाया करता –

आउगा न जाउगा, मरूगा न जीउंगा।
गुरु के सबद प्याला हरि रस पीउगा।।

कोई जावे मक्के लै कोई जावे कासी।
देखो रे लोको दोहू गल-फासी।।

कोई फेरे माला लै कोई फेरे तसबी।
देखो रे लोको ये दोनो ही कसबी।।

यह पूजे मढिया लै यह पूजे गौरा।
देखो रे लोको ये लुट लई चोरां।।

कहत कबीर सुनोरी लोई।
हम नाहि किसी के हमरा न कोई।।

मजहब सम्प्रदाय से मेरा विश्वास उठ गया। मेरा मत यह हुआ कि मजहब एक ढकोसला है जो चालाक बुद्धिमानो ने आख के अन्धो और गाठ के पूरो को फासने के लिये गढ छोडा है मै अपने आपको पक्का नास्तिक समझ कर अपने स्वभाव के अनुसार उस पर भी वेग से बह निकला।

पूजा, दर्शन का अकुश दूर हो चुका था, अब श्रद्धाहीन होने के कारण गगा स्नानो पर क्यो निष्ठा रहनी चाहिये थी परन्तु नही जो स्वभाव बन चुका था उसका प्रभाव कैसे दूर होता ? प्रात काल का उठना, कसरत कुश्ती और गगा स्नान बराबर जारी रहे।

माता जी की प्रेम भरी गोद से सदा का बिछोड़ा

शायद वैशाख मास मे माता जी तलवन से बलिया जाती हुई मेरे पास ठहरी थी। उस समय उनके सिर मे एक भयकर फोडा था। ज्येष्ठ के मध्य मे छुट्टी होते ही मै बलिया पहुचा और माता जी के दर्शन किये। बलिया उपनगर को गगा काट रही थी हमारा पुराना मकान गगा जी की भेट हो चुका था और नया मकान नगर के अन्तिम सिरे पर किराये पर लिया था उसके साथ टकराकर गगा बह रही थी। इन दिनो माताजी ने मेरे साथ अत्यन्त प्रेम का परिचय दिया। अधिक समय मुझे उन्ही के पास रहना पडता था। फोडे मे फिर से पीप भर आई थी और उन्हे अपने बचने की आशा नही रही थी। चलते समय मुझे उस निर्बल अवस्था मे ही गोद मे बिठाकर चूम लिया, आशीर्वाद पूर्वक सकुन पल्ले मे डाल मुझे विदा किया। मेरे आसू निकल पडे और मै बडा उदास बनारस लौटा।

परन्तु युवको को उदासी देर तक नही सताती। मै माता जी की बीमारी को भूल गया और रेवडी स्कूल के कमरे और आंगन फिर हमारी खिलखिलाहट से गूजने लगे। मास्टरो का फिर नाक मे दम होने लगा। अब तुलसीकृत रामायण तो तह करके रख दी

गई और उर्दू साहित्य मे प्रवेश होने लगा। उर्दू शाहनामा कई बार समाप्त किया। फिसाना ए अजायब की भी सैर की, हातिमताई की कहानी और उर्दू शायरो के कलामो मे गोते लगने लगे। कविता सम्मेलनो, मुशायरो मे भी जाने लगे।

श्रावण मास के अन्तिम सप्ताह मे प्रसिद्ध भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के यहां एक दक्षिणी मार्तण्ड नामी पडित आये। वह शतावधानी थे। एक ओर दस बारह लम्बे चौडे हिसाब, दूसरी ओर बीज गणित और त्रिकौणमिति के कठिन प्रश्न, तीसरी ओर विविध प्रश्न और साथ-साथ बात-चीत। यह सब कुछ करते हुए क्रमानुसार सबके ठीक उत्तर देना। बाबू हरिश्चन्द्र कवि भी अद्वितीय समझे जाते थे। सारस्वत ब्राह्मण कक्कूजी के पुत्र ने मेरा उनसे परिचय कराया और उनके यहा मेरा आना जाना आरम्भ हुआ। उर्दू शायरी से प्रेम हो चुका था, हिन्दी कविता का भी रस मिलने लगा। परन्तु इन दोनो का मेरे जीवन पर अच्छा असर नही पडा।

रामचरितमानस के स्वाध्याय ने मेरे आचार व्यवहार की आवारगी के दिनो मे भी रक्षा की थी। परन्तु उर्दू कवियो और भारतेन्दु की सगति मे मानसिक पवित्रता का भाव ढीला पढने लगा। सामने से कोई सुन्दरी आ रही है उसको देखते ही उसके शरीर, वस्त्र, चाल, ढाल पर भारतेन्दु जी ने कविता कहना आरम्भ किया और उसके सामने पहुचे तक पूरा हो गया। कविता का तो यह आदर्श समझा जाता था परन्तु ब्रह्मचर्य, सदाचार और मानसिक पवित्रता पर कुल्हाडे की चोट लगाई जाती थी। आश्विन के आरम्भ मे मेरी अवस्था कुछ डावा डोल हो चुकी थी, हा स्काट के उपन्यासो का पढना मैने आरम्भ कर दिया था। रात को न पढने के नियम को मै तोड़ चुका था और सचमुच इन उपन्यासों को आधी रात तक चिराग जलाकर पढता रहता। स्काट के आचार सम्बन्धी विचारों ने उस अपेक्षा या अन्धकार के समय मे भी मेरी रक्षा की । ऐसी अवस्था मे एक और घटना हुई जिसने मुझे बचाया।

आश्विन का दूसरा सप्ताह आ पहुचा और मै एन्ट्रेस परीक्षा की तैयारी के लिए हिला तक नही। ऐसी अवस्था मे मेरे भाई मूलराज, जो मिर्जापुर मे नायब कोतबाल थे, माताजी क्री बीमारी का तार लेकर मेरे पास आये। उसी दिन ४ बजे मेरे नाम तार आया जिससे ज्ञात हुआ कि माताजी का देहान्त हो गया है। मै ऐसा ज्ञान विमूढ हो गया कि न मुह से आह निकली और न कुछ बोला। आखे पथरा सी गई। आसुओ ने भी मस्तिष्क हल्का न किया। इष्टमित्र गगा स्नान के लिए ले गये, मेरे मित्र सिह जी ने १५ दिन की छुट्टी के लिए प्रार्थना पत्र लिखकर मेरे हस्ताक्षर करा लिए। मुझे गंगा पार रेलवे स्टेशन पर ले गए, भ्राता जी ने हाथ पकडकर गाडी मे बिठा लिया, मुझे कुछ भी सुध बुध न थी। भाईसाहब रो धो चुके थे, इसलिए सो गये। मै बराबर जागता बैठा रहा। प्रात डुमरांव उतरे, इक्के पर बैठाया गया चुपचाप बैठ गया। भाई साहब ने मेरी समाधि को हिलाने का यत्न किया परन्तु उनको सफलता न हुई। मार्ग मे इक्के का कुछ बिगुडा और डेढ घण्टा अधिक लगा। दो बजे भाई मूलराज समेत भूख प्यास से बेसुध बलिया उपनगर से बाहर छप्परो मे पहुंचा जहा अन्तिम घर गगा मय्या की भेट होने पर पिता जी जा बसे थे। इन्ही छप्परो मे माताजी का देहान्त हुआ था। पिता जी को अन्य दो भाइयों और मित्रो सहित शोकगृह मे बैठे देखकर एक आह निकली और रोता हुआ मै उनके चरणो मे गिर पडा। आसुओ का समुद्र उमड आया। दो घण्टे पीछे होश आया और शरीर की असाधारण खैच दूर होकर हलका हो गया।

माता जी की अन्तिम इच्छा का ज्ञान होते ही मुझ मे गम्भीरता आ गई। अन्तिम श्वास के दो घण्टे पहिले पिताजी का हाथ अपने हाथ मे लेकर कहा – एक ही इच्छा मन मे रह गई। अपने मुन्शी का विवाह मै अपने हाथो से करती। आप भूलना मत मेरे प्यारे बच्चों का विवाह उसी हौसले से करना जैसे मै करना चाहती थी। मै तो उस दिन की प्रतीक्षा कर रही थी जब मेरा बच्चा वकील बनेगा और मै अपनी पुत्र वधू सहित उसका ऐश्वर्य्य देखूगी। अच्छा भगवान की यही इच्छा है तो यही सही।"

इसके पश्चात् पिता जी गीता का पाठ करते रहे और माताजी ने बिना कोई और बात किये, प्राण तयाग दिये।

जब क्रियाकर्म से निवृत्त होकर माता जी की इच्छानुसार ब्रह्मभोजन और कगालो को अन्नदान भी दिया जा चुका तो मै काशी लौटने को तैयार हुआ, कि १० अक्टूबर के पीछे परीक्षा की फीस न ली जायगी तो 'घडिया मुहूर्त शोध कर मुझे आशीर्वादपूर्वक विदा किया।

परीक्षा की सर तोड़ तैयारी

बनारस लौटते ही मै स्कूल में गया और प्रिसिपल साहब के कमरे के साथ लगता जो पुस्तकालय का कमरा था वह हम चार कालीजिएट स्कूल से आये हुओ ने परीक्षा की तैयारी के लिए माग लिया। जिन मास्टर साहब के पास पुस्तकालय की ताली थी वह खिसियाने होकर बोले – 'साल भर तो नाक मे दम कर दिया अब भी नही मानते। फेल होकर मुह काला होगा तो हम तमाशा देखेगे। हम चारो ने यह सुनते ही दृढ निश्चय कर लिया कि परीक्षा मे उत्तीर्ण अवश्य होना चाहिए।

हमारी तैयारी कुछ भी न थी और घरू परीक्षा की आज्ञा हो गई। हमे भय हुआ परन्तु प्रिसिपल महोदय को हमारी योग्यता पर इतना विश्वास था कि परीक्षा ही न ली और हमारी फीस रजिस्ट्रार को भिजवा दी। तब तो हम दृढता से तैयारी मे लग गए। इस तैयारी मे मेरे केवल १६ दिन लगे। मेरा उन दिनो का समय विभाग यह था – साझ को एक घण्टा घूम कर ब्यालू "शाम का भोजन" करना। पूरे सात बजे पढने 'के लिये बैठकर दो बजे तक बराबर इतिहास के घोटने और रेखागणित के प्रश्न हल करने मे लगते थे। फिर सोकर ६ बजे उठना, कसरत करके घर मे स्नान करना और डेढ दो घण्टे तक रात के याद किए इतिहास पर एक दृष्टि घुमा जाना – इतने नित्य नियम के पीछे भोजन करके स्कूल ठीक १० बजे पहुच जाया करता था। दस बजे से पुस्तकालय के कमरे मे अक तथा बीज गणित के प्रश्न

चारो मिलकर हल करते। जहा कही कठिनाई होती कृपालु कालीबाबू उसे हल कर देते। अग्रेजी तो सारा साल ही करते रहे थे – आवश्यकता से बढकर उसकी तैयारी थी। उर्दू के दोहराने की कुछ जरूरत ही न थी। भूगोल तो नक्शे के सामने आधा घण्टा नित्य परिश्रम करने से अपना बन गया।पुरानी परीक्षाओ के प्रश्न भी हमने हल किये बिना न छोडे।

जब परीक्षा मे चार दिन शेष रह गये तो हमारे प्रिसिपल महोदय ने एक व्याख्यान दिया जिसमे परीक्षा के सब नियम बतलाकर कहा कि परीक्षा से एक दो दिन पहले परिश्रम छोडकर आराम लेना चाहिए जिससे उत्तर लिखते समय शरीर स्वस्थ रहे मैने अपने प्रिसिपल की शुभ सम्मति का इतना आदर किया कि परीक्षा से तीन दिन पहले ही पढना लिखना छोड व्यायाम, मटरगश्त, भोजन और आराम मे सारा समय व्यतीत किया। मेरे साथियो ने अन्तिम घण्टे तक पढना न छोडा। फल यह हुआ कि जहा मै सेकण्ड डिविजन मे प्रथम रहा, वहा मेरे मित्र सिहजी तो थर्ड डिविजन मे निकल गये, परन्तु शेष दो साथी अनुत्तीर्ण रहे। जब हम दोनो रेवडी स्कूल के अध्यापको से मिलकर बिदा हुए तो दोनो ओर से बडे उत्तम भावो का प्रकाशन हुआ था।

कुइन्ज कालिज में पहिले छः महीने (माघ से आषाढ़ संवत् १९३३ तक)

कालिज की प्रथम वर्षीय कक्षा मे प्रवेश से पहिले ही कुछ परिवर्तन आ चुके थे जिन्होने मुझे उन दिनो के खयाल के अनुसार कालिज जीवन के योग्य बना दिया था। परीक्षा के पीछे जब बडे दिन की छुट्टियो मे बलिया गया तो तलवन के नत्थूमल रोजगार की तलाश में पिताजी के पास आये हुए थे। उन्होने मुझको हुक्का पीना सिखलाकर पिता जी की कृपा का प्रत्युपकार किया। १५ दिनो मे ही सारी घृणा दूर हो गई जो पहिली कश खीचते हुई थी और कालिज मे दाखिल होने से पहिले ही मैने फर्श पर शानदार पेचवान लगवाकर अकेले ही महफिल गरमाना

शुरू कर दिया था। मित्रमण्डल के लिये भी गौरइए मट्टी के हुक्के अलग अलग नाम लिखे रक्खे रहने लगे और धीरे धीरे मेरी बैठक का कमरा हुक्काइयो का अड्डा बन गया और शाम को दर्बार होने लगा।

इन्ही दिनो एक रात किसी मित्र के यहा सहभोज था। भोजन और हा ! हू ! करते रात अधिक व्यतीत हो गई। दस बजे घर की ओर लौटा। आधी मील तेज चलते हुए भी पाव घण्टा और लग ही जाना था। मै अपने मकान की ओर जब अन्तिम गली की मोड से निकला तो आगे छती हुई गली थी उसके नीचे एक गुण्डा छुरी लिये किसी पर वार करने की घात मे खडा था। मुझ पर शायद उसी व्यक्ति का उसे सन्देह हुआ। बढकर उसने एक हाथ मेरे सिर के पीछे रखा और दूसरे हाथ से माथे की बाई ओर छुरी भूक दी। गुण्ड़े का हाथ गर्दन पर जाने की देर थी कि मेरा हाथ भी अपनी कमर की छुरी पर पडा और अभी उसकी छुरी मेरे माथे पर आधा काम ही कर सकी थी कि मेरी छुरी उसकी छाती पर जोर से पडी । गुण्डा मुझे छोडकर भाग खडा हुआ। मेरे माथे से लहू बहने लगा। मकान समीप था पहुचते ही पण्डित जी ने रेशम जलाकर मेरे घाव मे ठोसा और मुझे गरम दूध पिलाकर सुला दिया।

यह पण्डित जी कौन थे ? यह बतलाना आवश्यक है । मेरे मकान की मालकिन एक धनाढ्य खत्री साहुकार की विधवा थी। पति के मरने पर कोई सन्तान न थी, और अपनी युवावस्था, जायदाद, सम्बन्धियो की आर्थिक सहायता और गुप्तभोग विलास मे बेचकर समाप्त की। अब भी बुढापे मे अपने रहने का बडा और मेरे पास किराये पर छोटा – दो मकान शेष थे और बहुमूल्य आभूषण थे जिनको बेच बेचकर गुजारा करती थी। मेरी मरहमपट्टी करने वाले इसी विधवा के कारिन्दे थे, पण्डित रामधीन। मैथिल ब्राह्मण थे और कुछ चिकित्सक होने के अतिरिक्त जादूगर भी प्रसिद्ध थे। आगे इनका भी प्रसग आयेगा।

कुछ तो ऊपर लिखित कारणो और कुछ रेवडी स्कूल मे एक गुण्डे से कुछ बगाली विद्यार्थियो की रक्षा करने के कारण, मै कालिज मे प्रविष्ट होते ही एक विशेष दल का नेता बन गया। इस समय अग्रेजी के स्थानापन्न प्रोफेसर डाड ने नियम पूर्वक डिग्री न ली थी। वे लेभज्ज ही थे एक समय पाठ मे एक ऐतिहासिक घटना का जिक्र आया जो साधारण ऐतिहासिक पुस्तको मे न मिलता था। डाड साहब ने उस सकेत की व्याख्या दूसरे दिन पर छोडी। मैने उसी समय एक ऐतिहासिक उपन्यास लाकर वह घटना दिखला दी। कालिज मे मुझे अग्रेजी मे कुछ परिश्रम नही करना था। शेष इतिहास, न्याय और फारसी मेरे लिए कठिन न थे गणित मे विशेष परिश्रम करने लगा। बीज और रेखागणित का तो ऊपर से भी अभ्यास करता रहा परन्तु त्रिकोणमिति से मेरी आरम्भ में ही अनबन हो गई। मैने अक बीज और रेखागणित के द्वारा ही एफ० ए० पास करने का निश्चय कर लिया।

मेरे कालिज के मित्र

पहिली छमाही के अन्दर ही गाढी कम्पनी की बुनियाद पड गई थी । उस के सभासदो का परिचय यहा ही करा देता हू। पशुपतिशरणसिह तो 'रेवडी स्कूल' से ही मेरे साथ आये थे उनके पिता नैपाल रेजिडेन्सी के हेडक्लर्क थे। वह पीछे स्वय पिता के स्थानमे नियत हुए। उन्नति करके अलवर के नायब रेजिडेण्ट और रायबहादुर तथा सी आई ई बन कर उनका देहान्त हुआ। जब सवत् १६५१ मे मै अलवर गया था तो वह मुझे मिले थे और अपने बगले पर ले जाकर पुरानी मित्रता को ताजा किया था। इनका नाम सिहजी रखा हुआ था। दूसरे पक्के सभासद दयाशकर जी थे। सिहजी राजपूत और दयाशकर जी कायस्थ कुलभूषण। इसके पितामह तथा पिता महाराजा बनारस के यहा नौकर थे, इसलिए उनको दीवान जी की उपाधि दे छोडी थी। सिहजी सांवले और लम्बे थे, दीवान जी नाटे और गोरे। सिह जी की दाढी लम्बी काली। दीवान जी की चौगिर्द

भूरी। सिह जी का मुख गम्भीर, दीवान जी का शरीर सुडौल, दृढ और बडे हसमुख और धार्मिक दिल्लगीबाज। उनके मजाक मे कभी अश्लील विचार व शब्द की गन्ध नही होती थी। बी ए पास करके यहा तक बढे के महाराज बनारस के यहा सचमुच के दीवान हो गये और फिर बनारस के स्पेशल मजिस्ट्रेट। बिछुडने के पीछे सवत १६५२ मे भागलपुर जाते हुए मै उन्हे मिला था। हमारा तीसरा सभासद् हरिपद मुकर्जी था। रेवडी स्कूल मे एक अक्खड विद्यार्थी के अत्याचारों से मैने कुछ बगाली लडकों को बचाया था, उनमे हरि मुख्य था। वह मेरा मित्र बन गया और एक दिन मकान पर ले गया उसके पिता कलकत्ता मे कारोबार करते थे और पितामह काशी निवास के लिये बगाली टोला मे टिके हुए थे। उन्ही के कारण हरि काशी मे रहता था। जैसे लाहौरी टोला पजाबियो का मुहल्ला था वैसे ही बंगाली टोला बगालियो का मुहल्ला था। हरि के वृद्ध पितामह ने जब सुना कि उनके पौत्र की मैने रक्षा की थी तो मेरे साथ उनका स्नेह हो गया। हरि हमारा कोषाध्यक्ष था क्योकि घर से अधिक धन इसी को मिलता था और इसलिये हमारा "गाढी कपनी" का शेष कभी खाली नही रहता था। पुरानी मित्रता को नवजीवन देकर मेरे पास दो तीन महीने के लिये वह गुरुकुल आने को ही थे उनका देहान्त हो गया। चौथा एक परचून के दुकानदार खत्री का भाई था जो रेवडी स्कूल मे सहपाठी होने के कारण परिचित हुआ। दुकान मे दौने बनाते और साथ-साथ इतिहास रटते और इस पर भी भाई की लाते खाते देख कर मेरी दृष्टि मे इसका मान बढ़ा। एन्ट्रेन्स परीक्षा की फीस के दस रुपये तक भाई ने न दिये। तब हम दोनों, मै हरि और सिहजी ने चन्दा करके उसकी फीस दाखिल कर दी। संस्कृत मे अभी से इतना योग्य था कि श्लोक बना लिया करता था और गणित के लिये तो मानो उसका मस्तिष्क बना ही था। इस विचित्र व्यक्ति का नाम रामकृष्ण था और हम लोग इसको आपस मे मलवा कह कर पुकारा करते थे, परन्तु गाढी कम्पनी से बाहर उन्हे मल्ल जी की उपाधि दे रक्खी थी। बी ए मे फेल होकर क्योकि अग्रेजी मे सदा कच्चे ही रहे इन्होने

अकाउन्टटेन्ट बनने के लिये परीक्षा दी और अनुत्तीर्ण रहे, गणित मे जिसके वह उस्ताद थे। चाकरी से घृणा हुई और तब व्यापार की ओर लगे। आप भी धनी बने और भाई को भी अमीर बना दिया। इन्ही ने पहिले ताश और शतरज पर पुस्तकें छपवाई थी और फिर प्रेस खोल कर 'भारत-जीवन' अखबार चलाया। इनको अन्तिम बार मै स १८८६ मे मिला था। अब वह भी भौतिक शरीर को त्याग चुके है।

पांचवे गगाप्रसाद थे जो घर पर बी ए की तैयारी कर रहे थे। उनका परिचय सिहजी द्वारा ही हुआ था और वह हमारे नित्य के साथी भी न थे यह ग्रेजुएट होकर मुन्सिफ बन गये थे और फिर कभी मुझे नही मिले। सिहजी छुटकी छोटी पियरी मे रहते थे गगाप्रसाद भी उसी मुहल्ले के निवासी थे। इसके सिवाय पण्डित रामजसन का घर भी उसी पियरी मे था और उनका हमारे सिहजी के पिता से बहुत गाढा सम्बन्ध था। इसलिये उनके यहा मेरा जाना भी हुआ।

पण्डित रामजसन के तीसरे पुत्र, रमाशकर मिश्र उन दिनो एम ए की तैयारी कर रहे थे। उनका विषय गणित था। सिहजी से गाढी कम्पनी का हाल सुनकर वह भी उत्सुक हुये और उन्हे भी अस्थिर सभासद् बनाया गया, अस्थिर सभासद् इसलिये कि वह नित्य हमारे भ्रमण मे शरीक न होते थे। रमाशकर एम ए होते ही बनारस कालिज मे गणित के स्थानापन्न प्रोफेसर बने। वहा से सर सयद अहमद ने उन्हे अपने महम्मदन एग्लो ओरियण्टल कालिज मे पूरा प्रोफेसर नियत करके बुलाया। फिर वह स्कूलो के बडे निरीक्षक बनाये गये और अन्त मे रियायती हिन्दुस्तानी सिविल मे लिये जाकर डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेटी तक पहुचे थे। इन्हे मै सन १८७६ में अलीगढ मिला था। फिर भेट न हुई और अब उनका भी देहान्त हो चुका है।

यह थी गाढी कम्पनी जिसका निर्माण सन् १६७६ की पहली छमाही मे हुआ। हम लोगो ने अपनी नई साकेतिक भाषा गढी थी, जिसमे 'चगत, मगत, और पगत आदि शब्दो के प्रकरणानुकूल

बीसियो प्रयोग होते थे। हम सबमे दो उपन्यास लेखक बने, एक दीवन साहब और दूसरा मै। दीवान साहब ने तो अग्रेजी उपन्यास लेखक डिकेन्स को अपना पथदर्शक बनाया और मैने सरवाल्टर स्काट को गुरू धारा। आदित्यवार को दिन में मेरे घर पर दरबार लगता जहा हुक्का पीते हुए केवल ताश और शतरज के ही सामुख्य न होते, हमारी शतरज क्लब, जिसके प्रधान प्रसिद्ध आम्बिकादत्त व्यास और मत्री बाबू रामकृष्ण थे केवल लन्दन के चित्रमय पत्र मे दिए शतरज के प्रश्नो के हल करके ही कभी-कभी पारितोषिक प्राप्त न करती, प्रत्युत हम दोनो नाविल नवीसी मे कलम घिसने वालो की करतूतो की भी पडताल होती। उस दिन चक्कर भी लम्बा लगता। पहली छमाही समाप्त हुई। अब मै कालिज मे था इसलिये एक के स्थान मे दो मास का बृहदावकाश मिला और मै पिता जी के पास बलिया चला गया।

बलिया में अन्तिम दो मास

बलिया मे गया तो था अपने पास पुस्तको की जबरदस्त तैयारी के मन्सूबे बाध कर और उपन्यास के लेख पूरा करने का विचार भी था। परन्तु यह सब तो कुछ नही उल्टी आबारगी बढ गई। जाते ही दारोगा हाफिज अली के बुलाये पहलवानो के दगल देखता रहा। फिर गणित को ताक मे रख कर केवल ऐतिहासिक पुस्तको और उपन्यासो के देखने मे ही समय नष्ट होने लगा। शाम को चक्कर काशी की अपेक्षा भी लम्बे लगे। बलिया मे हिन्दुस्तानी मुन्सिफ और तहसीलदार के अतिरिक्त एक अग्रेज जन्ट साहब की भी कचहरी थी। रिचार्ड इवन्स उन दिनो जन्ट साहब थे और उनको भी सायंकाल के भ्रमण का व्यसन था। मेरी उनसे मार्ग मे भेट होती। मेरे साथ अग्रेजी साहित्य की बातचीत कर उन्हे प्रसन्नता होती। क्योकि वहा उन दिनो अन्य कोई भी उनके विचारो के साथ सहानुभूति रखने वाला नही मिल सकता था। स्काट के वह भी भक्त थे और मेरी तरह ही अविवाहित। परस्पर औपन्यासिक भग गाढ़ी छनती थी और शायर का यह कहना ठीक घटता था – 'खूब गुजरेगी जो मिल बैठेगे दीवाने दो।

इस बार बलिया मे आनन्द तो बहुत रहा, हवाई किले भी आश्चर्यजनक बनाता रहा, परन्तु दो प्रकार की हानि भी हुई। एक तो मुन्सिफ साहब के साथ घोडा गाडी मे सैर के लिये जाने से प्रात काल का व्यायाम बन्द हो गया और दूसरे बलिया से चलते समय मुझ पर उदासी छा गई। ज्वर की ऋतु भी आ गई थी और बनारस पहुच कर कोई मित्र न मिला। सिहजी बीमारी के भ्रम में फंस कर अपने गाव चले गये थे, कलकत्ते चला गया था और दीवान साहब के साथ बहुत गाडा सम्बन्ध नही हुआ और मलजी तो शुष्क चीनी आटे का भाव बतलाने वाले ही थे। मुझे ज्वर के कारण कुछ निर्बलता हो गई और मै दशहरे की छुट्टियो से एक सप्ताह पहले ही अवकाश लेकर फिर बलिया चला गया।

इस बार आनन्द के स्थान मे कुछ मानसिक कष्ट ही रहा और मे उकता कर लौटना चाहता था कि पिता जी के नाम लार्ड लिटन वाले दिल्ली 'दरबार के पुलिस कमान अफसर के पास 'जाकर काम करने का हुक्म आया। उन दिनो शिक्षा विभाग की प्रान्तिक परीक्षाए नवम्बर के अन्तिम सप्ताह मे होती थी। पिताजी ने मुझे आज्ञा दी कि परीक्षा निवृत्त होकर मै भी उन्हे दिल्ली मिलू और यदि मेरी यह इच्छा पूरी हो जाती तो शायद उस जादूगर (ऋषि दयानन्द) के पजे मे फस जाता जिससे दस बरस पहले माता जी ने मुझे बचाने का प्रयत्न किया था। परन्तु मुझे तो अभी बहुत ठोकरे खानी थी, इसलिये डुमराव पहुचते ही पिताजी को तार मिली कि वह दिल्ली न जाये क्योकि एक डाके के मुकदमे मे उनसे सहायता लेने की आवश्यकता है पिता जी बलिया लौट गये और मै काशी पहुच गया।

काशी में अन्तिम बार (सन् १८७६ के दशहरे से जून १८७७ ई. तक)

पाप सागर में डूबने की कहानी।

निवास स्थान पर पहुचते ही मित्रो के यहा चक्कर लगाया। सिह जी अब तक गाव मे थें। और कोई मिला नही क्योकि

दशहरे की छुट्टिया बाकी थी। मैने अखाडे मे जाना और गगा स्नान फिर आरम्भ कर दिया। उसी स्थान मे उस सरल पवित्र भाव के नाश के सामान पैदा हुये जिसे माता के स्मरण और पिता के जीवन दृष्टान्त ने नास्तिकपन और आवारगी के भयानक समय मे भी सुरक्षित रक्खा था। अभी दो दिन कुश्ती की थी, तीसरे दिन प्रात नियत समय पर गया तो अखाडे में सुनसान थी पूछने पर पता लगा कि बृहस्पतिवार का अनध्याय है मैने सोचा कि गंगा किनारे ही एक आध मील टहलूं तो स्नान करके घर लौटूगा। धोती आदि घाटिये के पास रख दी और राजघाट की ओर चल दिया। मनिकर्णिका से आगे बिन्दासिह पहरे वाला मिला। उसके पूछने पर आगे जाने का कारण बतला दिया। कुछ दूरी पर सधिया घाट है। वह गगा की बाढ से हिल चुका था और उसके नीचे एक गुफा सी बन गई थी। उसमे कुछ काल से एक नगा साधु रहता था जो एक समय ही भोजन करता था। और वह भी नियम से जो पहले भोजन लाता उसी को स्वीकार करके फिर शेष किसी की भेट स्वीकार न होती। इसलिये सैकडों स्त्री-पुरुष उत्तम भोजन तैयार करके ले जाते। अस्तु । सेधिया घाट के पास पहुचा ही था कि एक चीख की आवाज सुनाई दी। दौड कर गुफा के पास गया तो किसी स्त्री का सिर बाहर धरती से लगा और उसकी दोनो बाहे द्वार के दोनो ओर गडी हुई दिखाई दी। अन्दर कोई उसको खीच रहा था और वह बाहर निकलने का यत्न कर रही थी। मैने जाकर लाते चट्टान मे मजबूती से लगाई और उसकी दोनो बाहुओ को दोनो हाथो से पकड़ कर खेचने लगा। परन्तु अन्दर का का पिशाच बडा बलवान् और कामान्ध प्रतीत होता था। बेचारी अबला का दम घुट रहा था। मैने बिन्दासिह को पुकारा। उसने आकर मुझे दृढता से पकड लिया और मैने दुष्ट को डाट बतलाते हुए उस विवश पीडित देवी को बाहर खीच लिया। उसकी आयु १६ वर्ष से अधिक नही थी। मैने उस मूर्छित देवी को अलग किया तो एक और अधेड स्त्री पास आ गई। मैने उसे

पहचाना कि हमारे कुल के परिचित एक खत्री ग्रेजुएट की भोजाई है। मेरे परिचित ग्रेजुएट का कल्पित नाम देवीप्रसाद समझ लीजिये पता लगा कि जिस देवी के सतीत्त्व की रक्षा की गई है वह देवीप्रसाद की दूसरे विवाह की स्त्री है। यह पीछे से पता लगा कि पति महाशय तो वकालत परीक्षा की तैयारी मे अलग लगे रहते और भौजाई को यह फ़िक्र है कि उनकी देवरानी के सन्तान होनी चाहिए इसलिए ३ बजे तडके ही खोए की मिठाई और पूरी आदि का थाल हाथ मे देकर सरल हृदय राजरानी को गुफा में भेजकर बाहर खडी हो गई। राजरानी के कपड़ो के चिथडे उड गये थे, शरीर मे रगडो से लहू वह रहा था, और वह काप रही थी। मैने बानात की चादर ओढ़ी हुई थी। उससे देवी का सारा शरीर ढक दिया और जो भीड जमा हो रही थी, उससे बचा, दोनो देवियो को घर पहुचाकर देवी प्रसाद को चौकन्ना कर आया।

घाट पर लौटा तो उस नगे पिशाच को जूतो की मार पड रही थी ओर पुलिस के जमादारादि आ गये थे। एक भली देवी की इज्जत का सवाल था। मेरे कहने पर उस पिशाच से नाम रगंडवा और यह प्रतिज्ञा लेकर कि वह फिर कभी काशी नही लौटेगा, पुलिस वाले उसे राजघाट से पार पहुचा आए। परन्तु समाज की विचित्र अन्धी श्रद्धा का मुझे उस समय पता लगा जब सन् १८८१ ई० के अगस्त मास में गाजीपुर जाते हुए मैने बनारस ठहर कर उसी दुष्ट पिशाच को घाट के मार्ग मे नंगे बैठे और स्त्री-पुरूषो को उसकी उपस्थेन्द्रिय पर फल पुष्पादि चढाते देखा। प्रयागदत्त जमादार को जब पूछा तो उत्तर मिला' अरे बाबू ! धर्म का मामला ठहरा। अग्रेज हाकिमो कतराजात बाटै।'

इस घटना को मैने अपने सरल पवित्र भाव के नाश का सामान क्यो लिखा। घटना तो मेरे मत और आत्मा को उच्च बनानै वाली थी, परन्तु नास्तिकपन की लहर और पुराने अग्रेजी

उपन्यासो के विचित्र आचारशास्त्र ने मन की अवस्था बदल छोडी थी। मैने अपने आपको एक वीर रक्षक समझ लिया जिसने एक पीडित देवी की रक्षा की। अब उस अबला देवी को अपनी प्रिया की उपाधि मन ही मन मे दे ली और अपने आपको उसका सदा का रक्षक कल्पना कर लिया। उन्ही दिनों मेरे मामू महाशय ने मुझ कुछ-कुछ मद्यपान का अभ्यास शुरू करा दिया था। अब तो मैंने मद्य वीर का पूरा रूप धारण कर लिया। यदि उस रामायण पर से श्रद्धा न गई होती जिसमे सीता के आदर्श पतिव्रत पर मैने बारबार अश्रुधारा बहाई थी तो मुझे निश्यच है कि उस गढ़े से बच जाता जिसमें गिरने के पीछे मुझे घोर प्रायश्चित करने पर ही शान्ति प्राप्त हुई थी ।

यदि अपने प्राचीन इतिहास पर श्रद्धा होती तो पीड़ित स्त्री जाति का रक्षाबन्धन भाई बनकर उनकी रक्षा का व्रत लेता। परन्तु मैने तो उपनी सभ्यता जङ्गलीपन और अपने साहित्य को मूर्खता का भण्डार समझ रखा था, फिर उनसे मुझे सहायता कब मिल सकती थी।

दो तीन दिन बीत गये। मेरे पास के मकान मे, भोई बीबी के यहां, एक सम्बन्धी अपनी युवा पत्नी सहित ठहरा हुआ था। दसहरे के प्रात· विजय दसमी का नहान था। चार घडी रात रहते ही मै धोती उपरना बगल मे ले गगा जाने के लिए निकला। दो कदम नहीं गया था कि एक युवा स्त्री भीड से घबडा कर दूसरी ओर से इधर हुई एक दुष्ट ने इधर उस पर हाथा डाला । मैंने देखते ही जोर से उसके मुंह पर थप्पड मारा ओर वह दीवार के आश्रय गिरता गिरता बचा। वह स्त्री घबडाई हुई आगे जाने से डरती थी । मैं उसे अपने मकान में ले आया और तब पता लगा कि उसके पति आगे निकल गए हैं। मै उसे छोडकर गगा तीरे गया। उसका पति उसे तलाश कर रहा था। मैने उसे शान्त किया और नहा-धो उसको साथ लाकर उसकी पत्नी से मिला दिया। मेरा नौकर दो दिन से छुट्टी पर था। मैं

पूरी लाकर खाना चाहता था। दोनो पति-पत्नी भोई बीबी के यहां से मेरे मकान मे आ गए। भोजन उसी महिला ने बनाया और हम सबने खाया। मेरे मकान के नीचे बडी बैठक थी जहा आदित्यवार का विशेष और नित्य साधारण दरबार लगता था। उसके उपर की मजिल मे उतना ही बडा कमरा था जिसमे सोया और पढा करता था। तीसरी छत पर एक ओर रसोई घर और दूसरी ओर चौबारा था। मै अपनी बैठक मे चला गया। तीसरे पहर उस सधवा स्त्री का पति दसहरा देखने चला गया। मै सिंहजी को लेकर दसहरा देखने जाना चाहता था, परन्तु उनको अभी बीमारी का भ्रम था और वह फिर गाव को जा रहे थे। उन्हे गांव के लिए बिदा करके उदासीन हो, ६ बजे के लगभग घर लौट आया। उस समय प्रलोभन में फंस गया। हा ! बरसों की कमाई एक घन्टे मे डूब गई। उस रात मैने भोजन नहीं किया। रात को व्याकुल रहा। दूसरे दिन प्रात. रामायण का फिर स्मरण आया। गङ्गास्नान के पीछे कह दिया कि मै अपने मित्र के ग्राम को जाता हू।

बडी से बडी आवारगी मे भी जो मन और शरीर शुद्ध रहे थे वे अशुद्ध हो गये। धोती कुर्त्ता पहिने था ही, सिर पर टोपी रक्खी, गले मे दुपट्टा छोडा और हाथ में धोती उपरना समेट बैग लेकर चल दिया। सिहजी के घर से मार्ग दिखाने के लिए उनके भृत्य को साथ लिया। वह सीधा मार्ग दिखाकर लौट गया। ग्राम चार कोस था। बारह बजे पीछे, बिना अन्न-जल किए, अपने मित्र से जा मिला और जाते ही अपनी गिरावट की कहानी सुनाई। मित्र को अपनी बीमारी भूल गई, मुझे शान्त करने मे लग गये। सब सुनकर मुझे निर्दोष बतलाया। इस कार तसल्ली कठिन थी। सिहजी स्वयं विवाहित थे और गम्भीर भाव के सदाचारी। उन्होंने विवाह से पूर्व की अपनी व्यवस्था सुना और पाप का प्रयाश्चित बतलाकर मुझे शान्त किया। मेरे आत्मिक रोग का चिकित्सा मे धर्म भाई का शारीरिक रोग आप से आप दूर हो गया। दूसरे दिन इकट्ठे ग्राम मे रहे, तीसरे दिन हम दोनो

लौट आए। फिर कालिज जाना आरम्भ किया और गाढी कम्पनी के लम्बे भ्रमणो मे सब कुछ भुला दिया।

काशी लौटने के दूसरे दिन देवीप्रसाद मिले। मालुम हुआ कि मेरे पीछे दो तीन बार आ चुके है। उन्होने बतलाया कि उनकी धर्मपत्नी मुझे भोजन के लिए निमन्त्रण देती है। मै झिझका तब उन्होने कहा कि अपनी भोजाई की कर्तूत देख वह भाई से जुदा हो गए है और अब अपनी माता के साथ रहते है। असल मतलब परिवार का यह था कि मेरा धन्यवाद करे। मै दूसरे दिन उनके यहा गया, परन्तु कुछ फल लेता गया। प्रात सीताहरण की कहानी फिर से पढ आसू बहा, हृदय को शुद्ध कर चुका था। जाते ही फल रख कर कहा – "बहिन राजरानी। तुम्हारे लिए फल लाया हू।" राजरानी पर इसका क्या असर हुआ, उसका वर्णन पीछे उसके पति ने किया। फिर दीवाली के पीछे भाईदूज आई। मेरी यज्ञोपवीत के समय की धर्म बहिन उस समय काशी में न थी। वह प्रत्येक भाईदूज पर मेरे माथे मे टीका लगा, हाथ मे मौली बाध, पल्ले मे मिठाई डाला करती थी। मुझे धर्म बहिन का कुछ ख्याल आया और काम मे लग गया कि इतने मे अपनी सास सहित राजरानी पहुच गई 'भैया। भाईदूज पर टीका करने आई हू।' यह शब्द सुनते ही मैने सिर पर टोपी रख, गले मे दुपट्टा ले लिया। नई धर्म बहिन ने टीका लगाया, रक्षा का व्रत दिया और मिठाई आगे की जो मैंने श्रद्धा से ग्रहण की। फिर दो रुपये भेट देकर भगिनी को विदा किया। मानसिक प्रायश्चित अभी से शुरू हो गया। उसके पश्चात् मैने स्त्रियों के मिलने से बचना आरम्भ कर दिया और माताजी के परिचित परिवारो में जाना भी त्याग किया।

इस बार दीवाली पर मैथिल पण्डित की प्रेरणा से मै उसके बैठाए जुए के फडपर जा पहुचा। काशी मे उन दिनो दीवाली के सम्बन्ध मे सरकारी ढिढोरा पिट जाता और चार दिन खुल बन्दो जुआ खेला जाता। फडदार प्रत्येक सोलह गण्डे की जीत पर तो दो पैसे 'नाल' के लेकर बर्तन मे डाल ही लेता परन्तु

नाल से तिगुनी चौगुनी जमीन बढ जाती। जमीन कैसे बढ जाती ? फडदार ने पैसो का ढेर लगा दिया। उसी मे से पैसे काटकर बाजी लगानी पडती। सोरही (सोल्ही), अर्थात् सोलह कौडी बारी वाले के हाथ मे है। 'तीनजी, पाचजी, चारजी, छजी' कहकर बाजी बदी जा रही है। सोरही फैकी और शोच मच गया — "वह मारे पाच" चार छ वाली पैसा की ढेरिया तो फड मे डाल दी गई' परन्तु तीन पाच वालो का हिसाब होने लगा। फडदार ने शीघ्रता से पैसे गिने, कई स्थान मे तीन पैसे का आना गिना और एक आध गण्डा वैसे हाथ की चलाकी से बढा दिया। गिनकर ढेर तो जीते हुए जुआरी के आगे धकेल दी और हार के नाम उतने गण्डे लिख लिये। पहिले दिन तो मुझे केवल जुआरियो को फसाने के लिए बैठाया गया था और मुझे भी गधे की योनि से बचाने के लिए अपने परिवार के साथ कौडियो और रेवडियो से जुआ खेलने का अभ्यास था, परन्तु दूसरी रात मुझे भी प्रलोभन ने आ घेरा और रात को मैने डेढ़-डेढ़ दो-दो सौ गण्डो के दांव तक खेल डाले। कभी पचास रुपये तक जीत लिए कभी साठ-सत्तर तक हार दिए। तीसरी दीवाली की रात थी। पिताजी की शिक्षा थी कि जब हाथ ऊपर अर्थात् जीत हो तो उठ खडे होना चाहिए। उस रात पहले मै २०० रुपये हार गया फिर पासा बदला। सब उतार कर शायद चार रुपयो से कुछ ऊपर जीते थे मै उठ खडा हुआ। मैथिल जादूगर पण्डित ने बहुतेरा समझाया कि हाथ ऊपर है दो-तीन सौ लेकर उठो। परन्तु मेरी प्रकृति और स्वभाव विचित्र है। मुझे अपने जुए के गिने हुए दुराचारी साथियो की गदी बोल-चाल से उसी रात घृणा हो गई और मैने एकदम किनारा कर लिया।

ऊपर की घटना पढकर भ्रम होगा कि मुझे नास्तिक को गधे की योनि मिलने पर विश्वास कैसे बना रहा। परन्तु मै भी विचित्र प्रकार का नास्तिक था। उस नास्तिकपन के संवत् १६३२ से सवत् १६४१ तक दस वर्षो में भी जहा मेरा पुनर्जन्म पर विश्वास बना रहा वहा योग पर भी इतनी श्रद्धा बनी रही कि

हठयोग के प्रयोग मैने उसी समय मे साधे थे। परन्तु अन्य अशो मे भी पैतृक तथा बाल्यावस्था के संस्कार बडी कठिनाई से दूर होते है।

मनोरंजन सैर

अस्तु। अपने पाठ्य विषयो और पाठ्य पुस्तको मे परिश्रम करते हुए भी अंग्रेजी साहित्य के भण्डार के कण चुनता रहा और अब उपन्यासो को छोड इगलिश पद्य का मदान नापने लगा। इग्लिस्तान के कालिदास शेक्सपियर के कवितापूर्ण नाटकों का इन्ही दिनो स्वतन्त्र अध्ययन किया। जब वर्ष के अन्त मे परीक्षा हुई तो अंग्रेजी मे मेरे लब्धांक ६७ प्रतिशत थे।

छुट्टियों मे बनारस ही रहा क्योकि प्रिन्स आव वेल्ज उन दिनो आने वाले थे और उनके स्वागत की बडी तैयारिया हो रही थीं। उन सात दिनो मे गाडी कम्पनी ने खूब सैर किए और सर्वसाधारण के बडे-बडे जमघटे देखे परन्तु उनमे से एक ही मनोरजक बात सुनाने के योग्य है। उन्ही दिनो बनारस मे एक बडे हस्पताल की बुनियाद पडने वाली थी। उसकी आधारशिला प्रिन्स से रखायी जानी थी। मार्ग सारे शहर मे से जाता था, इसलिए जलूस निकलना था। सडक के दोनो ओर दर्शको की प्रात काल से ही भीड थी। प्रिन्स के आने मे अभी कुछ घण्टे थे। देखा-देखी सब आ गए परन्तु अनपढो को इतना भी पता नही कि किस की सवारी देखने आए है। एक ने हम लोगो से पूछा तो हमने बतला दिया कि शाहजादा आता है। प्रश्न हुआ 'कौन शाहजादा ? उत्तर मिला – "महारानी विक्टोरिया का बेटा" अब तो चौधरी अकडकर चलने लगे और एक गोल मे जा धमके। वहा यही अनुमान हो रहे थे कि कौन आता है। चौधरी जी कडक कर बोले, "अरे! तू का जानत हम बतलाइत हैं। अरे! बिस्तुइआ के बेटवा आवत बाट।" हम सुन रहे थे। हसते-हसते पेट मे बल पड-पड गए। 'बिस्तुइआ' बनारसी बोली मे कहते है 'छपकली' को। कहा ताज पहिने हाथ मे शाही शासन दण्ड लिए मोटी-ताजी महारानी विक्टोरिया और कहा छपकली।

प्रिन्स एडवर्ड (पीछे बादशाह एडवर्ड सप्तम) आए और चले गए। मैं फिर पढाई में लगा। जो थोडी शराब पीने की आदत मामूजी ने अपना मद्य पीने का व्यसन पूरा करने को लगा दी थी वह छूट गई और मै मित्रो सहित फिर से ऊचे मानसिक वायुमण्डल मे विचरने लगा। सवत् १६३४ के आरम्भ से ही पदार्थ–विज्ञान की पढाई शुरू हो गई। न्याय के साथ रसायन शास्त्र को जोड़ दिया और प्रोफेसर लक्ष्मीशकर मिश्र ने बिना रस क्रिया सेवन के रसायन पढ़ाना आरम्भ कर दिया। पढाई नियमपूर्वक चलती रही।

माघ मे समाचार आया कि पिताजी की बदली बलिया से मथुरा को हो गई है। फिर सारा सामान बलिया से किश्ती मे मेरे पास आ गया जो सब नीलाम कर दिया गया। केवल वह सामान रह गया जो सीधा अपने घर तलवन भेजना था। मेरा विवाह जुलाई के अन्त मे होने वाला था। पिताजी ने नई बैठक बनवाई थी। उसके लिए एक दस बत्ती का झाड, चार हांडिया और आठ दीवारगीर खरीद कर रख दिये थे और उनका घर भेजना मेरे सुपुर्द कर गए। इधर होली आई और गाढी कम्पनी ने उसे बडे समारोह से मनाया। धुलहडी के दिन शाम को यह सूझी कि गुण्डो का रूप धारण करके चलना चाहिए। हम चार थे। दो पटनिये बाके इक्के किराये किये। जघा तक धोती पहिन, दोनो मोढ़ो दोनो और दुपट्टा डाल, सिर की चुन्दी (शिखा) खडी आध, नगे सिर, कमर मे छुरी लगाए और हाथ में डडा लिए, एक-एक इक्के पर दो-दो बैठकर चल दिए। इक्के छन-छन करते पहुंचे। इक्के से उतर एक मौनहारियो के गिर्द की भीड मे घुस चले। धक्का लगते ही एक गुण्डो की टोली टर्राई और हमे धक्के देने लगी। हममे से दो अच्छे लाठी चलाने वाले थे। मार-पीट शुरू हो गई। हम लोगो ने उन्हें अधिक मारा। पुलिस के आते ही हम चारो चम्पत हुए और इक्को पर पैर रखते ही हवा की तरह उड गए। भाग कर घर पहुचे और बहुरूप उतार कर फिर सभ्य विद्यार्थी बन गए। हमारा तो किसी

को पता भी न लगा परन्तु दस पन्द्रह गुण्डे पकडे गए जो कि पुलिस की भेट पूजा करके छूट गए। प्रण तो किया कि आगे को ऐसा बहुरूप धारण न करेगे परन्तु दो दिन पीछे ही कुछ और सूझी।

बनारस मे होली के पीछे जो मगल आता है उसे बुढवा मगल कहते है। उस रात से शुरू होकर बृहस्पतिवार की सारी रात तक गगा मे किश्तिया छूटी रहती है उन्ही मे नाच तमाशे होते है। सात-सात किश्तिया बाधकर बडे कमरे सजाये जाते है जिसमे रण्डी-लौडो के नाच और भाड-भंडेलो के तमाशे होते है — (उस समय होते थे अब मालूम नही क्या हाल है) मगल के सवेरे सूझी कि तमाशा देखने को एक बडी किश्ती सजाई जावे। हरि ने और मैने रुपये दिए किश्ती किराये पर ली गई। सजाने को समय थोडा था, सामान खरीदने का काम मलजी के सुपुर्द किया गया। लट्ठे लेकर चारों बढई से गडवा लिए, ऊपर बल्लिए बाध ली, बल्लियो के ऊपर नीचे किराये पर लेकर दोहरी दुसूती लगा दी गई। इर्द-गिर्द कागज काट कर झालर लग गई। मेरे यहा पडे झाडादि टांग दिए। लट्ठो को सफेद रग से रग कर उस पर कागज की बेल लपेटी गई जो वाफते की बेल को मात करती थी, दरिया और गलीचे दीवान साहब माग लाये। ३० वा २५ कुर्सिया प्रोफेसर रमाशकर कालिज से उठवा लाये और सजावाट पूरी हो गई। पियरी के एक कायस्थ मुखतार साहब के साहबजादे सितार में वाजपेयी जी के शागिर्द थे। उन्होने एक तमोटी लाकर कमरे के पीछे लगा दी थी और सितार तबले का भी रग जम गया नौ बजे रात को न केवल गाढी कम्पनी का मित्र दल ही पहुच गया प्रत्युत एक-एक दर्शक सब साथ लाये। प्रोफेसर रमाशकर मिश्र, एम०ए० स्वय पजबी बधेज का पग्गड बाध कर आये जो उन्होने कलकत्ते मे प्रेमचन्द रायचन्द छात्रवृत्ति की परीक्षा दी थी और कृतकार्य हुए थे। रमाशकर तो जैसे ग्राडील जवान थे, वेसे ही पग्गड से दुगने रुआबदार बन गए। एक ओर लिखा था — "विद्या ही बल है"

और दूसरी ओर लिखा था 'गाढ़ी कम्पनी'। फिर क्या था, जिधर हमारा शानदार दरबार हाल पहुंचा सब किश्तियां हट जातीं, यहां तक कि कोतवाल की गश्ती नाव को चीरता हुआ हमारा कच्छा अच्छे से अच्छे तमाशों के समीप पहुंच जाता। बृहस्पतिवार की रात भर आवारगर्दी की गश्त करते हुए शुक्रवार की प्रातःकाल हम सब उतर गये और सब सामान अपनी-अपनी जगह चला गया। इस बार मुझे मेले के पीछे उदासी ने घेर लिया क्योंकि मेरे आत्मा के अन्दर से उसके विरुद्ध आवाज उठ रही थी। बुढ़वा मंगल को समाप्त कर भंग पीने का अभ्यास सारे मित्र मण्डल को हो गया। एक सप्ताह पीछे मेरे प्यारे मित्र हरि की भगिनी का कलकत्ते में विवाह था। वह आग्रह करके मुझे ले गया परन्तु वहां रहना दो दिन ही हुआ। विवाह के घर और बंगाली धनाढ्यों के सहभोज के और कुछ न देख सका।

इस स्थान में एक घटना का संकेत मात्र करके उसके विस्तार में नहीं जाऊंगा। माघ संवत् १६३४ के आरम्भ में मैथिल पण्डित द्वारा हसन खां जिन्नी से भेंट हुई थी। उसके विषय में जो चमत्कार प्रसिद्ध थे उनमें कुछ मैंने भी देखे थे। उस समय उनका (हल) मुझे नहीं सूझा था। परन्तु अब उनकी तथा मैथिल पण्डित की जादूगरी की असलियत मेरे लिए स्पष्ट हो गई है।

पिता जी ने मुझे ज्येष्ठ के अन्त में ही बुलाया था इसलिए आषाढ़ के प्रथम दो सप्ताह की छुट्टी लेकर चल दिया। विचार यह था कि विवाह से निवृत्त होकर काशी लौट जाऊंगा और वहां ही एफ०ए० की परीक्षा दूंगा, इसलिए मेरे मित्र मुझे सदा के लिए विदा करने नहीं चले थे, गंगा पार जाकर मित्र मंडल ने रेल में बैठाया। चलते हुए सबके आंसू भर आये मैं मार्ग में उदास रहा। परन्तु रात बीतने पर जब प्रातः मैं मेंडू के स्टेशन से ट्रेन बदल कर छोटी ट्रेन में बैठा तो नए दृश्यों को देख मित्रों का बिछोड़ा भूल गया। एन्जन बग्घी की चाल चल रहा था, ड्राइवर और गार्ड दोनों हिन्दोस्तानी थे — जहां गांव आया ट्रेन खड़ी करके रोटी खाने लग गये। फिर ट्रेन जरा तेज चला ली।

आम के वृक्ष दिखाई दिये तो कच्ची अम्बियें तोड़ने की सूझी। ट्रेन मथुरा पहुंची और पिता जी की भेजी गाड़ी मैं बैठ कर मैं डेरे पर पहुंचा।

मथुरा में दस दिन और विवाह की धुन

मथुरा में पिता जी छुट्टी पर गये हुए असिस्टेण्ट सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस के स्थानापन्न होकर आये थे और आसाढ़ के पीछे उन्हें बरेली की कोतवाली का चार्ज लेना था। इसलिए उन्हें मेरे विवाह के लिए दस दिन की छुट्टी मिल सकती थी। मेरे सब भाई अपने परिवारों सहित तलवन में इकट्ठे थे। मुझे भी दस दिन मथुरा में रख और विवाह का सब सामान देकर तलवन को विदा कर दिया।

मथुरा में नये दृश्य और नए मिलने वाले। नई बोली भी कुछ–कुछ बोलने लग गया था। मथुरा वृन्दावन के मन्दिरों की खूब सैर की। द्वारिकाधीश की मूत्ति मथुरा में लाने वाले सेठ लखमीचन्द के पुत्र सेठ (पीछे राजा) लछमनदास, सी०एस०आई० ने मुझे खूब सैर कराई। दोपहर उन्हीं खस की टट्टियों और पंखों वाले कमरे में व्यतीत किया करता। कारण यह कि सेठजी अपने अंग्रेज परिचितों को पत्र मुझ से लिखाया करते थे विशेष परिश्रम मैंने भारत के बड़े लाट के नाम ब्रज की परिक्रमा की सीमा में गोरों का शिकार बन्द करो के लिए प्रार्थना पत्र तैयार करने में किया था। मैं नास्तिक था, परन्तु मन्दिरों में जाकर मूर्त्ति को भी प्रणाम कर लेता था। मेरा अमल अंग्रेजी की इस लोकोक्ति पर था – 'गंगा गए गंगादास यमुना गए यमुनादास।' किसी का दिल दुखाने से क्या लाभ ? परन्तु मन्दिर में ही, और वह भी पुजारियों के सामने समालोचना भी पूरी कर डालता।

मथुरा की दो बातें नहीं भूलेंगी। एक तो चौबों का ब्रह्मभोज नहीं "चौबे भोज" और दूसरी गोकुलिये गुसाईं जी की लीला। चौबे भोज का मेरे जाने पर पिताजी ने विचार किया। हमारे चौबेजी बोले – यजमान मन के दस निमन्त्रित किये जायें वा

मन के चार। ऐ! क्या तौल में चार-चार और दस-दस सेर के चौबे भी होते हैं ? नहीं, मतलब यह कि मन भर उत्तम भोज्य पदार्थ दस बांट कर खायं या चार ही चट्टम कर जायं। यही ठहरी कि मन के चार निमन्त्रित हों। चारों की जुन्डी थी और उनके नाम थे — सोटा-मोटा-सोटा-लंगोटा चौबे। निमन्त्रण के साथ ही एक-एक तवन और छटांक-छटांक भर भंग भेज दी गई। इसलिए प्रातः विश्राम घाट पर पहुंचते ही चौबेजी पत्थर पर भंग का रगड़ा लगा गोली बांध कंठ से नीचे कर लें। इस भंग का नाम था कागाबासी। आठ चौबे कृष्ण गोपी लीला गाते और नाचते कूदते हुए हमारे डेरे पर पहुंचे। उनके चरण पखार कर आसन दिए। आज्ञा हुई — "लाओ यजमान भोगविलासी।" डेढ़ पाव भंग भिगो रखी थी। चौबेजी ने धोई। खूब रगड़ा लगाया फिर उसमें बादाम और इलायची मिला कर पीस डाला, दूध छोड़ दो लौटे पानी में गड्ड-गड्ड करके पहिले द्वारका-धीश को भोग लगाया। एक छोटी कटोरी भर वहां निकाल कर बांटी गई। एक कटोरी भर हमें मिली जो पिताजी, मैं, पाचक, कहार और अरदली बांट कर पी गए। शेष चारों चौबों ने चढ़ा ली। ११ बजे भोजन तय्यार हुआ — "चलो चौबेजी! बाल भोग तय्यार है।" चौबेजी की आंखे बन्द हैं, बोले — "यजमान! आसन पर ले चल। हाथ पकड़ उठाया, चरण धोए और आसन पर बैठा दिया। पहिले डेढ़-डेढ़ से लच्छेदार मलाई अन्दर गई, आंखे खुलीं और मांग शुरू हुई। दो-दो सेर पेड़े, उन पर भाजी पकौड़ी आदि के साथ-साथ तीस-तीस पूरियां की तह, फिर खुर्चन फिर उतनी ही पूरियों की तह, फिर हलवा और अन्त में मलाई की पूर्णाहुति। हाथ धुलाकर हथेलियों पर एक-एक रुपया दक्षिणा रखी गई और चौबेजी को प्रणाम मिला। परन्तु चौबे अभी खड़े हैं — "यजमान! अब सत्यानासी भी मिल जाय।" छटांक-छटांक भर भंग और दी गई। तब चोबेजी हिले। पिताजी को भ्रम था कि कहीं इन चौबों के पेट न फट जांये और ब्रह्महत्या का पाप उन्हें लगे, परन्तु जब शाम को मैं विश्रान्तघाट

पहुंचा तो सत्यानासी के रगड़े में सब कुछ भस्म करके चारों चौबे कुश्ती लड़ रहे थे और इस प्रतीक्षा में थे कि कोई 'लडुआ खिलाने वाला यजमान, मिल जाय।'

दूसरी गुसाईंजी की लीला थी। दक्षिण के एक डिप्टी कलेक्टर ब्रजयात्रा को आए थे, उनकी धर्मपत्नी और एक लड़का और एक लड़की साथ थे। पुत्र ६ वा ७ वर्ष का और लड़की १४-१५ वर्ष की। यह कुमारी देवी अंग्रेजी भी पढ़ी हुई थी। मुझसे उनका परिचय हो चुका था, क्योंकि काशी तीर्थसेवा करके वह मेरे साथ ही मथुरा में पहुंचे थे। एक दिन गोपाल मन्दिर की झांकी थी। मैं भी गया था। पांच बजे शाम का समय था। मेरे साथ एक सफेदपोश पुलिस का हेड कान्स्टेबल था। उससे गुसाईं जी दबते थे, क्येंकि वह था उनके घर का भेदी। मुझसे उसने कहा — 'चलो बाबू। गुसाईं के अन्दर के महल की सैर करा लाऊं।" मैं साथ हो लिया। दर्बान ने यह कहकर रोका कि विशेष चेले दर्शन कर रहे हैं, जाने की आज्ञा नहीं। परन्तु 'सन्यासी, गुरु, चपरासी' कौन रोकने वाला था। हम दोनों अन्दर गये। बहुत कमरे और उतनी ही भूल-भुलइयां वाली गलियां। अभी पांच मिनट ही घूमे थे कि चीख की आवाज सुनाई दी। पास वाले कमरे का दरवाजा झटके से खोलकर अन्दर गये। एक अबला कुमारी को गुसाईं जी अपनी ओर खींच रहे थे और वह छुड़ाकर भागने की चेष्टा कर रही थी। पास में एक अधेड़ स्त्री खड़ी थी। गोसाईं ने कुमारी को छोड़ खड़ी कृष्णमूर्त्ति की ओर इशारा करके कहा — "भगवान् के दर्शन से यह घबरा गई थी, मैं चुप कराता था।" कुमारी बोली इसका विश्वास न कीजिए। मैं इसके चरणस्पर्श कर रही थी तब इसने मुझे पकड़ लिया। तब मैं चिल्लाई। आह ! मुझे पिता के पास ले चलो। जमादार साहब को तो गुसाईं जी से समझौता करते छोड़ा और मैं उस कुमारी को सीधा उसके पिता के पास ले गया जो उसे नीचे न पाकर ऊपर तलाश कर रहे थे। मालूम होता है कि ये सब फैले हुए घूम रहे थे कि वह अधेड़ स्त्री

कुमारी को कृष्णा पूजा के लिए अन्दर ले गईं स्वयं गुसाईं जी के चरणस्पर्श करके अलग हो गई और कुमारी को चरणस्पर्श के लिए आगे बढ़ा दिया। यह वही दक्षिणी डिप्टी कलेक्टर थे जो मेरे साथ आये थे। उनको बड़ा दुःख और क्रोध हुआ। उसी समय गुसाईं जी के यहां से उठकर दूसरे मकान में चले गये। मुझसे उन्होंने कहा कि इस मूर्त्ति पूजा से ही उनका विश्वास उठ गया है और वह अब अन्य किसी तीर्थ पर न ठहर कर सीधे अपने देश चले जायेंगे।

विवाह में उत्सुकता और निराश लौटना

मथुरा से चलते ही विवाह की धुन ने सब कुछ भुला दिया। इंगलिश कवियों और उपन्यास लेखकों का सत्संग साथ था। मैने अपनी भविष्य की धर्म-पत्नि के विषय में उत्तम से उत्तम उपन्यास की नायिका की कल्पना कर ली। मैने अपनी धर्मपत्नि के लिए बहुत से सामान इकट्ठे किये थे और समझ लिया कि आगामी प्रेममय जीवन आनन्द का कटेगा। जन्मभूमि में पहुंच कर माताजी का स्मरण आया। मेरे आंसू भर आये। मेरी सबसे बड़ी भोजाई मुझ से ३० वर्ष बड़ी थी। उन्होंने आंसू पोंछे और माथे को चूम कर मुझे शान्त किया। मैने उनको माता के रूप में स्वीकार किया। वधु की आयु बारह वर्ष की थीं कहारिन के संरक्षण में उसे जालन्धर से तलवन लाया गया । मैं उससे गांठ जोडे नाई, ब्राहमण, मुसलमान पीर कबर और देव मन्दिरादि में शकुन और आशीर्वाद प्राप्त करने की खातिर लिए फिरा। मुझे उसका मुख देखना भी नसीब न हुआ और ससुराल का बूढा सिर्त उसे विदा करा के ले गया। पिताजी तो चले गए थें और मुझे डेढ मास पीछे बरेली पहुंचाने को कह गए।

मैं विवाह के धूमधड़क्के से निवृत्त होकर बहुत ही निराश हुआ। मैंने समझा था कि वधु युवा मिलेगी। परन्तु वह अभी बाल्यावस्था में ही थी फिर यह निश्चय किया कि मैं उसे स्वयं पढाऊंगा और इस विचार ने मुझे बहुत सन्तोष दिया। परन्तु

उसे मुझसे मिले बिना ही बिदा होना पड़ा । फिर कुछ धैर्य बंधा जब सुना कि महीने पीछे मुकलावा (द्विरागमन) होगा। उस बार भी दो दिन घर रखकर, बिना मुझसे परिचय कराये ही बड़े भाई साहब ने बिदा कर दिया।

मैंने उसी समय बालविवाह की कुप्रथा के भयंकर परिणाम अनुभव किये थे और इसीलिए आर्यसमाज में प्रवेश करते ही मैंने इसके संशोधन में बड़ा भाग लिया। मेरा निश्चय है कि यदि उस समय विवाह का ख्याल ही मेरे अन्दर न डाला जाता तो काशी से ग्रेजुएट बनकर मैं किसी अन्य ऊंची दशा में चला जाता। कम से कम यदि धर्मपत्नी की आयु १६ वर्ष की होती और परस्पर की प्रसन्नता से आंखें खोलकर विवाह होता तो मैं उस अन्धकूप में गिरने से बच जाता जिसमें आगामी दो अढाई वर्ष गिरा रहा।

बरेली में अढ़ाई साल का घोर अन्धकारमय जीवन

बरेली में संवत् १६३४ के आश्विन में मै पहुंचा और चैत्र संवत् १६३७ में पिताजी के साथ खुर्जे चला गया । इस अढाई साल के जीवन पर पर्दा ही पड़ा रहता तो मैं सन्तुष्ट होता। परन्तु मुझे अपने जीवन की घटनाओं को स्पष्ट खोलकर इसलिए रख देना है कि मेरे देश के युवक उससे शिक्षा पाकर संसार यात्रा के अंदर गढों और ठोकरों से बच सकें। पहिले तीन महीनों में ही बरेली की हवा ने मुझे चारों ओर से घेर लियां मैंने चाहा था कि देश से सीधा बनारस का रास्ता पकड़ूं, परन्तु पिताजी ने बरेली बुला लिया । वहां पहुंचकर उन्होने कहा कि दस दिन और ठहर कर जाना इस अन्तर में मेरे कई मित्र उत्पन्न हो गयें। बरेली के रईसों का उस समय विश्लेषण यह था कि चाहे कितना ही धनाढ्य क्यों न हो जब तक उसके यहां कम से कम दो घोडों वाली एक चौपहिया गाड़ी घर में डाली हुई एक वेश्या नही और कुछ हजार रूपया ऋण न उठा

चुका हो तब तक वह सेठ साहुकार जमीदार भले ही कहलावे, रईस पदवी का अधिकारी नही बनता था। मेरे पहिले मित्र राय छदम्मीलाल साहब कायस्थ बने जिनके यहां चार पांच फिटनगाड़िया थी, दो हाथी बंधें रहतें थें और जिन्होने घर में एक के स्थान में दो वेश्याएं डाल रक्खी थीं। उस समय अभी ऋणी नही हुए थे परन्तु पीछे लाखों का ऋण उठाकर मरने से पहले बहुत सी जायदाद (ग्राम और महल) ठिकाने लगा गये और भी साधारण रईस मित्र बने, परन्तु सबसे अधिक गाढे मित्र हकीम लल्लाजी थे जिनका मकान और बगिया (वाटिका) हमारे दर्जी चौक वाले घर के साथ ही लगे हुए थें। रईसों के यहां तो रूपया खर्च कर नाच मुजरे होते और शराब के दौर उड़ते परन्तु लल्लाजी सब रामजनी (हिन्दुस्तानी) वेश्याओं का बिना पैसा कौड़ी लिए इलाज करते थे, इसलिए वह जब आज्ञा देते तो उनके यहां मुफ्त मुजरा ही न होता प्रत्युत मिठाई आदि भेंट भी पहुंचती एक और बात थी । लल्लाजी की बगिया में अनार का पेड था जिसके साथ नई वेश्या का विवाह कराने को लाते थे। साठ बरस की उमर, ठिकना कद, बदन सुर्ख और सफेद डण्ड चढे हुए कसरती बदन और उमंगे सब जवानों की सी नाम तो नन्दकिशोर था, परन्तु छुटपन से लल्लाजी ही प्रसिद्ध थे। मैं बहुत बीमार हो गया था, वैद्य और डाक्टर ने अपनी दवाइयों से और बिगाड़ दिया। काढों और अंग्रेजी दवाइयों से मुझे पहले ही घृणा थी। मैंने जुएखाने में आदमी भेज हकीम लल्ला जी को बुलाया। आये और नाडी देखी, तो तीन खरी खोटी वैद्य डाक्टर को सुनाई, गुलाबजल में बिही का शर्वत मिला और एक आध माशें की पुडिया उसमें घोल पिला दी दूसरे दिन में साफ हो गया निर्बलता रह गयी थी, उसके लिए एक स्वादिष्ट चटनी बना दी जो एक दिन में छः सात बार चाटने से दूसरे दिन उठकर स्नान किया और चटनी चाटकर बाहर घूमने चला गया और तीन मील का चक्कर लगाकर लौटा।

हकीम लल्लाजी के जुए की फड़ को संवत् १६१६में पिता जी ने पकड़ कर सजा कराई थी । अब तक जुए की लत ऐसी लगी रही कि जुएखानों का दरवाजा नही छोडतें थें। प्रातःकाल के पीछे लोग बीमारों को लेकर जुएखाने पहुंचा करते थें हकीम साहब के हाथ में "कापतेन" और दूसरे हाथ में बीमार की नब्ज। उधर पौ बारह की गूंज उठी उधर नुस्खा लिखा गया। हकीम मार्के का, दिल्ली के प्रसिद्ध हकीम महमूद खां सहपाठी था, परन्तु था पक्का लठैत बदमाश और जुएबाज। और बदमाशी तो दूर हो गई जुए की लत ने अभी तक पीछा न छोडा। मैंने कहा कि यदि मेरे साथ सम्बन्ध रखना है तो जुए को अन्तिम प्रणाम कर लो। बहादुर लल्ला ने मुझ से प्रतिज्ञा की और निभाया भी। फल यह हुआ कि उससे सैकडों उन बीमारों को लाभ पहुंचा जो उसके इलाज से वंचित रहते थें और उसकी स्थिर आय भी बहुत बढ गई।

इलाहाबाद कालिज में एक वर्ष (सं० 1935 वि०)

ऊपर लिखी अवस्था हो चुकी थी। पहिले पिता जी ने मोहवश जाने न दिया और अब मैं हिलना नहीं चाहता। राय साहब की फिटन नित्य सवारी के लिये हाजिर, नाच रंग बिना कोई सप्ताह खाली न जाता, और फिर पिता जी के मातहत पांचों थानों पर हुकूमत ऐसा चढा हुआ नशा मुश्किल से उतरता है। गुसाई जी ने सच कहा है "उस नर को उपज्यों जगमाही। प्रभुतापाय काहि मद नाहि।"

दिसम्बर ऐसे बीता। संवत् १६३५ वि०का-पौष मास आ पहुंचा । मैने काशी में निचली श्रेणी के साथ पढने में संकोच किया। इलाहाबाद (प्रयाग) को प्रस्थान कर दिया । पिता जी ने वहां के कोर्ट इन्सपेक्टर मुन्शी भैरोदयाल के नाम पत्र दिया था। वह कटरा में रहतें थें। मुझे भी उसी शहर से अलग मुहल्ले में स्थान किराये पर ले दिया और मैं म्योर सेण्ट्रल कालिज

इलाहाबाद में दाखिल हो गया। उस समय कालिज का अपना भवन न था, एक कोठी में कालिज लगता था जिसे लाउदार कासल कहते थें। अब वह कोठी अहाते सहित महाराजा दरभंगा ने खरीदी हुई है।

मैं म्योर कालिज में दाखिल हो गया। फिर जीवन में परिवर्तन आ गया। मद्यपान से एक दम मुक्त हो गया । नियम पूर्वक पढाई शुरू हो गई । मैं कालिज की द्वितीय वर्षीय कक्षा में फिर सम्मिलित हुआ। अंग्रेजी प्रिंसिपल हैरिसन पढाते थें । गणित के अध्यापक प्रोफसर वूफ्लावर थे जिनकी नजाकत की धूम थी। उन का रेशमी रूमाल लेवेण्डर की सुगन्ध से पूरित रहता था। प्रोफेसर हिल रसायन पढाते थे। उन्होने संयुक्त प्रांत में पहल रस क्रिया भवन खोला था। फारसी के प्रोफेसर मौलवी थे, जकाउल्ला देहली वाले और संस्कृत के पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य, जो पीछे हिन्दू युनिवर्सिटी के प्रो-वाइस चांसलर हो गयें थे। उपाध्याय मन्डल बड़ा उत्तम था। छः महीनों तक जीवन समावस्था में चला। वाग्वर्धिनी सभा में भी विशेष भाग लिया। प्रत्येक सप्ताह किसी विषय पर एक भाई निबन्ध पढता और शेष विद्यार्थी विवाद में भाग लेते। मिस्टर सवरूयद महमूद और पण्डित अयोध्यानाथ के बड़े विद्वतापूर्ण व्याख्यान भी अपनी सभा में कराए। प्रोफेसर हिल मुझ से विशेषतः प्रसन्न थे क्योंकि मैं न केवल रसायन की क्रिया प्रयोग में ही कालिज के समय से पीछे उनका सेवक रहता, प्रत्युत कंकड़ालोजी में भी उनका साथ देता।

मेरे पाठक पूछेगें कि और आलोजी तो बहुत सुनी है , यह कंकड़ालोजी क्या बला है। मै बतलाए देता हूँ। प्रो० हिल छुट्टियों में चुनार आदि पहाडों में जातें और विविध प्रकार के पत्थर कंकड जमा करते और सबके जुदे जुदे गुण लिखकर एक अलमारी में रखते जाते। मैंने भी अपने भाई मूलराज जी थानेदार कौन जिला मिर्जापुर को लिख कर कई प्रकार के पत्थर मंगाये थे। उन्हें प्राप्त करके मेरे विद्याप्रिय प्रोफेसर मुझ

पर बडे प्रसन्न थे और रस क्रिया भवन का एक सहायक मैं भी समझा जाता था। अपने अधिकार का लाभ अपने मित्रों को भी पहुंचाया करता। सोडावाटर भरने की छोटी मशीन तजरूबे दिखाने की मंगाई थी। हिल साहब के आने से पहले कई बार सोडावाटर खीच कर मित्रों को पिलाया। इस प्रकार सारा समय विद्या की चर्चा में ही व्यतीत होता था। प्रतापचन्द्र मोजुमदार आए, अन्य व्याख्याता आये, कोई भी व्याख्यान सुने बिना न छोड़ा। पढाई भली प्रकार चली।

गर्मियों की छुट्टी होते ही बरेली को चल दिया। मार्ग के कानपुर उतर कर ऊंट गाडी में हमीरपुर पहुंचा। उस जिले के एक थाने में भाई आत्माराम थानेदार थे। घोड़े की सवारी ले वहां पहुंचा और पांच छः दिन उनके पास काट कर फिर कानपुर लौट आया। कानपुर से लखनऊ और फिर बरेली पहुंच कर एक महीना पिता जी के पास कांटा। इस बार अंग्रेजी के मनोविज्ञान शास्त्र का स्वाध्याय शुरू किया था और कुछ प्रारम्भिक पुस्तकें साथ ले गया था। कालिज में रसायन के साथ न्याय का विचित्र मेल था, इसलिए न्याय को सार्थक करने के लिए मनोविज्ञान का उसके साथ मेल कर दिया।

बरेली में इस बार मद्यप नाच रंग के प्रेमी मित्रों से अधिकतर किनारा ही था। प्रातः भ्रमणनार्थ पैदल जाकर छः वा सात मील का चक्कर लगा आता, और सायंकाल को अपनी वेगनट गाड़ी में छावनी की ओर हवा खाने जाता। पिता जी ने अपने लिये बरेली कोर्ट और परिवार के लिये वेगनट गाड़ी बनवा ली थी। वेगनट में जो मुश्कन घोड़ी जुतती थी वह बड़ी जबरदस्त थी। नौ सवारियां बैठा और एक रईस पीछे खडा करके मैं अपनी गाड़ी कई बार तेज जोड़ियों से भी आगे निकाल ले जाता। एक बार बग्घियों की दौड़ में भी मुश्कन ने इनाम लिया था। वेगनट का नाम मैंने कुलघसीटन रख छोड़ा था क्योंकि कई बार जब परिवार के सात वा आठ प्राणी

विद्यमान थें, उन सबको चढ़ा कर हवा खिलाई थी। छुट्टियां समाप्त करके मै प्रयाग लौटा। फिर पढ़ाई चल पड़ी परन्तु मैं मनोविज्ञान की पुस्तकों में ऐसा निमग्न हुआ कि परीक्षा की तैयारी की सुध भी भुला दी। परीक्षा दिसम्बर के प्रथम सप्ताह में होने वाली थी, नवम्बर आ पहुंचा और मै अभी अन्य उधेड़बुन में लिप्त था। उससे कैसे छुटकारा पाकर मैं परीक्षा की तैयारी में लगा – इसकी कहानी शिक्षादायिनी है।

अहिंसा की प्रबल विजय

मै बतला चुका हूं कि मै विचित्र नास्तिक था जो योगाभ्यास और उसकी विभूतियों पर विश्वास रखने वाला था और साथ ही हठ प्रक्रियाओं का प्रयोग भी करता था। बरेली में और वहां से लौट कर प्रयाग में कुछ विशेष परिश्रम किया, परन्तु कुपथ के कारण बीमार हो गया। मैने सुना कि त्रिवेणी पार झुंसी के जंगल में एक महात्मा रहते है जिनके वश में एक शेर है। दिन को अन्तर्धान रहते है, रात को उनके दर्शन हो सकते है। मैं अपने मित्र बुद्धसेन तिवारी सहित जिनको मेरी संगत ने ही योग की ओर ओर झुकाया था, सिदौसी भोजन से निवृत्त होकर शाम को पार उतर गया। इधर उधर घूमते हुए दस बजे आश्रम के समीप पहुंचे। एक वृद्ध केवल कोपीनधारी महात्मा को समाधिस्थ मैदान में बैठे देखा। तीन बजे तक न उनकी समाधि खुली और न हमारी आंख झपकीं। तीन बजे के लगभग शेर की गरज सुनाई दी फिर वह सीधा महात्मा की ओर आता दिखाई दिया। समीप पहुंचने पर उनके पैर चाटने लगा। महात्मा ने आंखे खोली, शेर के सिर पर हाथ फेरा और कहा – "बच्चा ! आ गया, अच्छा अब चला जा" शेर ने सिर चरणों में रख दिया, और उठ कर जंगल की राह ली। उस समय हम दोनों ने पैर छूकर महात्मा को प्रणाम किया और इस अद्वितीय विभूति पर आश्चर्य प्रकट किया। महात्मा का उत्तर कभी नहीं भूलता – यह कोई विभूति नही है बच्चा ! इस शेर के किसी शिकारी ने गोली मारी

थी। इसके पैर में ऐसा घाव लगा कि यह चल नहीं सकता था और व्याकुलता से हृदयभेदक शब्द कर रहा था। शायद प्यासा था। मैने लाकर पानी पिलाया और जंगल से अपनी जानी हुई एक बूटी लाया और रगड कर इसके पैर में लगाई। घाव अच्छा होने लगा। जब तक मै दवाई लगाता रहता यह नित्य मैरे पैर चाटता रहता। जब सर्वथा निरोग हो गया तब भी इसका व्यसन नहीं छूटा। नित्य मेरी उपासना की समाप्ति पर आ जाता है। सुनो बच्चा ! अहिंसा का अभ्यास और सेवा व्यर्थ नहीं जाते। यह सुन कर हम पर जो प्रभाव पड़ा वर्णन नहीं किया जा सकता। मैंने अपने साधनों और बीमारी की कहानी सुनाई। महात्मा ने बतलाया कि हठयोग की क्रियाएं शरीर के लिए हानिकारक सिद्ध होती है और कैवल्य के मार्ग से विमुख कर देती हैं। तुम राजयोग का अभ्यास करो और इनको छोड़ दो। बीमारी के दूर करने को उन्होंने ब्राह्मी बूटी का एक विशेष सेवन बतलाया। उन्हे मालूम हो गया कि मेरी परीक्षा समीप है और इसलिए आज्ञा दी कि जब मैं परीक्षा से निवृत्त होकर उनकी सेवा में उपस्थित हूंगा तब वह मुझे राजयोग का उपदेश करेंगे।

परीक्षा का परिणाम

परीक्षा आरम्भ होने में पूरा एक महीना बाकी था। फिर इन्ट्रेन्सवाला प्रयोग दोहराया गया। इस बार एक घण्टे पहिले भी पढ़ना न छोडा। व्यायाम बन्द हो गया था। रात को तीन घण्टों से अधिक नींद नही लेता था। तबीयत गिरी हुई सी रहने लगी। पहले तीन दिनों के पर्चे बहुत अच्छे किए। अंग्रेजी, फारसी, गणित में उत्तम परिणाम निकलने की आशा हुई। तीसरी रात प्रत्यक्ष ज्वर हो आया। प्रातः उसे दबा और स्नान भोजन करके फिर परीक्षा भवन को चल दिया। प्रातः न्याय का प्रश्न पत्र मिला। ६ में से ५ प्रश्नों के ही उत्तर लिखे थे कि ज्वर जोर कर आया। आंखें बन्द हो चली। मैं उठ कर रस क्रिया भवन के बरामदे में बेंच पर जा लेटा। प्रोफेसर हिल ने देखा तो ले जाकर पुस्तकालय की मेज पर डाल दिया। डाक्टर को बुला

कर यत्न कराया कि मे किसी प्रकार रसायन का पर्चा कर सकूं। परन्तु —

'मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की'

मुझे सरसाम हो गया था। चार बजे हिल साहब की बग्घी में डेरे पर लाया गया। मुन्शी भैरोंदयाल जी से इलाज कराया। तीसरे दिन ज्वर उतरा और मैं निर्बल अवस्था में ही बरेली को चल दिया। महात्मा से राजयोग की शिक्षा प्राप्त करने का मामला बीच में ही रह गया। परिणाम जब निकला तो प्रथम तीन विषयों में ७० प्रतिशत लब्धांक निकले न्याय में ५० से २५ और रसायन में शून्य। इन दोनों में इकट्ठे उत्तीर्ण होना चाहिए था। यदि रसायन के ५० में से ८ भी मिल जाते तो एफ०ए० में पास हो जाता। हिल साहब ने युनिवर्सिटी के साथ पत्र व्यवहार भी किया, परन्तु कुछ हो नही सकता था।

बरेली में घोर अन्धकारमय जीवन

प्रयाग का वर्ष मेरे लिए कलियुग में त्रेता की लड़ी के समान बीत गया। जनवरी १८७६ में फिर अच्छा स्वास्थ्य लेकर प्रवेश किया परन्तु परीक्षा की अकृतकार्यता का 'गम गलत' करने के लिए शराब के प्याले में उसे बहाने की कोशिश की। पहले पहल नाचादि से तो किनारा ही रखा परन्तु रात को ' एक्स नम्बर वन' ब्रांडी की बोतल खोल और गिलास मेज पर रख कर बारह बजे तक लुक आन ह्यूमन अण्डरस्टैंडिग और बेकन्स एडवांसमेंट आफ लरनिंग एण्ड ऐस्सेंज' ऐसी मस्तिष्क को हिलाने वाली पुस्तकों के पाठ में बिताया। इधर सिद्धान्त में पर सिद्धान्त योजना और उधर गिलास कर गिलास को गले से नीचे उतारता ! एक सप्ताह के पश्चात ही शयन समय तक पूरी बोतल समाप्त हो जाने लगी। उधर छावनी के पारसी का बिल बढने लगा और इधर फिर से रईसों की महफिलों में शरीक होने लगा। पिता जी प्रातः पूजा पाठ करके कोतवाली को चले

जाते। दिन का भोजन वहीं जाता। रात को ८ बजे लौटकर भोजन से निवृत हो ६ बजे सो जाते। पीछे सारी रात मेरे अधिकार में ही होती। मेज पर किताबें पड़ी देख पिताजी यही समझते रहे कि मैं दूसरे वर्ष की परीक्षा के लिए पुस्तके देखता रहता हूं। इस प्रकार का जीवन पूरे सात मास तक चला तब मालूम हुआ कि यदि एफ०ए० की पुनः परीक्षा देनी हो तो किसी कालिज के द्वारा ही दी जा सकती है। गाढी कम्पनी के सभासद् रमाशंकर मिश्र एम०ए० सर सरूयद अहमद के नये महम्मदन कालिज अलीगढ के गणितोपाध्याय थे। उन्हें पत्र लिखा। वह बड़े प्रसन्न हुए और बुला लिया। प्रोफेसर का ही मैं अतिथि बना। वह भी खूब पीने लग गए थे। उस समय सभी कालिज के अमीर विद्यार्थियों का शासन कठिन हो रहा था।

मेरे अलीगढ पहुंचने से तीन दिन पीछे कालिज खुला। इतने दिन भाई रमा की सितार का आनन्द लिया और एक बार उनके बंगले में मुजरा भी हो गया। कालिज तो खुला, परन्तु अलीगढ़ में हैजा फूट निकला था। एक मास फिर छुट्टी हो गई और मै फिर बरेली लौट आया। बरेली लौटकर दो तीन दिन पीछे एक विवाह की दावत में लाला भाइयों ने निमंत्रण दिया। हमारा मुहल्ला दर्जी चौक में था और उसमें कायस्थों के सिवाय शायद एक दो हमसे ही किरायेदार रहते थे। विवाह वाला घर हमारे साथ लगता ही था। महफिल में जाते ही कुल्हड़ मिला। औरों के यहां आम प्याला चलता है, लाला भाइयों के यहां बढ़िया से बढ़िया शराब भी कुल्हडों में ही परोसी जाती है । शायर ने उदार लाला भाइयों की प्रशंसा में क्या ही अच्छे शेर कहे है –

दादा के लला हैं बडे आली हिम्मत।
कि थर्रात है जिनसे रूस्तम को दादा।।

वे अपना पियत नाई निसफो कुचरिया।
रफीकन को बखशत है मटकन के मटका।।

लगा ठर्रे का दौर चलने। पहिला कुल्हड आधा खाली करके मैने शेष शराब चुपके से गिरा दी । विचित्र दशा देखी। दोनों समधी दावत में शरीक थे। लड़की के पिता की जांघ पर दस वर्ष का दुल्हा बैठा, और लडके के पिता की गोद में नौ बरस की लड़की बैठी। उन दोनों को भी साथ के साथ पिलाते गए। ऊपर ललाइनों में भी दौर चल रहा था। इधर नीचे नाच हो रहा था। वेश्या को भी शराब पीने के लिये मजबूर किया गया। उसने मुंह लगाकर सारंगी वाले की सहायता से पीछे उड़ेल दिया। रण्डी भड़वे घबरा गये और छुटकारे की सोचने लगे। इतने में एक बुढऊ उठे और पतुरिया (वेश्या) का हाथ पकड़ नाचने लगे। ऊपर छत से ढोलक बजने और ताली पिटने लगी। मुझे अकेले को होश में देखकर रण्डी-भडुओ ने हाथ बांध-कर रिहाई की दरखास्त की। मैंने बुढऊ का दूसरी ओर ध्यान खींचा। हाथ छुटते ही रण्डी भडुए सब निकल भागे। तब एक वमन हुआ और मुझे घृणा हुई। मैं मार्ग वालों को डांट कर बाहर निकल गया और चलते हुऐ बाहर की कुण्डी लगा दी। यह दृश्य बडा घृणित था, परन्तु घर में उस रात पिताजी न थे। एक विशेष डाके की खबर सुनकर कोतवालजी सोये थे। मैंने लौटकर एक नई शराब का जाम पिया जो उसी दिन खरीदकर लाया था। उसने अन्धा कर दिया और मैं अपने जीवन में दूसरी बार ऐसा पतित हुआ कि पुरानी गिरावट का संस्कार फिर जाग खडा हुआ। छः घण्टे बेहोश सा पड़ा रहा, परन्तु आत्मा में कोलाहल मचा हुआ था। अभी अन्धेरा ही था जब उठकर विवाह वाले घर का कुण्डा खोल दिया प्रातःकाल भ्रमणार्थ दूर निकल गया और एकान्त में बैठकर अनुताय करता रहा। उस दिन शाम को लौटकर ही भोजन किया।

दूसरे दिन से ही काया फिर पलट गई। नाच, तमाशे, दावतों में जाना बन्द हुआ। रात को फिलासोफी का स्वाध्याय शुरू हो गया। बोतल और गिलास भी कुछ काल के लिये विदा हो गये।

ऋषि दयानन्द का सत्संग

"नावमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेघया न बहुनाश्रुतेन।"

१४ श्रावण संवत् १६३६ के दिन स्वामी दयानन्द बांसबरेली पधारे। ३ भाद्रपद को चले गए। स्वामी जी महाराज के पहुंचते ही कोतवाल साहब को हुकुम मिला कि पण्डित दयानन्द सरस्वती के व्याख्यानों के अन्दर फिसाद को रोकने का बन्दोबस्त कर दें। पिताजी स्वयं सभा में गये और स्वामी जी महाराज के व्याख्यानों से ऐसे प्रभावित हुए कि उनके सत्संग में मुझ नास्तिक की संशय निवृत्ति का उन्हें विश्वास हो गया। रात को घर आते ही मुझे कहा – "बेटा मुन्शीराम ! एक दण्डी संन्यासी आए हैं, बड़े विद्वान और योगीराज हैं। उनकी वक्तृता सुनकर तुम्हारे संशय दूर हो जायेंगे। कल मेरे साथ चलना।" उत्तर में कह तो दिया कि चलूंगा परन्तु मन में वही भाव रहा कि केवल संस्कृत जानने वाला साधु बुद्धि की बात क्या करेगा। दूसरे दिन बेगम बाग की कोठी में पिताजी के साथ पहुंचा जहां व्याख्यान हो रहा था। उस दिव्य आदित्य मूर्ति को देख श्रद्धा उत्पन्न हुई, परन्तु जब पादरी टी० जे० स्काट और दो तीन अन्य यूरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा तो श्रद्धा और भी बढ़ी। अभी दस मिनट वक्तृता नहीं सुनी थी कि मन में विचार किया – "यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्तियुक्त बातें करता है कि विद्वान् दंग हो जायं।" व्याख्यान परमात्मा के निज नाम ओ३म् पर था। वह पहले दिन का आत्मिक आनन्द कभी भूल नहीं सकता। नास्तिक रहते हुए भी आत्मिक आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था।

उसी दिन दण्डी स्वामी से निवेदन किया गया कि टाउन हाल मिल गया है इसलिए कल से व्याख्यान वहां शुरू होंगे। स्वामी जी ने उच्च स्वर से कह दिया कि सवारी समय पर पहुंच जाया करेगी तो वह तैयार मिलेंगे।

टाउनहाल में जब तक "नमस्ते", "पोप" "पुराणी, जैनी, किरानी, कुरानी," इत्यादि परिभाषाओं का अर्थ बतलाते रहे तब तक तो पिताजी श्रद्धा से सुनते रहे, परन्तु जब मूर्ति पूजा और ईश्वरावतार का खण्डन होने लगा तो जहां एक ओर मेरी श्रद्धा बढ़ने लगी वहां पिताजी ने तो आना बन्द कर दिया ओर एक अपने मातहत थानेदार की ड्यूटी लगा दी। २४ अगस्त की शाम तक मेरा समय विभाग यह रहा कि दिन का भोजन करके दोपहर को ही बेगम बाग की कोठी पहुंच ड्योढ़ी पर बैठ जाता २ और ४ बजे के बीच में जब ऋषि का दर्बार लगता तो आज्ञा होते ही जो पहला मनुष्य आचार्य्य ऋषि को प्रणाम करता वह मैं था प्रश्नोत्तर होते रहते और मैं उनका आनन्द लेता रहता। व्याख्यान के बाद २० मिनट तक सब दर्बारी बिदा हो जाते और आचार्य्य चलने की तैयारी कर लेते। मैं अपनी बेगनट पर सीधा टाउनहाल पहुंचता। व्याख्यान का आनन्द उठाकर उस समय तक घर न लौटता जब तक कि आचार्य्य दयानन्द की बग्घी उनके डेरे की ओर न चल देती। २५, २६, २७ अगस्त को ऋषि दयानन्द के पादरी स्काट के साथ तीन शास्त्रार्थ हुए। विषय प्रथम दिवस पुनर्जन्म द्वितीय दिन ईश्वरावतार और तीसरे दिन यह था कि मनुष्य के पाप बिना फल भुगते क्षमा किये जाते हैं या नहीं। पहले दो दिन लेखकों में मैं भी था। परन्तु दूसरी रात को मुझे सन्निपातज्वर हो गया और फिर आचार्य दयानन्द के दर्शन मैं न कर सका। ३० श्रावण से ६ भाद्रपद (१५से २५ अगस्त) तक ऋषि जीवन सम्बन्धी अनेक घटनाएं मैंने देखीं जिनमें से उन्हीं कुछ एक को यहां लिखूगां जिनका प्रभाव मुझ पर ऐसा पड़ा कि अब तक मेरी आंखों के सामने घूम रही है।

मुझे आचार्य दयानन्द के सेवकों से मालूम हुआ कि वह नित्य प्रातः शौच से निवृत्त होकर, केवल कौपीन, पहिरे लट्ठ हाथ में लिये, ३ बजे बाहर निकल जाते है और ६ बजे लौटकर आते है। मैंने निश्चय किया कि उनका पीछा करके देखना

चाहिए कि बाहर वह क्या करते है। दबदब–ए कैसरी अखबार के एडिटर भी मेरे साथ हो लिये। ठीक ३ बजे बाहर निकलकर आचार्य चल दिये हम पीछे हो लिये। पाव मील धीरे-धीरे चलकर वह इस तेजी से चले कि मुझसा शीघ्रगामी जवान भी उन्हें निगाह में न रख सका। आगे तीन मार्ग फटते थे। हमें कुछ पता न लगा कि किधर गये। दूसरे प्रातःकाल हम अढाई बजे से ही घात में उस जगह छिपकर जा बैठे जहां से तीन मार्ग फटते थे। उस विशाल रूद्र मूर्ति को आते देखकर हम भागने को तैयार हो गये वह तेज चलते थे और मैं पीछे भाग रहा था। मेरे पीछे बनिये एडिटर भी लुढकते-लुढकते आ रहे थे। बीच में एक आध मील दौड भी रूद्र स्वामी ने लगाई। परन्तु वहां मैदान था मैंने भी उनको आंख से ओझल न होने दिया अन्त में पाव मील धीरे धीरे चलकर एक पीपल के वृक्ष तले बैठ गये। घड़ी से मिलाया तो पूरे डेढ़ घण्टे आसन जमाये समाधि में स्थित रहे। प्राणायाम करते नही प्रतीत हुए, आसन जमाते ही समाधि लग गयी। उठकर दो अंगडाइयां लीं और टहलते हुए अपने तत्कालीन आश्रम की ओर चल दिये।

एक शनीचर के व्याख्यान के पीछे श्रोतागण को बतलाया गया कि दूसरे दिन (आदित्यवार को) नियत समय से एक घण्टा पहले व्याख्यान शुरू होगा। आचार्य ने उसी समय कह दिया कि यदि सवारी एक घण्टा पहले पहुंचेगी तो मैं उसी समय चलने को तैयार रहूंगा। आदित्यवार को लोग पिछले समय से डेढ घंटे पहले ही जमा होने लगे। हाल (व्याख्यान–भवन) खचाखच भर गया परन्तु आचार्य न पहुंचे। पाव घण्टा आध घण्टा भी बीत गया परन्तु बग्घी की धडधड़ाहट न सुनायी दी। पौन घण्टा पीछे ऋषि दयानन्द की विशाल मूर्ति उन्हीं वस्त्रों से अलंकृत जो उनके चित्र में दिखाये जाते हैं, ऊपर चढती दिखायी दी। मध्य की डाट के नीचे वाली एक ओर की दीवार में सोटा टेक कर, ईश्वर प्रार्थना के लिए बैठने से पूर्व उन्होंने कहा – "मैं समय पर तैयार था। परन्तु सवारी न आई। बहुत

प्रतीक्षा के पीछे पैदल चल दिया। मार्ग में पिछले नियत समय पर ही सवारी मिली। इसलिए देरी हो गई। सभ्य पुरूषो ! मेरा कुछ दोष नही है। दोष बच्चों का है जो प्रतिज्ञा करके पालन करना नहीं जानते।" यह संकेत खजान्ची लक्ष्मीनारायण की ओर था जिनके अतिथि होकर उनकी बेगम बागवाली कोठी में स्वामी दयानन्द रहते थे। बाबू लक्ष्मीनारायण सरकारी पांच खजानों के खजान्ची थे और बरेली में उस समय करोड़पति समझे जाते थे।

एक व्याख्यान में वह पौराणिक असम्भव तथा आचार भ्रष्ट कहानियों का खण्डन कर रहे थे। उस समय पादरी स्काट, मिस्टर एडवर्डस कमिश्नर, मिस्टर रीड कलेक्टर, १५ वा २० अंग्रेजों सहित उपस्थित थे। आचार्य ने अन्य कहानियों में पंचकुंवारियों की कल्पना कर कटाक्ष किया और एक से अधिक पति रखने वाली द्रोपदी, तारा, मन्दोदरी आदि के किस्से सुनाकर श्रोतागण के धार्मिक भावों की अपील की। स्वामी जी के कथन में हास्यरस अधिक होता था, इस लिए श्रोतागण थकते न थे। साहब लोग हंसते और आनन्द लूटते रहे। फिर आचार्य बोले – "पुरानियों की तो यह लीला है, अब किरानियों की लीली सुनो ! यह ऐसे भ्रष्ट हैं कि कुमारी के पुत्र उत्पन्न होना बतलाते, फिर दोष सर्वज्ञ शुद्ध स्वरूप परमात्मा पर लगाते और ऐसा पाप करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं होते।" इतना सुनते ही कमिश्नर और कलेक्टर के मुंह क्रोध के मारे लाल हो गये परन्तु आचार्य का भाषण उसी बल से चलता रहा और अन्त तक ईसाई मत का ही खण्डन होता रहा।

दूसरे दिन प्रातः काल ही खजान्ची लक्ष्मीनारायण को कमिश्नर साहब के यहां बुलावा आया। साहब ने कहा अपने पण्डित स्वामी को समझा दो कि सख्ती से काम न लिया करे। हम ईसाई तो सभ्य हैं, वाद-विवाद की सख्ती से नही घबराते परन्तु यदि जाहिल हिन्दू-मुसलमान भड़क उठे तो तुम्हारे पण्डित

स्वामी के व्याख्यान बन्द हो जायेंगे। खजान्ची जी यह सन्देश आचार्य तक पहुंचाने की प्रतिज्ञा करके लौटे। खजान्ची जी चाहते थे कि बात छेड़ने वाला कोई अन्य मिल जाये जिससे वह आचार्य की झाड से कुछ-कुछ बच जायं। जब कोई खड़ा न हुआ तो मुझ नास्तिक को आगे किया गया। परन्तु मैंने यह कहकर अपना पीछा छुड़ाया कि खजान्ची साहब कुछ कहना चाहते है क्योंकि कमिश्नर साहब ने उनको बुलाया था। अब सारी मुसीबत खजान्ची जी पर टूट पड़ी। खजान्ची साहब कहीं सिर खुजाते है, कहीं गला साफ करते है । पांच मिनट तक आश्चर्ययुक्त रह कर आचार्य बोले – 'भाई तुम्हारा तो कोई काम करने का समय ही नियत नहीं, तुम समय के मूल्य को नहीं समझते। मेरे लिए समय अमूल्य है। जो कुछ कहना हो कह दो।' इस पर खजान्ची जी बोले – महाराज ! अगर सख्ती न की जाय तो क्या हर्ज है ? असर भी अच्छा पड़ता है। अंग्रेजों को नाराज करना भी अच्छा नहीं – इत्यादि इत्यादि।' बडी कठिनाई से अटक-अटक कर ये वचन गरीब के मुंह से निकले। महाराज हंसे और कहा – "अरे ! बात क्या थी जिसके लिए गिड़गिड़ाता है। मेरा इतना समय भी नष्ट किया। साहब ने कहा होगा तुम्हारा पण्डित कड़ा बोलता है व्याख्यान बन्द हो जायेगे, यह होगा वह होगा। अरे भाई ! मैं हौवा तो नहीं कि तुझे खालूंगा उसने तुझ से कहा, तू सीधा मुझ से कह देता। व्यर्थ इतना समय क्यों गंवाया।' एक विश्वासी पौराणिक हिन्दू बैठा था, बोला – "देखो ! यह तो कोई अवतार है, मन की बात जान लेते है।"

उस शाम के व्याख्यान को कौन सुनने वाला भूल सकता है ? मैंने बड़े-बड़े वाग्विशारदों के व्याख्यान सुने हैं परन्तु जो तेज आचार्य के उस दिन के सीधे साधे शब्दों से निकल कर सारी सभा को उत्तेजित कर गया उसके साथ किसकी उपमा दूं। उस दिन आत्मा के स्वरूप पर व्याख्यान था। पूर्व दिवस के सब अंग्रेज पादरी स्काट के अतिरिक्त उपस्थित थे। व्याख्यान

में सत्य के बल का विषय आया। सत्य की व्याख्या करते हुये आचार्य ने कहा – "लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो कलक्टर क्रोधित होगा, अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे! चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हों, हम तो सत्य ही कहेंगे।" इसके पीछे एक श्लोक पढ़ कर आत्मा की स्तुति की। न शस्त्र उसे काट सके, न आग उसे जला सके, न पानी उसे गला सके और न हवा उसे सुखा सके। वह नित्य अमर है। फिर गरजते शब्दों में बोले – यह शरीर तो अनिसत्य है, इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नाश कर दे।" फिर चारों ओर तीक्ष्ण दृष्टि डाल कर सिंहनाद करते हुए कहा – किन्तु वह शूरवीर पुरुष मुझे दिखाओ जो मेरी आत्मा का नाश करने का दावा करे। जब तक ऐसा वीर इस संसार में दिखाई नही देता तब तक मैं यह सोचने के लिये तैयार नहीं कि मैं सत्य को दबाऊंगा वा नहीं। सारे हाल में सन्नाटा छा गया। रूमाल का गिरना भी सुनायी देता था।

व्याख्यान में कुछ देर हो गई थी। उठते ही ऋषि दयानन्द ने पूछा – भक्त स्काट आज दिखाई नहीं दिये।' पादरी साहब किसी व्याख्यान से भी अनुपस्थित न होते थे, और अलग भी प्रेम वार्तालाप किया करते थे, इस लिये ऋषि को उनसे बड़ा प्रेम हो गया था। किसी ने कहा, पास के गिरजे चेपल में आज उनका व्याख्यान था। सीढ़ियों के नीचे उतरते ही ऋषि ने कहा – "चलो, भक्त स्काट का गिरजा देख आवें।' अभी तीन चार सौ आदमी खड़े थे। वह सारी भीड़ लेकर गिरजा पहुंचे। वहां व्याख्यान समाप्त हो चुका था श्रोता सौ के लगभग थे। पादरी साहब नीचे उतर आये, स्वामी जी को वेदी पुलपिट पर ले गये और कहा कि कुछ उपदेश दीजिए। आचार्य ने खड़े-खड़े ही बीस मिनट तक मनुष्य पूजा का खण्डन किया।

एक दिन आचार्य को पता लगा कि खजांची जी का सम्बन्ध किसी वेश्या से है। उनके आने पर पूछा – 'तुम्हारा वर्ण क्या

है ? उन्होंने कहा – 'क्या कहूं आप तो गुण कर्मानुसार व्यवस्था मानते है।' आचार्य बोले – "यों तो सब वर्णसंकर हैं परन्तु तुम जन्म के क्या हो ?" उत्तर मिला कि खत्री। महाराज बोले – "यदि खत्री के वीर्य से वेश्या में पुत्र उत्पन्न हो तो उसे क्या कहोगे ?" खजांजी ने सिर नीचा कर लिया। इस पर महाराज ने कहा – सुनो भाई ! हम किसी का मुलाहजा नहीं करते। हम तो सत्य ही कहेंगे। खजांची जी ने उस वेश्या को कहीं अन्यत्र भिजवा दिया। एक अन्तिम घटना के साथ इस अपूर्व सत्संग की कथा समाप्त करता हूं। यद्यपि आचार्य दयानन्द के उपदेशों ने मुझे मोहित कर लिया था तथापि मैं मन में सोचा करता था कि यदि ईश्वर और वेद के ढकोसले को पण्डित दयानन्द स्वामी तिलांजलि दे दें तो फिर कोई भी विद्वान उनकी अपूर्व युक्ति और तर्कना शक्ति का सामना करने वाला न रहे। मुझे अपने नास्तिकपन का उन दिनों अभिमान था। एक दिन ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप कर डाले। पांच मिनट के प्रश्नोत्तर में ऐसा घिर गया कि जिह्वा पर मुहर लग गई। मैने कहा – "महाराज ! आपकी तर्कना बड़ी तीक्ष्ण है। आपने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती (अस्तित्व) है।" दूसरी बार फिर पूरी तैयारी करके गया, परन्तु परिणाम पूर्ववत ही निकला। तीसरी बार फिर पूरी तैयारी करके गया, परन्तु मेरे तर्क को फिर पछाड़ मिली। मैने फिर अन्तिम उत्तर वही दिया – "महाराज ! आपकी तर्कना शक्ति बड़ी प्रबल है, आप ने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती है।" महाराज पहले हंसे, फिर गम्भीर स्वर से कहा, "देखो, तुमने प्रश्न किए, मैंने उत्तर दिए – यह युक्ति की बात यह युक्त की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूंगा। तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास उस समय होगा जब वह प्रभु स्वयं तुम्हें विश्वासी बना देंगे।" अब स्मरण आता है कि नीचे लिखा उपनिषद्वाक्य उन्होंने पढ़ा था –

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुंस्वाम्।"

कठ० — २.२.२२

हिन्दू देवी का मातृभाव और आर्य सभ्यता की श्रेष्ठता

दयानन्द सरस्वती स्वामी का अनन्य भक्त सन्निपात ज्वर से पीड़ित बीमारी के बिस्तर पर बेहोश पड़ा ही था कि वह बरेली से विदा हो गये। जब ज्वर से मुक्त होकर होश आया तो पहली इच्छा स्वामी जी के चरणों में उपस्थित होने की प्रकट की। सुना कि वह शाहजहांपुर को पधार गये। जिस हकीम लल्ला जी के इलाज से बरेली पहुंचते ही बीमारी से मुक्त हुआ था, उसी की बेमालूम औषधि से अब ज्वर टूटा। हकीम वैद्य और डाक्टर ४८ घण्टों में कितने ही बदले, जब छः घण्टे हाथ पैर मार और १५० लेकर अंग्रेज सिविल सर्जन भी विदा हो गये तब पिता जी ने विवश होकर आवारागर्द लल्ला को बुलाया। मेरे मित्र को शेष सारी दुनिया भूल गई और सब चिकित्सकों को पांच सात गालियां देकर पांव की ओर बैठ गया। प्यास लगी थी, घडे का ठण्डा पानी मंगाया, उसमें मिसरी घोली और ३ माशे की लाल पुड़िया मिला कर पूरा गिलास शरबत का पिला दिया। फिर नाभि में एक रोगन मला और कांसे के कटोरे से हाथों और पैरो मैं मक्खन लगा कर मालिश शुरू हो गई। फिर तीन-तीन घण्टों के पीछे दो बार पूर्ववत् ठण्डे पानी में मिसरी घोल और हरी पुड़िया मिला कर शर्बत पिलाया गया। १२ घण्टों में बुखार उतर गया और मुझे नींद आ गई।

उठने पर लल्ला जी को बुलाया गया — "क्यों भाई। कैसी तबीयत है ?" मैंने उत्तर दिया — "अब के बहुत कमजोर हो गया हूं। पहली बार तो चटनी से १३ घण्टों में ठीक कर दिया था।' लल्ला जी बोले — "चटनी की चाट है, बात तो असल यह है। यह लो, अब के और भी मजेदार बनाई है। जितनी बार दिल

चाहे एक अंगुली पर लेकर चाटते जाओ।" चटनी क्या थी, नमक, मीठे खट्टे, चरपरे सब प्रकार के स्वादों का मिश्रण था। तीसरे दिन मैं प्रातः भ्रमणार्थ पैदल चला गया।

पिता जी को उन घटनाओं का ज्ञान न था जिन्होंने मुझे नाच तमाशों से घृणा दिलाई और मद्यपान की आदत कुछ काल के लिये छुड़वा दी। उन्हें यह परिवर्तन पण्डित दयानन्द सरस्वती के सत्संग का फल दीख पड़ा; इसलिए यद्यपि वे हरिहर के निन्दक संयासी की बात स्वयं सुनना पाप समझते थे, तथापि पुत्र के काया पलट के लिए उसे धन्यवाद देते थे। मुझे आज्ञा हुई कि स्वदेश जाकर अपनी धर्मपत्नी को विदा करा लाऊं।

मैं घर पहुंचा, जालन्धर जाकर सम्बन्धियों से मिला और तीसरी बार अपनी धर्मपत्नी को, बिना मुंह देखे विदा करा लाया। तलवन पहुंच कर अपनी अर्धांगिनी से पहली बात चीत हुई। पुराने नावलों के हवाई किले रुखसत हुए परन्तु एक नया भाव उत्पन्न हुआ। वह यह कि जिस अवला को अपना आश्रय मिला है, उसे गुणवती बनाने के लिए शिक्षा दूं। उस समय मेरे मन में दया और रक्षा का भाव ही प्रवल था।

बरेली आने पर शिव देवी (मेरी धर्मपत्नी) का यह नियम हुआ कि दिन का भोजन तो मेरे पीछे करती है परन्तु रात को जब कभी मुझे देर हो जाती और पिता जी भोजन कर चुकते तो मेरा और अपना भोजन ऊपर मंगा लेती और जब मैं लौटता उसी समय अंगीठी पर गरम करके मुझे कराती पीछे स्वयं खाती। एक रात मैं रात के आठ बजे मकान लौट रहा था। गाड़ी दर्जी चौक के दरवाजे पर छोड़ो। दरवाजे पर ही बरेली के बुजुर्ग रईस मुन्शी जीवनसहाय का मकान था। उनके बड़े पुत्र मुन्शी त्रिवेणीसहाय ने मुझे रोक लिया। गजक सामने रक्खी और जाम भर कर दिया। मैने इन्कार किया। बोले – "तुम्हारे लिए ही दो आतशा खिचवाई है। यह जोहर है।" त्रिवेणींसहाय जी के छोटे सब मेरे मित्र थे, उनको मैं बड़े भाई

के तुल्य समझता था। न तो आतशा का मतलब समझा न जोहर का, एक गिलास पी गया। असल में वह बडी नशीली शराब थीं उठते ही असर मालूम हुआ। दो मित्र साथ हुए। एक ने कहा, चलो मुजरा करायें। उस समय तक न तो मैं कभी वैश्या के मकान पर गया था और न कभी वैश्या को अपने यहां बुला कर बात चीत की; केवल महफिलों में नाच देख कर चला आता था। शराब ने इतना जोर किया कि पांव जमीन पर नही पडता था। एक खूंड मेरे हाथ में था। एक वेश्या के घर में जा घुसे। कोतवाल साहब के पुत्र को देख कर सब सलाम करके खड़ी हो गई। घर की बड़ी नाई को हुकुम हुआ कि हमारा मुजरा सजाया जाय। उसकी नौची के पास कोई रुपये देने वाला बैठा था। उसके आने में देर हुई । न जाने मेरे मुंह से क्या निकला। सारा घर कांपने लगा। नौची घबराई हुई दौड़ी आई और सलाम किया तब मुझे किसी अन्य विचार ने आ घेरा। उसने क्षमा मांगने के लिए हाथ बढाया और मैं नापाक-नापाक कहते हुए नीचे उतर आया। यह सब पीछे साथियों ने बतलाया नीचे उतरते ही घर की ओर लौटा, बैठक में तकिए पर जा गिरा और बूट आगे कर दिए जो नौकर ने उतारे। उठ कर ऊपर जाना चाहा परन्तु खडा नहीं हो सकता था। पुराने भृत्य बूढे पहाड़ी पाचक ने सहारा देकर ऊपर चढ़ाया। छत पर पहुंचते ही पुराने अभ्यास के अनुसार किवाड़ बन्द कर लिए और बरामदे के पास पहुंचा ही था कि उलटी होने लगी। उसी समय नाजुक छोटी उंगली वाला हाथ सिर पर पहुंच गया और मैंने उल्टी खुल के की । अब शिवदेवी के हाथ में मैं बालकवत् था। कुल्ला करा, मेरा मुंह पोंछ ऊपर का अंगरखा, जो खराब हो गया था, बैठे-बैठे ही फेंक दिया और मुझे आश्रय देकर अन्दर ले गई। वहां पलंग पर लेटा कर मुझ पर चादर डाल दी और साथ बैठ कर माथा और सिर दबाने लगी मुझे उस समय का करूणा और शुद्ध प्रेम से भरा मुख कभी नही भूलेंगा। मैंने अनुभव किया मानों मातृशक्ति की छत्र छाया के नीचे निश्चिन्त लेट गया।

पथराई हुई आंखें बन्द हो गई और मैं गहरी नींद सो गया। रात को शायद एक बजा था जब मेरी आंख खुलीं वह चौदह पन्द्रह वर्ष की बालिका पैर दबा रही थीं मैंने पानी मांगा। आश्रय देकर उठाने लगी, परन्तु मैं उठ खडा हुआ गर्म दूध अंगीठी पर से उतार और उसमे मिश्री डाल मेरे मुंह को लगा दिया। दूध पीने पर होश आया। उस समय अंग्रेजी उपन्यास मगज में से निकल गए और गुसाईजी के खींचे दृश्य सामने आ खड़े हुए। मैंने उठकर और पास बैठा कर कहा "देवी ! तुम बराबर जागती रहीं और भोजन तक नहीं किया। अब भोजन करो।" उत्तर ने मुझे व्याकुल कर दिया। परन्तु उस व्याकुलता में भी आशा की झलक थी। शिवदेवी ने कहा – "आप के भोजन किए बिना मैं कैसे खाती। अब भोजन करने में क्या रूचि है ?" उस समय की दशा का वर्णन लेखनी द्वारा नहीं हो सकता। मैंने अपनी गिरावट की दोनों कहानियां सुनाकर देवी से क्षमा की प्रार्थना की परन्तु वहां उनकी माता का उपदेश काम कर रहा था "आप मेरे स्वामी हो, यह सब कुछ सुना कर मुझ पर पाप क्यों चढ़ाते हो ? मुझे शिक्षा मिली है कि मैं नित्य आप की सेवा करूं।" उस रात बिना भोजन किए दोनों सो गये और दूसरे दिन से मेरे लिए जीवन ही बदल गया।

वैदिक आदर्श से गिरकर भी जो सतीत्व धर्म का पालन पौराणिक समय में आर्य महिलाओं ने किया है, उसी के प्रताप से भारत भूमि रसातल को नहीं पहुंची और उसमें पुनरुत्थान की शक्ति अब तक विद्यमान है – यह मेरा निज का अनुभव है। भारत माता का नही, उसके द्वारा तहजीब "सिविलिजेशन" की ठेकेदार संसार की सब जातियों का सच्चा उद्धार भी उसी समय होगा जब आर्यावर्त की पुरानी संस्कृति जागने पर देवियों को उनके उच्चासन पर फिर से बैठाया जायेगा।

स्त्री औदार्य का एक और दृष्टान्त देकर अपनी संसार यात्रा को आगे ले चलूंगा। छावनी के पारसी मद्य विक्रयी का बिल बढ़ता ही जा रहा था। दूसरे ही दिन उसका लगभग तीन

सौ का बिल आ पहुंचा। उस दिन उसे तीन चार दिन की छुट्टी लेकर टाल दिया। मुझे चिन्ता तो थी ही, शिवदेवी जी ने भोजन कराते समय मेरी चिन्ता का कारण पूछा। अब तो कोई बात आपस में गुप्त रह नही सकती थी। वेद के उपदेशानुसार मानो मेरा विवाह ही पिछली रात हुआ था। मैंने सब कुछ स्पष्ट कह दिया। देवी ने कुल्ला करवा के हाथ मुंह धुलवाये और अपना भोजन पाने से पहले ही अपने हाथ के सोने के कड़े उतार दिये। मैं चकित रह गया – 'देवी यह कैसे हो सकता है ? तुम्हें आभूषित करने के स्थान में तुम्हें आभूषणों से रहित करने का पाप कैसे लूं ?'

इस समय मुझे ठीक संस्कृत कवि की कल्पना के अनुसार दृश्य जंचा और मैने जान लिया कि पतिव्रता देवी पति की स्वास्थ्य रक्षा के समय माता, विपत्ति के समय भगिनी और उसे सन्तान सुख पहुंचाने के लिए धर्मपत्नी का रूप धारण करती है। देवी ने दूसरी जोड़ी दिखाकर कहा – "एक जोड़ी पिताने और दूसरी श्वसुर महोदय ने दी थी। इनमें से एक जोड़ी व्यर्थ पड़ी है। यह मेरा माल है। और जब तन भी आपका है तो इसके लेने में क्यों संकोच है। आपकी चिन्ता दूर करने का यह मंहगा सौदा नही।" शब्द पंजाबी के थे और उसके अनुवाद में कुछ मुझसे बढ़ाया भी गया होगा; प्रलोभन से बचने के लिए शेष रूपये देवी की सन्दूकची में रख दिये और मन में पक्का निश्चय कर लिया कि जब कमाने लग जाऊं तो व्यय किये हुए धन को फिर से आभूषणों में मिला दूंगा।

चाकरी का अनुभव

'सर्व परवशंदुःखम् सर्वमात्मवशं सुखम्।' मनु०।

पिता जी ने समझ लिया कि अब मैं कालिज में पढने के योग्य नहीं रहा। मुझे पुलिस के काम से घृणा है, यह पिता जी जानते थे। कमिश्नर एडवर्डस उनके पुराने मेहरबान थे। उन्होंने

मुझसे पूछा कि तहसीलदारी की परीक्षा देकर उस महकमें में काम करना स्वीकार होगा या नहीं। मैंने स्वीकार कर लिया।

मेरे सबसे बड़े भाई तलवन में घर पर भूमि और साहूकारी का प्रबन्ध करते थे। दूसरे और तीसरे पुलिस सब इन्सपेक्टर "थानेदार" बनकर मिर्जापुर और हमीरपुर के जिलों में स्थित थे। चौथा मैं रह गया जिसको काम लगाना पिता जी ने अपना अन्तिम कर्त्तव्य समझा। वे कमिश्नर एडवर्डस के पास मुझे ले गये। साहब मुझसे अंग्रेजी में बातचीत करके प्रसन्न हुए थे न केवल मेरा रौल तहसीलदारी के लिए भेजा प्रत्युत बरेली का नायब तहसीलदार तीन महीनें के लिए कर दिया, क्योंकि पक्का नायब छुट्टी पर जा रहा था। चारों ओर से इष्ट मित्रों ने बधाई दी और मैंने स्वीकार की।

तहसीलदार मुनीरूद्दीन मेरे पिताजी को अपना बुजुर्ग समझते थे क्योंकि पहले उनके पिता बरेली में डिप्टी मजिस्ट्रेट थे और सन् १६१७-१८ में मेरे पिता से उनका बहुत मेल था। उन्होंने मुझे काम सिखाया और मैं परीक्षा की तैयारी भी करने लगा। बरेली की तहसील और कोतवाली आमने सामने है इसलिए भी मुझे अपनी व्यवस्था में कुछ भेद न मालूम हुआ। एक महीना भली प्रकार व्यतीत हुआ। फिर पन्द्रह दिनों की छुट्टी पर तहसीलदार गए। मैं उनका भी स्थनापन्न हुआ। पिताजी प्रसन्न हुए कि मैं शीघ्र उन्नति करूंगा, परन्तु उन १५ दिनों में मेरे मन का चित्र ही बदल गया। कलेक्टर और जण्ट मजिस्ट्रेट के बर्ताव को मैंने अपमानसूचक पाया। अन्दर ही अन्दर कुढ़ता रहा और शेख मुनीरूद्दीन के लौटते ही अपना भाव उन्हें बतलाया। उनके उत्तर ने मुझे निराश कर दिया – 'अरे भाई' अंग्रेज तो बदमाश हैं। काला कितना ही बढ़ जाय फिर भी महकूम ही है। ऐसी उपजकी लेने से काम न चलेगा।' मेरा बोझ फिर तहसीलदार ने संभाल लिया और एक मास मैने और बिता दिया। अभी नायब साहब के लौटने में १५ दिन बाकी थे। हमारी तहसील के एक पड़ाव पर सेना को रात काटनी थी। वह स्थान बरेली से

८ वा दस मील पर था। रसद रसानी के लिए मैं चपरासी जमादार लेकर पहुंचा। फौज गोरों की थी। उन्होंने अण्डे वाले के अण्डे, बिना मूल्य दिये, लूट लिये। मैंने कर्नल के पास शिकायत की और कहा कि यदि अण्डे बेचने वाले गरीब के दाम उसी समय न चुका दिए गये तो मैं सब दुकानदारों को लौटा दूंगा। कर्नल साहब आग बबूला होकर बोले "तुम ऐसा करोगे तो नुकसान उठाओगे। तुम्हारी इस गुस्ताख का मतलब क्या है।" जब मुझे गुस्ताख़ी कहा गया और धमकी दी गयी तो मुझसे भी न रहा गया। मैंने उत्तर दिया। "मैं अपने आदमियों को ले जा रहा हूं। मैं यह अपमान नहीं सह सकता। आप जो कर सकते हो करलें।" कर्नल आगे बढ़ा। वह निहत्था था मेरे हाथ में हन्टर था। मैंने हन्टर सम्भाला। कर्नल जरा रूका और मैंने भाग कर रकाब पर पैर रक्खा और जमादार चपरासियों को लौट आने की आज्ञा देकर घोड़े को एड़ दी। अन्य दुकानदार अण्डे लुटते ही भाग गये थे। मैंने लौटते ही तहसीलदार को सारी कहानी सुनाई । उनके चेहरे पर हवाइयां उड़ने लग गई। मैने रात को सारी रिपोर्ट लिखी उर्दू में जो तहसीलदार साहब के सुपुर्द कर दी और अंग्रेजी की रिपोर्ट लेकर मैं कलेक्टर साहब के बंगले पर पहुंचा। रिपोर्ट होते ही बुलाया गया। कर्नल साहब पहले ही बैठे थे। शिकायत कर चुके थे। कलेक्टर साहब ने मुझे देखते ही क्रोधातुर हो कहा – कर्नल साहब की क्यों हतक की। तुम्हें कर्त्तव्य न पालन करने का दण्ड मिलेगा। मैंने अपनी रिपोर्ट कलेक्टर के हाथ में देकर कहा – 'इसे पढ़ लीजिए और फिर न्याय कीजिए।' मुझे बैठने को न कहा गया। मैं खड़ा-खड़ा अन्दर ही अन्दर विष घोलता रहा। मेरी रिपोर्ट पढ़ कर कर्नल को लेकर अलग कमरे में चले गये। दस मिनट पीछे दोनो लौटे और कलेक्टर साहब ने कहा कि यदि मैं कर्नल बहादुर से क्षमा मांग लूं तो मेरे विरूद्ध कोई भी महकमें की कार्यवाही न होगी। मेरे मन की दशा तो बहुत टेढ़ी थी परन्तु रुक कर मैंने साहब को सलाम किया और एक दम बाहर

निकल कर तहसील की राह ली। वहां कमिश्नर साहब का सवार मुझे बुलाने आया था। उल्टे पैरों फिर छावनी को लौटा। कमिश्नर साहब मुझे स्थिर करने की फिकर में थे। बाहर की तहसील में स्थान खाली था। वह देना चाहते थे। मैंने कर्नल वाली सारी कहानी सुनाकर मैंने निवेदन किया कि सरकारी नौकरी से पेट भर गया, अब मुझे क्षमा कीजिए। मैं उसी दिन बिदा चाहता था परन्तु कृपालु कमिश्नर एडवर्डस ने १५ दिन और रोक, कलेक्टर के हुकुम को रद्द करके मुझे बिना किसी दाग के विदा किया। छुट्टी से लौट नायब साहब को नियम पूर्वक चार्ज देकर मैं सदा के लिए अंग्रेजों की चाकरी से मुक्त हो गया और जन्म पत्री की यह विधि भी मिला कर मैंने तहसील से घर की राह ली।

मेरे भविष्य का आंशिक निर्णय

शायद संवत् १६३७ के प्रारम्भ में ही पिता जी की बदली खुर्जा जिला बुलन्दशहर को हो गई। खुर्जा सब-डिविजन है। पिता जी वहां के सब-डिविजनल पुलिस आफिसर नियत हुए। मैं भी शिव देवी जी सहित, उनके साथ ही चला गया। वेतन और भत्तों के २००/– रुपये मैंने बचाये थे। उन्हें उस रकम में मिलाया जो कड़ों को बेच कर बच रही थी और पिता जी के आगे रख कर केवल कड़े बेचने और बिल अदा करने की कहानी उन्हें सुना दी। पिता जी मेरे स्पष्ट बर्ताव से प्रसन्न होकर बोले तुझे 'नास्तिक कैसे कहते हैं, नास्तिक तो ऐसा सच्चा नही होता।' पिता जी की सहानुभूति से मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। बरेली के अन्तिम डेढ़ मास में कोई विशेष घटना नहीं हुई। खुर्जा में आकर पिता जी ने पेन्शन लेने का विचार कर लिया। उनकी आयु ५४ वर्ष की हो चुकी थी। ५५ वर्ष की समाप्ति पर संवत् १८३६-१८८२ ईसवी में पेंशन मिल सकती थी। जून में पिता जी के पुराने हितैषी मिस्टर सी०पी० कार्माईकेल बुलन्दशहर आए थे। पुलिस के इन्सपेक्टर जनरल होते हुए

उन्होंने पिता जी को बनारस के मिर्जा रहमतुल्ला बेग वाले मुकदमे में से मुक्त कराया था। कमिश्नर होते हुए उन्होंने डाकों आदि के मुकद्दमों के पता लगाने पर पिता जी की बड़ी प्रशंसा की थी और अब माल के उच्च अफसर सीनियर मेम्बर आफ दि बोर्ड आफ रेव्हेन्यू के अधिकार से निरीक्षण के लिए आये थे। पिता जी शिक्रम पर उनसे मिलने गये। उस समय बुलन्दशहर जाने के लिए चोला स्टेशन पर उतरना पड़ता थां मैं पिता जी के साथ गया। ग्राउस साहब कलेक्टर थे। यह मथुरा बहुत वर्षो तक रहे और तुलसी कृत रामायण के प्रसिद्ध अनुवादक थे। पिता जी मुझे उनसे मिला कर कर्माइकेल साहब के पास मिलने, उसी के ठीक दूसरे कमरे में, चले गये। मिस्टर ग्राउस भी तुलसीदास के प्रशसंक और मैं, नास्तिक होते हुए भी गुसाई जी का भक्त। बड़ी मनोरंजक बात चीत हुई इतने में कार्माइकेल साहब का चपरासी मुझे बुलाने आया। साहब ने मेरे पहुंचते ही कहा – "मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हें मांग लिया है। तुम्हें १५० से ३५० तक के ग्रेड में ले लूगां और तुम चार बरस में डिपुटी कलेक्टर बनके निकल जाओगे। मेरे साथ चले चलो" मैने दो महीनों का अवकाश मांग लिया और उसके पीछे इलाहाबाद प्रयाग पहुंचने की प्रतिज्ञा की। कार्माइकेल साहब अपने आदमियों का पूरा पक्ष करने वाले थे और गोरे काले में कोई भेद नही जानते थे। शायद बंगाल के प्रसिद्ध गवर्नर लार्ड कार्माईकेल भी इन्हीं के कुल में से थे।

जुलाई में एक खून के मुकद्दमें की तहकीकात करते हुए पिता जी ने रामायण की कथा सुना घातक से जुर्म का इकबाल करा लिया। मुकद्दमा सेशन सुपुर्द हुआ। सेशन कोर्ट मेरठ में लगता था। वहां पैरवी के लिए स्वयं गये। घातक को निश्चय हो गया कि यदि मैं अब दण्ड भुगत लूंगा तो मुझे आगामी योनि में इस पाप का फल भोगना न पडेगा। सेशन जज ने पिता जी को बाहर भेज कर मुलजिम को बहुतेरा समझाया परन्तु वह यही कहता गया कि अगले जन्म में दण्ड भोगने के लिए मैं इस

पाप को नही छिपाना चाहता। परिणाम यह हुआ कि घातक को केवल पांच वर्ष कैद का दण्ड मिला।

मुकद्दमें का जिक्र तो मैंने रामायण की महिमा दिखाने को किया है परन्तु पिता जी की मेरठ यात्रा का असर मेरे भविष्य पर बड़ा प्रबल पड़ा। मेरठ में वह जालन्धर के लाला डूंगरमल वकील से मिले। मेरे विषय में बातचीत हुई और पिता जी ने निश्यच कर लिया कि पेन्शन पाने पर मुझे वकील बन कर उनके साथ रहना चाहिए और इसलिए चाकरी की गुलामी में मुझे नहीं पड़ना चाहिए। पिता जी स्वयं चाकरी से घबरा चुके थे और अंग्रेजों के न्याय पर उन्हें तनिक भी विश्वास नही रहा था। इधर मैं सोच रहा था कि किसी प्रकार मिस्टर कार्माइकेल के साथ की हुई प्रतिज्ञा से मुक्त हो जाऊं। अस्तु, पिता जी ने मेरठ से लौटते ही अपना प्रस्ताव मेरे सामने रक्खा। मैंने प्रसन्नता से स्वीकार किया और मुझे जायदाद का प्रबन्धकर्त्ता बना कर तलवन भेज दिया गया और समझा दिया गया कि १९३७ (जनवरी १८८१ ई०) से लाहौर की कानूनी कक्षा में प्रविष्ट हो जाऊं। सबसे बडे भाई पिता से जुदा होकर अपना व्यापार करने लग गये थे, इस लिए मैं, धर्मपत्नी सहित तलवन पहुंच गया और सारा काम भाई साहब ने सम्भाल लिया।

तलवन पहुंच कर एक ओर तो तीन बहियों का हिसाब चलाने लग गया और दूसरी ओर जमीनों की पैदावार की बटाई शुरू कर दी। पिताजी की आरम्भ कराई हुई बैठक भी ठाकुरद्वारे के साथ बनवा दी और उसमें झाड़ फानूस भी लगवा दिए। पांच छः महीने तक बराबर ग्राम का साहुकार बना हुआ तद्रूप ही हो गया। अन्य सब अवस्था तो ठीक हो गई, परन्तु मद्य मांस का सेवन न छूटा। पढ़ना लिखना सब छूटा। दिन कटी शतरंज के खेल से होती रहीं ठाकुरद्वारे की देवढी शतरंजियों का अड्डा बन गई। मै नास्तिक भी विचित्र था। मूर्ति पूजा और ईश्वरावतार तो कहां, ईश्वर के अस्तित्व पर भी विश्वास नहीं, परन्तु कृष्णजन्माष्टमी पर झांकी ऐसी बढिया बना दी, झाड

फानूस और लैम्पों की रोशनी ऐसी चमका दी और प्रसाद ऐसा स्वादिष्ट बांट दिया कि तलवन का कोई व्यक्ति स्त्री पुरुष, बाल, युवा, वृद्ध ऐसा न रहा जो झांकी देखने न आया हो। फिर उस पर तुर्रा यह कि साथ-साथ अन्धी श्रद्धा का खण्डन भी करता जाता। असल बात यह थी कि मैं पिता जी का कारिन्दा था और इसलिए उनके नियत किए हुए सब त्यौहार मना कर उनकी आज्ञानुसार व्यय कर देता था।

तीन बरसों का अस्थिर जीवन
पौष 1937 से मार्गशीर्ष 1940 तक

(जनवरी सन् १८८१ से दिसम्बर १८८३ तक)

"नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मन।"

संशयग्रस्त के लिए न यह लोक, न परलोक और सुख भी नहीं है

पौष, संवत् १९३७ (जनवरी सन् १८८१) के द्वितीय सप्ताह में ही लाहौर पहुंच कर रहने के लिए मकान की तलाश की। इसमें दो सप्ताह लग गये। ला-क्लास का नियम था कि ७५ प्रतिशत व्याख्यानों में उपस्थित हुए बिना परीक्षा में सम्मिलित होने नहीं दिया जाता था। अनुपस्थित होने के लिए छुट्टी लेने की कोई आवश्यकता न हुआ करती थी। मैं जनवरी के तीसरे सप्ताह में प्रविष्ट हुआ; उससे पहले आठ नौ काम के दिन हो चुके थे। प्रविष्ट होकर दो तीन दिन कानून की पुस्तक देखी, उससे पीछे फिर अन्धे टाइप के अंग्रेजी नावल और काव्य खरीद कर पढ़ना और पुरानी इमारतों में मटरगश्त लगाना शुरू कर दिया। उधर घर में भी कारिन्दागरी करनी थी। होलियों की छुट्टी में तलवन गया और कुछ दिन अधिक लगा कर चार पांच लेक्चर गंवाये। उन्हीं दिनों एक बखशीशसिंह नामी आवारागर्द मिल गया। लाहौर में एक रईस अताइयों की नाटक सभा बतला कर, उनके

अभ्यास के समय मुझे वहां ले गया। फिर मुझे सलाह दी कि यदि सौदागरी की दुकान खोली जाये और साथ शराब की लाइसेंस भी हो तो लाहौर का सारा खर्च निकल कर कुछ बच भी सकता है। मुझे फिर ख्याल हो ही रहा था कि अब पिता जी पर बोझ नहीं होना चाहिए। बखशीशसिंह की सलाह मान कर होलियों के समय तलवन से ५००/– रुपया ले आया। तलवन का सारा कोष तो मेरे ही अधीन था, सोचा कि सौदागरी में लाभ उठा कर रुपया फिर कोष में डाल दूंगा। बखशीशसिंह मैनेजर बने। व्यय ही व्यय हुआ और मुनाफा कुछ नहीं। मेरी शिकायत पर मैनेजर ने उत्तर दिया कि अंगेजी शराब का लाइसेंस आते ही बिक्री बहुत बढ जायेगीं लाइसेंस के लिए मैंने डिपुटी कमिश्नर के नाम प्रार्थना पत्र लिखना शुरू किया। उस समय शंका और लज्जा ने आ घेरा और मैने आधा लिखा हुआ पत्र फाड़ दिया। दुकान अनारकली में ली थीं उस शाम को पास की दुकान वाले ने मुझे आ घेरा और कहा – "मैं बखशीश की दुकान समझता था। आपका यहां आना वह दोस्ताना बतलाता था। आज मालूम हुआ कि आप मालिक हैं। यह आवारागर्द है। बाप ने इसे निकाल दिया है। अपना माल सम्भाल लीजिये। मैं दूकान में गया तो बहुत सा माल एक आलमी बांध रहा था और बखशीश सिंह कुर्सी पर बैठा था। माल रखवा दिया। माल बांधने वाले ने ८०/– बखशीश सिह को लौटाए। उसकी जेब में ३५/– और मिले, वह भी रखवा लिए और उसे दुकान से निकाल दिया। शेष सारा माल २५ प्रतिशत घाटा उठा कर साथ वाले सौदागर के हाथ बेचा। मेज, कुर्सी, अलमारी भी सब नीलाम कर दी। दुकान के मालिक को एक मास का किराया दे ही चुका था। उसने १५ दिन में ही एक मास का किराया हजम करके आगे के हरजाने पर आग्रह न किया और मैंने केवल २५०/– रु० का घाटा उठा कर भी यही समझा कि बहुत सस्ते छूटे।"

यह सब करते वैशाख का पूर्वार्द्ध समाप्त हुआ। इसके बाद कानून का अध्ययन भी शुरू हो गया और दो महीने तक नियम पूर्वक काम हुआ। परन्तु पिता जी की आज्ञा आई कि श्रावण के अन्त में भाई मूलराज जी की पूत्री का विवाह होगा, इसलिए मुझे शीघ्र तलवन पहुंच कर उसकी तैयारी में लग जाना चाहिए। मुझे छुट्टियों से १५ दिन पहले ही चल देना पड़ा और फिर कुछ लेक्चरों में अनुपस्थिति लिखी गई।

विवाह का काम जारी कर दिया। पिता जी को २५०/– की हानि का पूरा वृत्तान्त लिख दिया था। वे केवल १५ दिनों की छुट्टी पर आ सके। पिता जी ने ऐसा क्षमा किया कि उस २५०रु का पता मेरे भाइयों को भी न लगने पाया। विवाह की समाप्ति पर पिताजी चले गए। भाई आत्माराम जिला गाजीपुर के किसी पुलिस स्टेशन के थानेदार थे। वह विवाह में छुट्टी लेकर नहीं आये थे। पिताजी के पास उनकी शिकायत आयी हुई थी। मुझे आज्ञा हुई कि उनकी धर्मपत्नी को उनके पास पहुंचा दूं और उनकी अवस्था ठीक करने का भी यत्न करूं जिससे व्यर्थ धन उड़ाने से वह बच जायं। भाई आत्माराम की धर्मपत्नी अपनी एक भतीजी को साथ लेकर चलीं। मार्ग में खुर्जा, बरेली, बनारस और गाजीपुर ठहरते हुए हम सब भाई साहब के थाने पर पहुंच गये। मेरे जाते ही सब अवस्था सुधर गई और मैं उनके पास तीन-चार दिन रहकर और पिता जी के पुराने अर्दली जमादार को उनके विषय में समझाकर लौट आया। लौटती बार बनारस और बरेली में पुराने मित्रों के पास कुछ अधिक ठहरा। फिर खुर्जे आया तो पिताजी ने ठहरा लिया। पेन्शन की दर्खास्त वह दे चुके थे, इसलिए बहुत सा सामान उन्होंने मेरे साथ भेजने के लिए बंधवाया था। अन्त को तलवन सामान छोड़ और वहां का सारा प्रबन्ध ठीक करके मैं लाहौर पहुंचा। फिर बहुत से लेक्चरों में अनुपस्थिति लिखी गई।

इस बार मैं अपनी धर्मपत्नी को साथ ले गया। इससे व्यय तो अधिक हुआ परन्तु पढाई खूब हुई। परीक्षा तक मैंने पूरी

तैयारी कर ली। परन्तु अन्त को जोड़ने पर ७५ प्रतिशत के स्थान पर मेरी उपस्थिति लगभग ७० प्रतिशत निकली। एक और कारण भी मेरे लिए बाधक हुआ प्रोफेसर महाशय एक मास की छुट्टी पर गए और उसका स्थानापन्न कोई न मिला। यदि उन दिनों लेक्चर बन्द न रहते तो शायद मेरी कमी पूरी हो जाती। परन्तु अब क्या हो सकता था। मैं निराश घर लौट आया। इस अकृतकार्यता ने मुझे निराशावादी बना दिया।

निराशा के भंवर से मुक्ति

पौष १९३८ (जनवरी सन् १८८२) के आरम्भ में ला क्लास के लेक्चरों में शामिल हुआ। जब ८० प्रतिशत से अधिक उपस्थिति हो गई तब इस विचार से लौट आया कि घर से तैयारी करके परीक्षा दे दूंगा। तलवन में पढ़े-लिखों की संगत नहीं मिल सकती थी, इसलिये मैं अधिकतर अपने श्वसुर गृह जालन्धर में रहने लगा। उन दिनों मेरा अधिक संग, अपनी धर्मपत्नी के सबसे बड़े भाई लाला बालकराम के साथ रहता था। संवत् १९४१ मार्गशीर्ष तक की संगतों का सत्संग नहीं कह सकता, हां, कुसंगत की उपाधि तो दे सकता हूं क्योंकि उनकी बदौलत आचरणों में कुछ गिरावट ही होती रही। मांस का तो उस कुल में प्रचार खूब था ही, मद्यपान भी सभ्यता का चिन्ह समझा जाता और फिर जब मुफ्त की शराब मिले तो बिना दृढ़ अभ्यासी सदाचारी के कौन प्रलोभन से बच सकता है। कभी राय शालिग्राम जी के ग्राम राजपुरन्तर्गत, भक्तपुरा में और कभी उनकी गढ़रूपी कोट किशनचन्द वाली हवेली में, इसी प्रकार कालयापन होता रहा। फिर श्रावण में पिताजी पेंशन पर आ रहे थे। खुर्जा पहुंच कर सामान बंधवाने और तलवन लाने का काम किया। फिर जालन्धर में बैठा तो मुखतारी परीक्षा की तैयारी करने, नावल पढ़ने और फिर उनकी कथा रात के समय लाला बालकराम आदि को सुनाने में फंस गया। अंग्रेजी उपन्यासों ने मेरे जीवन को बहुत अस्थिर बना दिया। इसलिए मुझे पीछे

इनसे पूरी उपेक्षा हुई और अपने ब्रह्मचारी शिष्यों को भी इनसे बचने की प्रेरणा करता रहा और उनमें से जिन्होंने मेरे इस उपदेश का आदर किया, वे बतला सकते हैं कि उन्हें कितना लाभ हुआ।

जालन्धर में परीक्षा की तैयारी असम्भव देख कर मैं लाहौर चला गया। भाटी दर्वाजे के अन्दर मकान किराये पर लिया। पास ही एक चौबारे पर "सर्वहितकारिणी सभा" खुली हुई थी। उसके अधिवेशनों में शामिल होने लगा। वहां भाई जवाहिरसिंह और भाई दित्तसिंह ज्ञानी से भेंट हुई। ये दोनों सज्जन आर्य समाज लाहौर से सम्बद्ध थे। भाई जवाहिरसिंह लाहौर आर्यसमाज के मंत्री, दित्तसिंह माननीय उपदेशक थे। आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज के साप्ताहिक जलसों में भी जाने लगा। लाहौर पहुंचकर मद्यपान का अभ्यास भी कम हो गया, सभा समाज में भी जाने लगा परन्तु परीक्षा की तैयारी में जी न लगता। १५ व २० दिन कुछ देख-भाल के परीक्षा में बैठा। दो दिन पीछे ही निश्चय हो गया कि उत्तीर्ण होना असम्भव है। परीक्षा के दिन पूरे करके जालन्धर लौट आया और वहां ही परिणाम सुन लिया।

पिताजी पहली ही छमाही की पेंशन लेने जालन्धर आए तब उन्हें मेरे अनुत्तीर्ण होन का समाचार मिला। मुझे उदास देखकर उन्होंने तसल्ली दी और अपने साथ तलवन ले गए। मेरी धर्म पत्नी भी अपनी तीन चार मास की पुत्री को गोद में लिए संग चली आई। तीन महीने गृह आनन्द में व्यतीत हुए। पुत्री का नाम वेदकुमारी रक्खा और उसके गोद लेने में दम्पत्ति को स्वर्ग का सुख अनुभव होता था।

परन्तु संसार द्वन्द्वमय हैं सुख में दु:ख अवश्य विघ्न डालता है। भाई आत्मारामजी नौकरी से अलग होकर परिवार सहित घर लौट आये। इस प्रकार पिताजी के साथ दो परिवार हो गए। शिवदेवी जी की अवस्था कुछ ऐसी हो गई जिसे देखकर

मुझे क्लेश हुआ। परन्तु उस देवी में ऐसी अपूर्व सहन शक्ति थी कि मुझे भी शान्त कर दिया। अब मुझे यह विचार सताने लगा कि मुझे कुछ कमाने योग्य बनना चाहिये। गम गलत करने के लिए शराब की आदत बढ़ती गई। मुझ में एक अवगुण था जिसने अधिक हानि पहुंचाई। यदि मुझे नशा शीघ्र हो जाता और अधिक पीने से मैं बेहोश हो सकता तो शायद इस बुरी आदत से घृणा हो जाती। परन्तु मेरी हालत यह थी कि बरांडी की पूरी बोतल चढाकर भी अकल की बातें करता और पैर कभी न लडखडाते। इसकी सनद मुझे अपने छोटे साले "रायजादा हंसराज" के विवाह पर मिली। छिडकनी का दिन था जब लड़के और लड़की वाले दोनों मिलकर होली खेला करते हैं। बरात समधियाने में जाने को तैयार हुई। पीते पीते सब मदमस्त हो गए थे।मैं सबसे बढ़कर डेढ़ बोतल चढ़ा चुका था, परन्तु पितातुल्य राय शालिग्राम जी ने मुझे बुलाकर कहा – "मुंशीराम जी ! समधियों के घर जाकर कोई नामुनासिब हर्कत न हो जाय। जिसको तुम इजाजत दो वही जाय। अगर मुझे भी जाने के लायक न समझों तो मुझे भी रोक देना।" इससे बढ़कर सर्टिफिकेट क्या मिल सकता है। परन्तु यह गुण मेरे लिए विष से भी बढ़कर सिद्ध हुआ। मुझे पीछे देर तक पश्चाताप रहा और चिरकाल तक यही आवाज अन्दर से उठती रही कि यदि मैं उस समय इस पाप से पनाह पा जाता तो लोकसंग्रह का कितना अधिक काम कर सकता। परन्तु एक समय आया जब मुझे अपने किए सारे पापों का प्रायश्चित करने का अवसर मिला।

आधे ज्येष्ठ से आधे भाद्रपद तक तीन मास इसी उधेड़बुन में गुजरे कि किसी प्रकार अपना गुजारा अपनी कमाई से करने के योग्य हो जाऊं। श्रावण के अन्त तक ऐसे ही विचारों ने मुझे मुखतारी परीक्षा की तैयारी से रोक रक्खा पहले कुछ इस ख्याल ने घेरा कि यदि कार्माइकेल साहब का कहना मान लेता तो आज इस बेबसी का हाल न होता। फिर प्रत्येक दूसरे दिन

नौकरी के लिए प्रार्थना पत्र तैयार करता और फाड़ डालता। अन्त को फिर परीक्षा की तैयारी की सूझी। आधी से अधिक पाठ्य पुस्तकों की तैयारी कर ली। २० दिनों तक केवल रात के तीन घण्टे सोकर पढ़ते-पढ़ते रात-दिन एक कर दिया। आंखें पथरा गयीं और तीन घण्टे क्या, एक मिनट के लिए भी नींद हराम हो गयी। तब मैं अपनी धर्मपत्नी को लेकर दशहरे के पीछे जालन्धर चला गया। वहां आज्ञाकारिणी शिवदेवी को मन की सारी अवस्था सुनाकर मैंने उसे बतलाया कि मैं नौकरी की तलाश में चला हूं। इस पर देवी की सम्मति मांगी। वहां उत्तर एक ही था – "आप जो उचित समझे कीजिए। मैं सम्मति देने के योग्य नही। मेरा धर्म आपकी आज्ञा का पालन करना है।"

मैंने सब तैयारी कर ली। अंग्रेजों की चाकरी को बहुत गिरा हुआ काम समझता था। हृदय की तसल्ली के लिए यह निश्चय किया कि मेरी ससुराल वालों को यह हाल मालूम हो। भाई बालकराम मुझे ट्रेन पर चढाने को तैयार हुए। मैंने लाहौर का टिकट ले लिया और ट्रेन में बैठकर चल दिया। मार्ग में विचारतरंग ने फिर आ घेरा – "जिस चाकरी को तू गुलामी कहा करता था उसी की शरण लेने चला है। हिन्दोस्तानी रियासतों में तो और भी अधिक दासता है। अभी परीक्षा में दो मास बाकी है। यदि बिना परीक्षा दिये भाग गया तो सम्बन्धी और इष्टमित्र तुझे क्या समझेंगे। एक बार और हिम्मत कर। इत्यादि-इत्यादि – "

मियांमीर पहुंचने तक निश्चय कर लिया कि मुखतारी की परीक्षा अवश्य देनी है। लाहौर पहुंचते ही एक मित्र मिल गये जो मुखतारी कर रहे थे। उनके साथ पाचक भी था। मैं उनके व्यय में शरीक हो गया और परीक्षा की तैयारी शुरू कर दी। रागरंग और गुलछर्रे सब भूल गये। दिन को भोजन के पीछे छावनी की सड़क पर निकल जाता और चिड़ियाघर में कोई एकान्त स्थान देखकर बैठ जाता। शाम तक वहीं पढ़ता और

बाहर ही दिसा फरागत हो डेरे पर लौट आता, रात को फिर लैम्प होता और मै। किसी समय स्काट के उपन्यासों पर आधी रात तक तेल जलाता था, अब आंखें प्रातः दो बजे से छः बज तक कानून की किताबों की भेंट हो रही थीं। परीक्षा देकर लौटा और सीधा पिता जी के पास चला गया – कारण यह कि इस बार कृतकार्य होने की पूरी आशा थी।

परीक्षोत्तीर्ण होने का तार भाई बालकराम जी ने फिल्लौर द्वारा दिया। पिता जी के आनन्द की सीमा न रही। ठाकुरों का श्रृंगार कराया गया, ब्रह्मभोज हुआ और यहां तक कि मेरे मौसा रुलदूराम जी के आग्रह पर, एक विवाह पर आयी हुई, रण्डी के नाच की आज्ञा भी पिताजी ने दे दी। तार द्वारा बालकराम ने मुझे शीघ्र बुलाया था। मैं जालन्धर होता हुआ लाहौर गया, मुखतारी का लाइसेन्स लाया और अपना नाम ज़िला जालन्धर के कानून – पेशा जमात में लिखाकर अदालतों में जाना आरम्भ कर दिया।

एक विशेष घटना का वर्णन संवत १६४० के अन्तर्गत ही करना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने चान्द्र १३ कार्तिक दीपमालिका की शाम को अन्तिम समाधि लगाकर अपने कार्य का बोझ आर्यसमाजों पर छोड़ा। देश के सब प्रान्तों में शोक सभाएं हुई और कोई भी समाचारपत्र ऐसा न था जिसमें उनके काम और विद्वता की प्रशंसा न निकली हो जब समाचार पत्रों में यह शोक समाचार मुद्रित हुआ उस समय मैं जालन्धर में था। मेरी प्रेरणा पर शोकसभा पण्डित शिवनारायण वकील के कमरे में की गई। लाहौर से वक्ता मांगे गये। वहां से पण्डित गुरुदत्त और लाला हंसराज भेजे गये। हम सब उनके स्वागत के लिए रेलवे स्टेशन पर गये। जब एक पिद्दा सा एम०ए० क्लास का विद्यार्थी और बी०ए० क्लास का सुक्कड़सा हड्डियों का पिंजरा दिखाई दिया तो पण्डित शिवनारायण आदि ने कहा कि लाहौर वालों ने हमारे साथ मखौल किया है कि लड़के भेज दिये। परन्तु जब लाला

हंसराज उर्दू में और पण्डित गुरुदत्त अंग्रेजी में संशोधक दयानन्द के गुण वर्णन कर चुके तो एक दर्जन से अधिक वकीलों में से किसी का हौसला नहीं पडता था कि उनके धन्यवाद के लिए चार शब्द बोल दे। अन्त को सब मौन देखकर पण्डित देवीचन्द्र वकील ने चार पंक्तियां बोल दी।

इतरावस्था की पराकाष्ठा

जिला जालन्धर के कानून पेशा आदमियों की सूची में नाम लिखाकर वकीलों के कमरे बार रूम में बैठने और गपशप लगाने का अधिकार हो गया। कुछ सम्बन्धियों के मुकद्दमों में, बिना उजरत लिए, मुखतारनामों पर "स्वीकार है" लिखकर अपने नये पद का प्रमाण भी दे दिया परन्तु अभी तक मंगनी की गाड़ी पर ही कचहरी जाता रहा और स्वसुर गृह में ही भोजन करता रहा। इस प्रकार दस दिन बीतने पर टुण्डे मौलाबख्श बीस बरस के चलते पुर्जे युवक को भाई बालकराम जी ने मुंशी रखवा दिया। शर्त यह ठहरी कि यदि काम लाने अर्थात मुकद्दमें वालों को मेरे पंजे में फंसवाने में कृतकार्य हुआ तो, एक महीने पीछे वह स्थिर कर दिया जावेगा। मौलाबखश उसी सांझ एक फौजदारी वाले मुलजिम अपराधी को फांस लाया जिसकी पेशी फिल्लोर के तहसीलदार की अदालत में थी। दूसरे दिन प्रातः २५/– जेब में डालकर मैं फिल्लौर चल दिया। वहां पहुंचने पर पता चला कि तहसीलदार साहब रात को कचहरी करते हैं। सय्यद आबिदहुसैन तहसीलदार थे। वह मेरे पिता को अपना बुजुर्ग समझते थे, क्योंकि उनके पिता 'सय्यद हादीहसन' मेरे पिता के साथ ही संवत् १९१७ में बरेली के डिपुटी कलेक्टर रह चुके थे। मैं उन्हीं के यहां उतरा। दो मुकद्दमे मुंसफी के ले आया। दोनों की आठ रूपये पेशगी फीस मिली। दिन को मुन्सफी में काम किया एक का फैसला अनुकूल होने पर आठ रूपये और मिल गये। दूसरे में दस दिन की तारीख पड़ गयी। रात को तहसीलदार साहब के सामने पेशी हुई। वह दीर्घसूत्री थे। आधी शहादत लेकर मुकद्दमा ७ दिनों के लिये मुलतबी कर

दिया रात को ही तहसीलदार साहब की सम्मति के अनुसार निश्चय हुआ कि फिल्लौर में ही कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। फिल्लौर में उन दिनों बड़ी रौनक थी। छोटी सी छावनी भी थी, जिले में कुछ गोरे रहते थे, रेल का स्टेशन भी अब्वल दर्जे का था। तहसीलदार साहब की कृपा से रेलवे स्टेशन के समीप यौमुहानी पर एक दो मन्जिला कमरा किराये पर मिल गया। फिल्लौर से ही पिताजी को लिख दिया कि बरेली कार्ट मुश्कन घोडी, बरतन इत्यादि भेज दें। भृत्य भी पिताजी ने तलवन से ही भेज दिया। मैं भी तीन चार दिन में भाई बालकराम आदि से बिदा होकर फिल्लौर में जम गया और लगी आकाश वृत्ति की मौज आने। जिस प्रकार सुलफई ब्राह्मण अनिश्चित यजमानों के किए दान पर निर्भर टांग पर टांग रक्खें बैठे रहते हैं और उन्हें कोई दिन भूखे और कोई दिन खीर मालपुए का बीतता है। इसी प्रकार के नये वकील मुखतार की भी गति है। किसी दिन जेबें भर गयीं। फिर चार चार दिन आमदनी की फाकामस्ती।

अस्तु, मैं फिल्लौर में जम गया। फाल्गुन में खूब काम चमका। मुझे पिताजी का असीम प्रेम और उनकी क्षमा कभी भूली न थी। संगति भी बराबर वाले शराबियों को प्राप्त न थी। मुन्सिफभी दीनदार सुन्नी मुसलमान थे। सय्यद आबिद हुसैन शिया थे। परन्तु इतने परहेजगार कि सिवाय मेरे पिताजी के और किसी हिन्दू काफिर के हाथ का छुआ पानी तक नही पीते थे। कोई दूसरा वकील मुखतार वहां था नही। मैं भी परहेजगार बन गया, फाल्गुन के मध्य में आदित्यवार को तलवन गया। सारी आमदनी व खर्च का हिसाब पिता जी के सामने रख कर अपनी पहिली कमाई के ७५ रूपये उनके चरणों पर रख दिये। पिता जी बहुत प्रसन्न हुए और मुझे हार्दिक आशीर्वाद दिया। मैंने प्रतिज्ञा की कि प्रत्येक मास के आय-व्यय का हिसाब उनके सामने पेश किया करूंगा। दूसरे मास में २००/– प्राप्त हुए और ७५/– व्यय शेष १२५/– शेष फिर भेंट किए। तब पिता जी ने कह दिया कि तुम्हारी परीक्षा हो चुकी, अब कमाओ और गृहस्थी चलाओ, मुझे संतोष है।

वैशाख के आरम्भ (अप्रेल के मध्य भाग) में निश्चय हुआ कि परिवार भी फिल्लौर आ जावे। एतदर्थ देवी को पुत्री सहित पहले तलवन ले गया। पिता जी का पुनः आशीर्वाद लेकर चलने को ही था कि मेरठ से भाई मूलराज पर एक मुकद्दमा चलने और उनके मुअत्तल होकर पुलिस लाइन में लाये जाने का समाचार आया। उसी समय बिहार प्रान्त के भागलपुर शहर से पिता जी के नाम एक मुकद्दमें में गवाही देने के लिए सम्मन आया। यह उन मुकदमों में से एक था जिन का, बलिया में रहतें हुए ही, पता लगाने पर उन्हें विशेष पारितोषिक मिल चुका था। धर्मपत्नी को तलवन छोड़ मै फिल्लौर गया। जाते ही पता लगा कि "मौलाबखश" मेरे नाम पर सौदागर से अंग्रेजी शराब, दुकानदार से घी और बासमती के चावलादि उधार ले आया है। यह भी पता लगा कि वह रात को बैठक के नीचे नहीं सोता प्रत्युत वेश्या के घर रहता है। उसका अप्रेल (वैशाख) का वेतन मुझे देना था, वह देकर मैंने दुकानदार को निपटाया और मुन्शी साहब को उसी समय चलता किया। मौलाबखश के जालन्धर जाने के पीछे शराब के सौदागरादि आये, परन्तु फिर क्या हो सकता था। मौलाबखश भोजन मेरे यहां करता था, १० रुपये मासिक वेतन मिलता था, ३० वा ३५ मासिक मुकद्दमें वालों से ले छोड़ता था। यह सब कुछ व्यय करने के अतिरिक्त पचा... साठ रुपये लोगों के मार कर भाग गया।

मौलाबखश से इस प्रकार छुटकारा हुआ। बग्घी, घोडी तथा अन्य सामान तलवन भेज और शेष मुकद्दमें निपटा कर मैं पिता जी के साथ मेरठ चल दिया। पिता जी तो एक दिन ठहर कर भागलपुर चले गए और मैं भाई साहब के मुकद्दमें की तैयारी करके वकील को देने के लिए, उनके पास पुलिस लाइन में जा रहा। बीस दिनों पीछे पिता जी लौटे। उनके लिए अलग मकान किराये पर ले छोडा था, उसी में मै भी आ रहा। ज्येष्ठ और आषाढ (मई जून) मास मेरठ में ही व्यतीत हुए। पिता जी इन्सपेक्टर जनरल पुलिस तथा अन्य हाकिमों के नाम मुझ से

पत्र लिखवाते रहे। अन्त में भाई साहब अपनी जगह पर बहाल तो हो गये परन्तु पिता जी ने उन्हें सम्मति दी कि नौकरी छोड और इज्जत लेकर घर चले आवें। रिश्वत से धन बहुत कमा चुके थे, उन्होंने भी पिता जी की आज्ञा को शिरोधार्य समझ कर एक मास पीछे त्याग पत्र दे दिया और जन्म भूमि में लौट कर पिता जी से मकानों का हिस्सा बटवा, अपने लिए नया मकान बनवाना शुरू कर दिया। श्रावण (जुलाई) में मै तलवन लौटा। वहां से जालन्धर जाकर वह महीना तो मकान किराये पर लेने और सामान मंगवाने में व्यतीत हुआ। भाद्रपद (अगस्त) में अभी दुकान जमने ही लगी थी कि आश्विन (सितम्बर) की छुट्टियां आ पहुंची। बग्घी में घोडी जोत कर फिर तलवन को चल दिया।

कार्तिक लगते ही फिर जालन्धर पहुंचा। मुखतारी फिर चमकने लगी। शराब ने फिर दवा लिया। फिल्लौर में पिता जी को हिसाब देना होता था। वह सदाचार के पथ से डगमगाना रोकने के निमित्त मेरे लिए बडा भारी अंकुश था। यदि गृहदेवी की सत्संगति या पुत्री का सहवास नित्य होता तो भी रक्षा होती। परन्तु देवी पितृगृह में रहती थी, मैं दूसरे तीसरे मिल आया करता था उर्दू "नजम नसर" (पद्य गद्य) का शौक बार रूम में जोरों पर था और पंजाबियों तथा उर्दू के केन्द्र स्थानों में घूम आने वालों में प्रमाणिक समझा गया था। हर महफिल में मैं बुलाया जाता। फिर से पूरी बोतली चढाने की आदत पड़ गई। काम तो चला और आमदनी भी बढ़ी, शरीर के सब भोग प्राप्त हो गये परन्तु आत्मा है वा नहीं इस में भी सन्देह हो गया। और तो क्या, शारीरिक भंग भी दुखदाई हो गए। यह माना कि शरीर के बाह्य परिवर्तन कुछ नहीं मालूम होते थे, चलता भी पुरानी तेजी से ही था, पूरी बोतल चढा जाने पर भी न पैर डगमगाते और न वाणी लड़खडाती। परन्तु मस्तिष्क की यह अवस्था हो गई कि आध घण्टा पढ़ने के पीछे सिर में चक्कर आने लगते और पांच मिनट किसी एक विषय पर विचार न कर सकता। ये सब सामान किसी बड़े परिवर्तन के सूचक थे।

अन्धकार की अन्तिम रात्रि

पौष संवत् १६४१ (दिसम्बर सन् १८८४) में मालूम हुआ कि साधारण शिक्षितों को वकालत की परीक्षा देने के लिए एक वर्ष का समय और दिया गया है। उसके पश्चात बिना बी० ए० पास किए कोई भी मुखतार वकालत की परीक्षा न दे सकेगा। मुझे वकालत पास करनी आवश्यक थी क्योकि मुखतार को जिस मुकद्दमें में चाहे अदालत पैरवी करने से रोक सकती थी। मैंने बडे दिन की छुट्टयों से पहले ही काम बन्द करके लाहौर जा वकालत के लिए व्याख्यान सुनने की तैयारी कर ली थी परन्तु मद्य-मांस खाने-पीने वाले "हम प्याला हमनिवाला" मित्रों ने दावत देना शुरू कर दिया। प्रत्येक शाम को किसी न किसी मित्र के यहा मुर्गो के गले काटे जाते, अण्डे भूने जाते और प्याले के दौर चलते। नित्य दिन को तैयारी करता और नित्य ही सायंकाल वह की कराई तैयारी प्याले की लहर में बह जाती।

एक दिन एक बड़े वकील के यहां निमन्त्रण था। वहां खुला दौर चला। और तो सब अपने-अपने घरों को चले गए, मेरे साथ केवल एक "पांचो ऐब शायरी" बांके मुखतार रह गये। उन्हें कच्चे घड़े की चढ़ी हुई थी। बाहर निकलते ही उनका पैर लड़खड़ाया, मैंने अपने अभ्यासानुसार बराबर होश में था। मेरे साथी का घर शहर की गलियों की भूलभुलैया के अन्दर था। उन्हें घर पहुंचाना मेरा कर्त्तव्य ठहर गया। बग्घी को वहां से विदा करके मैं मदमस्त शराबी के साथ शहर के अन्दर घुसा। मेरा एक हाथ साथी की कमर में और दूसरा उसके हाथ को सहारा दे रहा था। मार्ग की एक गली में भुझ से छूट वह एक घर के अन्दर चला गया। मैं पहुंचा तो वहां एक वेश्या बैठी थी। मुझे बहुत लज्जा आई परन्तु मदमस्त को तो घर पहुंचाना था। उसकी गालियां सहते हुए भी उसे फिर वहां से ढ़केला और उसके घर पहुंचा दिया। तब अपने उस समय के डेरे पर लौट आया। जिस मित्र के यहां उतरा हुआ था, वह बोतल खोले बैठे

थे। अभी रात के आठ ही बजे थे। फिर दौर चलने लग गया। आधी बोतल शेष थी जो दोनों ने समाप्त की और दूसरी बोतल खुल गई । उसी में से अभी एक-एक पैग ही चढ़ाया था कि मेरे यजमान (मेजवान) भी आपे से बाहर होने लगे। मैंने उन्हें पीने से रोक कर सोने को कहा। वह बीच का किवाड खोल साथ के कमरे में गये। उनके जाते ही मैंने एक बार और पी ली और दूसरी बार प्याला भरने की सोच ही रहा था कि साथ के कमरे से चीख की आवाज आई। मैं किवाड़ ढकेल कर अन्दर पहुंचा तो देखा कि एक युवा देवी मेरे राक्षस मित्र के हाथों में छटपटा रही है और वह उस पर पाशविक आक्रमण कर रहा है। यदि मैं दो मिनट और न पहुंचता तो शायद उसके पतिव्रत धर्म की रक्षा न हो सकती। उस समय बिजली की तरह मेरी आंखों मेरी अन्दर की आंखों के सामने राजरानी का पवित्र चित्र घूम गया और मेरी धर्मपत्नी शिवदेवी जी की मानों मूर्ति स्थित हो गई। मैंने उस नराधम मित्र के दोनो हाथ पकड़ कर उसे ढकेल दिया। वह गिरा और देवी कांपती हुई अन्दर भाग गई। पिशाच मित्र को जबरदस्ती पलंग पर लिटा कर मैं बाहर आ गया। मेरा गत सारा जीवन मानसिक दृष्ट के आगे घूमने लगा और तब से पूरा वैराग्य उत्पन्न हुआ। परन्तु पुराने अभ्यास के अनुसार यह सूझी कि शेष बोतल समाप्त करके सदा के लिए उसके प्रलोभन से मुक्त हो जाऊं । इस विचार से पूरा बड़ा गिलास भरा ही था कि मानसिक दृष्टि के सामने से एक और पर्दा उठा और यति दयानन्द की विशाल मूर्ति कोपीन लगाए शरीर में विभूति रमाये और हाथ में मोटा लट्ठ लिए सामने आ खडी हुई। ऐसा लगा मानों महात्मा कह रहे है – 'क्या अब भी परमेश्वर पर तेरा विश्वास न होगा ?' आंख मली, मूर्ति कहीं सामने न थी परन्तु हृदय कांप उठा। मेरा कमरा सड़क की एक ओर था, जहां किसी दूसरे के घर की दीवार थी, गिलास उठा कर जो फेंका तो सामने की दीवार में लग कर चूर चूर हो गया। फिर बोतल उठा कर जोर से फेंकी वह भी दीवार में टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो गई।

उठ कर मुंह हाथ धोया और बैठ कर सोचने लगा। यदि उस समय निन्द्रा न आ जाती तो व्याकुलता का कोई पारावार न रहता। परन्तु दयालु पिता की बड़ी कृपा हुई। एक दम नींद आ गई, छः बजे नींद खुली। उठ कर शौच स्नान से निवृत्त होकर सामान बग्घी में लादा और सीधा रेलवे स्टेशन पहुंचा। प्रातः दस बजे ट्रेन लाहौर की ओर जाती थी उसकी प्रतीक्षा में बैठ गया। मित्र आठ बजे उठ कर मुझे लौटा ले जाने के लिए पहुंचे परन्तु अब मैं लौटता कब था ? न भोजन की इच्छा न जल की। ट्रेन आयी और गाड़ी में बैठ गया। सामान, मेज, कुर्सी सहित पहले बुक करा मार्ग में मैं अपने ध्यान में ही निमग्न रहा। मार्ग में ट्रेन का हर्जा भी हो गया परन्तु मेरा ध्यान न उखड़ा और आंखे उस समय बाहर देखने लगीं जब ट्रेन मियांमीर के स्टेशन पर पहुंची, तब तीन बज चुके थे। मुझे प्यास मालूम हुई। सोडावाटर की एक बोतल लेकर पी और सावधान हो गया।

लाहौर रेलवे स्टेशन पर पहुंच कर सामान ब्रेक से छुड़ाया और सीधा रहमत खां के अहाते के एक मकान में पहुंचा जहां रायजादा भक्तराम ने मेरे लिए कमरा सुरक्षित कर रक्खा था। जाते ही भोजन किया और रात के आठ बजे तक पुस्तक वस्त्रादि ठीक प्रकार रख और मेज कुर्सी लगा आध घण्टा कुछ पढ़ा और फिर सो गया। इस नींद के अन्दर मानो नये जन्म की तैयारी थी और लाहौर पहुंचने के दूसरे दिन से ही जीवन में पूरा परिवर्तन हो गया।

द्वितीय परिच्छेद

प्रकाश की क्रमशः विजय

आचार्य का आदेश पूरा हो रहा है

लाहौर में पहली रात सोकर आंखें खोलीं तो ऐसा प्रतीत हुआ मानों किसी नये जगत् में प्रवेश किया है। शौचादि से निवृत्त होने पर मन में उत्साह और शरीर में स्फूर्ति का स्पर्श होने लगा। भ्रमण के लिए बाहर निकला और बिना प्रयास ही गोलबाग का रास्ता पकड़ा। दो मील तेल चलकर लौटने के बाद आधे घंटे वाटिका में बैठकर आत्मिक आनन्द लिया। साम्प्रदायिक उपासना-विधियों से मैं परिचित ने था परन्तु उस रचना में रचयिता को ढूंढते हुए मुग्ध हो गया। आधे घण्टे पीछे धारे-धीरे धरती पर पग रखते हुए अपने डेरे पर लौटा।

उसी दिन नियम पूर्वक क्लास (कानून जमात) में नाम लिखवा कर पहले शरीक हुआ, रात को नियमपूर्वक कानूनी किताबों का स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। तीसरे दिन आदित्यवार था। प्रातः आर्यसमाज मन्दिर में हरिकीर्तन का आनन्द लिया। दो मुसलमान रवाबी भजन गाया करते थे। व्याख्यान क्या था, चाऊचाऊ का मुरब्बा था। कहीं पौराणिक और ईसाई मतों का खण्डन, कहीं नित्य हवनके लिए दलीलें। शाम को ब्राह्म मन्दिर में गया। वहां भी वही रवाबी गा रहे थे। उनके तराने समाप्त होने पर साधारण ब्रह्मसमाज के आयार्च शिवनाथ शास्त्री वेदी पर आये। ईश्वर-प्रार्थना के समय उनकी शान्त मूर्ति, उनके हृदय बेधक उच्चारण और प्रेम रस में पगे हुए शब्दों ने मुझे आकर्षित किया। उनके धर्मोपदेश का विषय था 'भक्ति का

महत्व' और मैं था बिछुड़े हुए से मिलने का प्यासा। इतना प्रभावित हुआ कि ब्राह्म समाज के सम्बन्ध में जितनी भी पुस्तकें उस समय मिलीं सब खरीद लीं और अपने कमरे में पहुंच एक लघु पुस्तक (पैम्फलेट) को उसी रात समाप्त करके सोया।

पांच-छः दिन इन्हीं पुस्तकों का स्वाध्याय, कानूनी पढ़ाई के साथ आधे समय का हिस्सेदार बनता रहा। सीधी सड़क चलते-चलते एक जगह रोड़ा अटक गया। लाला काशीराम उस समय नव विधान समाज के मुखिया थे। उन्होंने पुनर्जन्म खण्डन में कोई लघु पुस्तक लिखी थी। ब्राह्म समाज के साहित्य में जीवात्मा की उत्पत्ति अर्थात् उसका आदि, परन्तु साथही उनकी अनन्त उन्नति का सिद्धान्त, समझ में न आया। मै काशीराम जी के मकान पर गया। उन्होने मेरी शंका सुनकर अपनी लघु पुस्तक पढ़ने को दी। मैंने उसे डेरे पहुंचते मार्ग में ही पढ़ लिया। दूसरी बार फिर उसे ध्यान पूर्वक पढ़ा और जो जो शंकायें सूझी उन्हें नोट कर लिया। मुझे चैन कहां था, उसी शाम दफ्तर का समय समाप्त हुआ समझ कर लाला काशी राम के घर पहुंचा आधा घण्टा प्रतीक्षा करने पर भी वह न आये। उनके छोटे भाई भक्त माधोराम आर्यसमाजी थे। उन्हें कह दिया कि अगली सुबह को अवश्य पहुंचूंगा, इसलिए अपने भाई से घर ठहरने के लिये निवेदन कर दें। दूसरे दिन काशीराम जी मेरा इन्तजार कर रहे थें। मैंने अपनी शंकाएं पेश कीं। उन्होने उत्तर में मुझे बाबू केशवचन्द्र सेन और बाबू प्रतापचन्द्र मजूमदार निर्मित ग्रन्थों के पढ़ने की सम्मति दी। मैं उन ग्रन्थों को पहले ही पढ़ चुका था। तब उन्हे मेरी शंकाओं को सुनना पड़ा। ब्राह्मसमाजी उत्तरों से मेरी तसल्ली न हुई, उलटा पुनर्जन्म एवं कर्म-फल के सिद्धांत पर निश्चय और भी दृढ़ हो गया। तब पादरी स्काट के साथ आचार्य दयानन्द के शास्त्रार्थ का स्मरण आया। मैं सीधा बच्छोवाली के आर्यसमाज मन्दिर की ओर सत्यार्थ प्रकाश खरीदने के विचार से चल दिया। विक्रय पुस्तक भण्डार बन्द था। चपरासी ने कहा कि लाला केशवराम पुस्तका-

ध्यक्ष के आने पर पुस्तक मिल सकेगी। मैंने उनके घर का पता लिया और दो घण्टों की आवारागर्दी के पीछे उनका घर ढूंढ निकाला। केशवराम जी घर न थे। बड़े तार घर गये थे, क्योंकि वह तार बाबू का काम करके ही आजीविका प्राप्त करते थे। मै तार घर का पता लगाकर वहां पहुंचा। उस समय वह छुट्टी में जलपान के लिए घर गये थे। मैं फिर उनके घर लौटा तो वह तार घर लौट गए थे। पूछने से पता लगा कि वह डेढ़ घण्टे में ड्यूटी से लौटेंगे। मैंने वह डेढ़ घंटा पास की गली के अन्दर मटरगश्त में बिताया। एक सज्जन बाबू केशवराम जी के घर में जातें दिखायी दिए। मैंने उन्हें जा घेरा "महाशय जी ! मुझे सत्यार्थप्रकाश खरीदना है।" उत्तर मिला "निवृत्त होकर कुछ खालूं फिर आपके साथ समाज मन्दिर चलूंगा।" मैंने अपना सारे दिन का इतिहास सुनाकर बाहर ठहरने की इच्छा प्रगट की। केशवजी का मुख सहानुभूति से चमक उठा और उन्होने कहा – "महाशय जी चलिये पहले आप को पुस्तक दे दूं। जब तक आप का काम न कर लूं मुझे इत्मीनान न होगा।"

समाज मन्दिर में पहुंचने पर सत्यार्थप्रकाश मेरे हाथ में रक्खा गया। मैंने मूल्य दिया और इस प्रकार का आह्लाद पूर्वक लौटा मानो बड़ा कोष हाथ लग गया है। मेरे साथी मुझे प्रातःकाल के भोजन में सम्मिलित न देख विस्मित थे। जब मैं पहुंचा तो सायंकाल का भोजन परसा जा रहा था, खूब भूख लगी थी,भोजन रुचिपूर्वक किया। शाम को भ्रमण के लिए गया ही नहीं, लैंम्प जला, सत्यार्थप्रकाश की भूमिका समाप्त कर प्रथम समुल्लास के स्वाध्याय में लग गया।

आर्यसमाज में प्रवेश

संवत् १६४१ का माघ मास और आदित्यवार का दिन है। नास्तिकपन के गढ़े से मैं निकल चुका हूं। धर्म-विषयक गहरे आन्दोलन के पश्चात् सत्यार्थप्रकाश का पाठ दिन रात आरम्भ कर चुका हूं। अनारकली के पास रहमत खां के अहाते में एक तीन कमरों वाली कोठी के बाईं ओर के कमरे में मैं प्रातः ६ बजे

कुरसी पर बैठा हूं। सत्यार्थप्रकाश का आठवां समुल्लास सामने खुला पडा है, किन्तु मै हाथ पर सिर रखे किसी गम्भीर विचार में निमग्न हूं। इतने में कमरे का द्वार खुला और मेरे मित्र सुन्दरदास जी ने अन्दर प्रवेश किया। उनके पैर की आहट ने मुझे विचार निद्रा से जगा दिया। यह सुन्दरदास जी रावलपिण्डी के राजक्रांति के आन्दोलन में फंसे वकील, लाला अमोलकराम के भाई आर्य जाति की उन्नति के दृढ़ पक्षपाती थे। सुन्दरदास भी जानते थे कि आस्तिक बनने के पश्चात् मेरा अधिक झुकाव ब्राह्मसमाज की ओर हो रहा है। उन्होंने पूछा – "किस चिन्ता में है, कहिए कुछ निश्चय न हुआ?" मेरी ओर से उत्तर न मिला – "पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने फैसला कर दिया, आज मैं सच्चे विश्वास से आर्य समाज का सभासद् बन सकता हूं।" इस उत्तर ने सुन्दरदास जी के मुख की क्रान्ति को ऐसा उज्ज्वल कर दिया कि उसका तत्काल ही मुझ पर प्रभाव पड़ा। मैं अपने ४० वर्ष के आर्य सामाजिक जीवन में जब जब किसी संशयात्मक व्यक्ति को संशय सागर के किनारे पर पहुंचा कर श्रद्धा और विश्वास की रमणीय वाटिका में विश्राम कराने का साधन बना हूं तब कई बार मैंने इस प्रकार के आह्लाद का अपने अन्दर अनुभव किया है।

सुन्दर दास जी को हम सब "भाई सुन्दरदास" कहते थे। यद्यपि उनके नाम के साथ इस शब्द का प्रयोग उनके मित्रों ने हंसी दिल्लगी से किया था, किन्तु जिस प्रेम से वे अपने मित्रों की सेवा किया करते थें और जिस प्रकार का भ्रातृ भाव उनके अन्तःकरण को पवित्र कर रहा था उनके बाह्य बर्ताव ने उन्हें सचमुच अपने मित्रों का भाई ही बना दिया था। भाई जी वहीं जम गये। मेरे स्थान में ही स्नानादि नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर मुझे साथ ले आर्य समाज की ओर चल दिए।

लाहौर आर्यसमाज मन्दिर में पहिली वक्तृता

भाई सुन्दरदास जी के साथ मैं शह-ए-आलमी दरवाजे से नगर के अन्दर प्रवेश करके सीधा आर्यसमाज मन्दिर में पहुंचा।

बच्छोवाली का वर्तमान मंदिर ही पुराना समाज मन्दिर है। इस समय बहुत कुछ परिवर्तन होने पर भी उसकी पुरानी दशा आंखों के आगे सपष्ट घूम रही है। द्वार के अन्दर जाते ही बाईं ओर बड़े आंगन के पास वाले दालान में मेज रहता था। उसके नीचे आंगन में बड़े तख्त पर ईश्वरोपासना करने वाले के लिए स्थान था। दालान के सामने होकर बाई ओर की छोटी सी कोठरी में पुस्तकालय था।

संवत् १६४१ के माघ में मैं लाहौर पहुंच कर प्लीडरी परीक्षा की तैयारी कर रहा था। तब से यह यह नियम था कि प्रत्येक रविवार को प्रातः आर्य समाज और सांयकाल ब्राह्म समाज के अधिवेशन में सम्मिलित होता। किन्तु इस दिन कुछ भाव ही और था और आर्य मन्दिर की छवि भी कुछ निराली ही दिखाई देती थी।वही दोनों रवाबी (गायक)जिनको हर सप्ताह ब्राह्म और आर्य मन्दिरों में बिहारीलाल की संगीत माला तथा नानक और कबीर के गंथों में से भजन गाते सुनता था, मन्दिर में सारंगी के अलाप और तबले की थाप के साथ भैरवी की तान तोड़ रहे थे।

"उतर गया मेरे मनदा संसा जब तेरा दरसन पायो" कैसे समय के अनुकूल शब्द थे जो मेरे कानों में पड़े।

मैं सामने वाली दीवार के पास बैठ ही रहा था कि आर्य समाज लाहौर के प्राणदाता स्वर्गीय लाला साईंदास जी के कान में भाई सुन्दरदास जी ने कुछ कहा, शायद यह बतलाया कि मैं ऋषि दयानन्द की शरण ग्रहण कर चुका हूं। उस शक्तिशाली मूर्ति को कौन भूल सकता है ? जिस समय भारतवर्ष में चारों ओर विदेशी सभ्यता की लहर ने प्राचीन सभ्यता को छिपाना आरम्भ किया था, उस समय ऋषि दयानन्द के उपदेश पर जिन कुछ महानुभावों ने स्वदेशी का आदर आरम्भ किया, उनमें लाला साईदास जी अग्रणी थे। किसी के सिर पर स्वदेशी पटका, किसी का कुरता स्वदेशी गवरून का, किन्तु लाला साईदास सिर से पैर तक स्वदेशी रंग में ही रंगे होते थे। सिर

पर लुधियाने की सादी लुंगी, जिसके नीचे तीक्ष्ण मर्मवेधक आंखें, जो दूसरे के अन्तःकरण के भावों को समझ लेती। गले में सादा गबरून का कुरता जिस पर जोड़ी का सादा चोगा पड़ा होता – और उस चोगे की घुण्डी में गबयन का रूमाल बंधा हुआ, कुंजियों के गुच्छे को आश्रय देता, जो कंधे के ऊपर पीछे को लटक जातीं। लाला साईदास जी के पैर में मैने सदैव सादा पंजाबी जूता देखा। लाला जी पंजाब चीफ कोर्ट में अनुवादक (ट्रांसलेटर)थे। आर्य समाज मन्दिर तथा चीफकोर्ट की पोशाक में भेद केवल इतना होता कि जहां समाज मन्दिर में स्वदेशी मोटी धोती पहिन कर आते वही चीफकोर्ट जाते हुए स्वदेशी जोडी का पाजामा पहिन लेते।

लाला साईदास जी उपासना की चौकी की बाईं ओर बैठा करते थे। उन की दृष्टि मुझ पर देर से पड़ी थी। भाई सुन्दरदास जी की बात सुनते ही लाला जी ने दो-तीन बार जोर से मुझे अपने पास बुलाने का इशारा किया। ऐसे समय में लाला जी की मूछों का फड़कना उनके अन्दर एक विचित्र प्रकार के तेज की सूचना दिया करता था। मै खिसक कर लाला जी के पास जा बैठा, और उन्होने बड़े प्रेम से पीठ पर हाथ धर कर मुझे आशीर्वाद दिया। उसी समय भाई दित्तासिंह जी ने पंजाबी भाषा में बड़ा रोचक व्याख्यान आरम्भ कर दिया। भाई दित्तासिंह उन दिनों लाहौर आर्य समाज के बड़े उत्साही सभासद् थे और आदित्यवार को प्रायः व्याख्यान दिया करते थे। भाई दित्तासिंह जी ने अपने व्याख्यान की समाप्ति पर मेरे आर्य समाज में प्रवेश का जिक्र करते हुए मुझ से अपने तथा भई जवाहिरसिंह जी मन्त्री के पुराने सामाजिक सम्बन्ध का वर्णन किया। उसके पश्चात् जवाहिरसिंह जी उठे। वह उस समय लाहौर आर्य समाज के मन्त्री थे। यह वही भाई जवाहरसिंह थे, जो पीछे आर्य समाज के नेताओं की भूल से अमृतसर के हर मन्दिर के प्रबन्धकर्ता बनने की धुन में आर्य समाज के शत्रु तथा अपने पूर्व गुरू ऋषि दयानन्द के निन्दक बन गये थे। किन्तु उस समय

भाई जवाहिरसिंह जी ऋषि दयानन्द तथा आर्य समाज के ऐसे भक्त थें कि जहां श्री साईदास जी तथा राय मूलराज एम० ए० अंग्रेजी तथा उर्दू में ऋषि से पत्र व्यवहार करते वहां भाई जवाहिरसिंह सदैव आर्य भाषा में अपने गुरु को पत्र लिखा करते, अस्तु।

भाई जवाहिरसिंह जी उठे और मेरे आर्य समाज प्रवेश के विषय में बहुत कुछ कह कर समाप्ति पर कह दिया कि ये अपने कुछ विचार उपस्थित सज्जनों के समक्ष प्रकट करेंगे। इस घोषणा ने मुझ पर मानों वज्रपात कर दिया। इससे पहले मै विद्यार्थियों की वाग्वर्धिनी सभाओं में तो बोला था, न्यायालयों में न्यायधीशों के सामने मुकदमों में भी वक्तृताएं की थीं, किन्तु सर्वसाधारण के किसी बड़े समूह के सामने व्याख्यान नही दिया, पहिले से कुछ सोचने का भी अवसर नहीं मिला था, इसलिए हैरान था कि क्या बोलू। उठते-उठते यही सूझी कि अन्दर के भाव प्रकट कर दूं । मुझे उस समय की वक्तृता का पूरा स्मरण तो है नहीं किन्तु २०वा २५ मिनटों में मैंने जो कुछ कहा उसका सारांश यह था कि हम सब के कर्त्तव्य और मन्तव्य एक होने चाहिए और इसलिए जो वैदिक धर्म के एक-एक सिद्धांत के अनुकूल अपना जीवन नही ढाल रहा है उसे उपदेशक बनने का साहस नही करना चाहिए। मुझे याद है कि मैंने समाप्ति पर यह भाव भी प्रकट किया था कि भाड़े के टट्टुओं से धर्म का प्रचार नही हो सकता, इस पवित्र कार्य के लिए स्वार्थ त्यागी पुरूषों की आवश्यकता है।

जिस दिन मैने व्याख्यान दिया उस दिन आर्य मन्दिर में अमृतसर निवासी मास्टर हीरासिंह जी भी विद्यमान थें वह लाहौर के ट्रेनिंग स्कूल में अध्यापकों की शिक्षा पाने के लिए गये हुए थे। जब दो तीन वर्षो के पश्चात् मास्टर हीरासिंह जी जालन्धर अध्यापक बन कर आयें, तो उन्होने मुझे बतलाया कि मेरी पहली वक्तृता सुन कर जब लाला साईदास जी अपने घर

आये तो उस वक्त मास्टर जी तथा अन्य तीन चार आर्य सामाजिक सभ्यों के सामने इन्होने कहा – "आर्य समाज में नई स्पिरिट (स्फूर्ति) आयी है। देखें आर्य समाज को तारती है या डुबो देती है।" मुझे अपने प्रवेश से पहले का प्रत्यक्ष कोई हाल तो मालूम नहीं, किन्तु इतना अवश्य ज्ञात है कि उस समय एक वैतनिक उपदेशक के और कोई उपदेशक का काम नही करता था और सिवाय दोनों मुसलमान रवाबियों के लाहौर आर्यसमाज का कोई सभासद् भी स्वयं ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना के भजन गायन नही किया करता था।

जो स्पिरिट स्वर्गीय श्रीमन् लाला साईदास ने आर्यसमाज के अन्दर नई समझी थी उसका परिणाम अच्छा निकला या बुरा, इसका पता पाठकों को इसी लेखमाला के अन्दर बिना मेरी किसी टीका-टिप्पणी के मिल जायेगा।

जालन्धर आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध का आरम्भ

रहमतखां के अहाते में तीन-तीन कमरे वाले दो मकान हम लोगों ने इकट्ठे लिये थे। उनमें छः साथी एक साथ रहते थे, मेरे अतिरिक्त और पांच रहते थे, उनकी सूची यहीं दिए देता हूं – (१) मेरे भाई रायजादा भक्तराम, जो इस समय जालन्धर के प्रसिद्ध बैरिस्टर है। (२) म० मुकुन्दराम जी, रायजादा भक्तराम के साथ ही बैरिस्टरी की परीक्षा के लिए इंग्लैण्ड गए थे, जहां समुद्र में नहाते समय उनकी अकाल मृत्यु हुई। यह बड़े स्पष्टवक्ता और दृढ़ आर्य तथा सन्ध्या बन्दनादि के पालन में बडे पक्के थे। (३)स्वर्गीय म० रामचन्द्रजी होशियारपुर आर्यसमाज के प्रसिद्ध प्रधान। इनका नाम ही महाशय था और यह उस समय भी बड़े कट्टर आर्यसमाजी समझे जाते थे। (४) महाशय फकीरचन्द जी श्याम चौरासी (जिला होशियारपुर) के प्रसिद्ध वजीर रामदित्तामल जी के भतीजे जो यद्यपि उस समय स्वतन्त्र विचार रखते थे किन्तु पीछे से हमारे कालिज़ वाले भाइयों की

प्रादेशिक सभा के प्रधान हो गए थे। और (५) रायबहादुर सुखदयालु एडवोकेट लाहौर के भाई मुखदयालु । इनमें से एक मै ही प्लीडरी की तैयारी कर रहा था, शेष सब लाहौर के गवर्नमेन्ट कालिज में पढ़ते थें। यद्यपि हम सब जुदे-जुदे रहते थे तथापि भोजन सबका एक ही स्थान में बनता था, और भोजन जीमने के लिए भी सब एक ही छोटे कमरे में और निमन्त्रित अतिथितियों के आने पर किसी बरामदे में इकट्ठे हुआ करते थे। इतनी भूमिका आवश्यक थी, क्योकि आगे के चार पांच महीने मैने उसी स्थान में व्यतीत किए और इसलिए इस प्रबन्ध की ओर कई बार संकेत करने की आवश्यकता होगी।

लाहौर के आर्य मन्दिर से लौटकर हम सब इकट्ठे डेरे पर आये। मेरे कथन ने मेरे साथियों पर भी असर किया। भोजन के समय भाई सुन्दरदास, महाशय मुकुन्दराम आदि ने यह निश्चय किया कि वैदिक धर्म का सन्देश सर्वसाधारण तक पहुंचाने के लिए हम सब सप्ताह में कम से कम एक बार नगर के किसी भाग में बिना विज्ञापन दिए पहुंचा करें। इस प्रतिज्ञा पर उस वर्ष के बडे हिस्से में अमल होता रहा।

भोजन के पश्चात् कुछ कानूनी किताबें पढ़कर मैं टहल रहा था कि तीसरे पहर की डाक आयी। उसमें जालन्धर कन्या महाविद्यालय के प्रसिद्ध वर्तमान प्रधान श्री महाशय देवराज जी का पत्र था। मालूम होता है कि मेरे नास्तिकपन के गढ़े से निकल कर आस्तिक होने का समाचार भक्तराम जी ने अपने बड़े भाई को लिख दिया था। इन दोनो ने पहले से ही जालन्धर में आर्यसमाज स्थापित कर छोड़ा था। इस पत्र में देवराज जी ने जो कुछ मुझे लिखा उसका सारांश यह था कि अतः मै अब नास्तिक नही रहा इसलिए मै जालन्धर आर्यसमाज का प्रधान बना दिया गया हूं और उन्होने स्वयं मन्त्री पद ग्रहण किया है। मैंने पत्र भक्तराम जी को दिखलाया और छूटते ही मेरे मुख से निम्न शब्द निकले —

"भाई देवराज भी बडे भोले है। केवल यह सुनकर कि मै ईश्वरवादी हो गया, उन्होंने कैसे समझ लिया कि मै आर्यसमाज में भी प्रविष्ट हो गया हूं। बिना यह निश्चय किए और बिना मेरी परीक्षण के मुझे प्रधान बनाना बड़ा ही आश्चर्य जनक है।"

भाई भक्तराम जी ने कहा – "बाल की खाल नहीं निकालनी चाहिए और जालन्धरी आर्यों को निराश नहीं करना चाहिए मैंने सोचने के लिए समय मांगा और विचार करने लगा।"

सायंकाल के भोजन के पश्चात् अन्य साथियों को छोड़ अकेले भक्तरामजी को साथ लेकर मै भ्रमण के लिए चल दिया और मैदान में बैठकर हम दोनो ने इस विषय पर कि मुझे प्रधान पद ग्रहण करना चाहिए या नहीं गम्भीर विचार आरम्भ कर दिया। मुझे जहां तक स्मरण आता है मैने अपनी निर्बलताओं की स्पष्ट समालोचना की और साथ ही प्रधान पद के उत्तरदायित्व को भी बहुत कुछ बढ़ाकर सामने रखा। जब अन्त में मैंने यह भाव प्रकट किया कि आर्यसमाज के प्रधानत्व का उत्तरदायित्व एक राज के शासन से भी बढकर कठिन है, भाई भक्त राम जी खिलखिलाकर हंस पड़े –

"मुंशीराम जी ! चार टोटरू तो मेम्बर है। और अभी लड़को का खेल है, आपने विचित्र उधेड़ बुन लगा दी।"

इस पर मुझे हंसी आयी और मैने भी मान लिया कि मै कुछ अधिक विचार करके उत्तर लिख दूंगा। हम लोग डेरे पर लौट आये। इस छोटी सी साधारण घटना का वर्णन मैने इसलिए किया है कि जिस भाव से विशेष समयो में, मै प्रेरित होता रहा हू, वह सर्वसाधारण के सामने आ जाय।

बहुत से मनुष्यों के लिए मतपरिवर्तन का निर्णायक कोई विशेष सामाजिक प्रलोभन या अन्य गौण बात हुआ करती है किन्तु मेरे लिए यह मत-परिवर्तन जीवन और मृत्यु का प्रश्न था। इस समय तक भी मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति इसी ओर है कि

मै साधारण से साधारण सिद्धांत के प्रश्न को जीवन और मृत्यु का प्रश्न बना लेता हूं। मेरे जीवन की बहुत सी घटनाओं को समझने में यही एक बात सहायता दे सकती है। इस घटना पर दीर्घदृष्टि डालने से यह भी पता लग सकेगा कि दूसरों के गुणों तथा योग्यता का मान करते हुए तथा वास्तव में उनके प्रति प्रेम और आदर का भाव मन में रखते हुए भी क्यों मैने ऐसे बहुत से पुरूषों को शत्रु बना लिया है जिनका मेरे साथ मिलकर काम करना वैदिक धर्म तथा आर्य जाति की उन्नति का साधक होता।

मै तो अभी विचार सागर में ही गोते लगाता रहा किन्तु भाई भक्तराम जी ने जालन्धर सूचना दे दी कि मुझे निःशंक होकर आर्यसमाज जालन्धर का प्रधान बना दिया जावे। मैंने आर्यसमाज का सभासद् बनने पर आठवें समुल्लास को समाप्त कर सत्यार्थप्रकाश के पाठ को दो दिनों से विराम दे छोडा था, किन्तु जब यह पता लगा कि मुझे निश्चय रूप से एक आर्यसमाज का प्रधान बना दिया गया है तो मैंने फिर नियमपूर्वक प्रतिदिन दो घण्टे सत्यार्थप्रकाश के पठन व मनन के लिए अर्पण करना शुरू कर दिया। नवें समुल्लास ने मुक्ति विषय में बहुत से संशयों की निवृत्ति करके मनुष्य जीवन के परमोद्देश्य के रहस्य को खोल दिया। पश्चात् मैने दशम समुल्लास को हाथ लगाया। उस समुल्लास में भक्ष्याभक्ष्य के विषय ने जीवन में एक और हलचल डाली जिसका सविस्तार वर्णन आवश्यक है।

मांस भक्षण का परित्याग

लाहौर में जबसे मैं इस बार आया तबसे ही दोनों काल भ्रमणार्थ बाहर जाया करता। सायंकाल को तो भोजन के पश्चात् अपने कानूनी सहपाठियों के साथ बातचीत करते हुए मैं धीरे धीरे घूमा करता था, किन्तु प्रातः काल नित्य लम्बा चक्कर लगाता, जिसमें थोड़ी दूर तक दौडना भी शामिल था। एक दिन होली से चार पांच दिवस पहले, मैं दूर से भ्रमण करता

हुआ अनुमान ५ बजे अनारकली में पहुंचा। बाहर स्वच्छ वायु का सेवन करते हुए वाटिकाओं के सुन्दर दृश्य देखे थे, अनारकली में सामने से सिर पर मांस का टोकरा दिखाई दिया। टोकरे का उठाने वाला मनुष्य बोझ के दबाव से बचने के लिए भागा जाता था, और टोकरे में भेड़-बकरियों और बकरों की खाल, उधड़ी हुई बाहर लटकती हुई टांगे एक भयानक दृश्य उपस्थित कर रही थी। न जाने क्यों उस दिन इस दृश्य ने मेरा दिल दहला दिया। ऐसा प्रतीत होता था कि वह लटकती हुई टांगें, मेरे अन्दर के तिरोहित करूणरस को अपील कर रही है। मै बाल्यावस्था से ही मांसाहारी था, पिताजी क्षत्रिय के लिये मांसभक्षण स्वाभाविक समझते थे। फिर इस आकस्मिक करूणरस का मतलब उस समय कुछ भी समझ में न आया। उस टोकरे की ओर मेरी टकटकी बंध गई। कुछ सोचता हुआ मैं खडा हो गया, और उस समय तक टोकरे पर दृष्टि लगी रही जब तक कि वह आंखों से ओझल न हो गया। तब धीरे धीरे पैर बढ़ाते हुए चिन्ता में निमग्न रहमत खां के अहाते वाले डेरे में पहुंचा।

स्नानादि नित्यकर्मों से निवृत्त होकर सत्यार्थप्रकाश को हाथ में लिया ही था कि अपना एक और कर्त्तव्य याद आ गया। सप्ताह में एक रात हमारे ही डेरे के एक बड़े कमरे में संगत समाज (यूनियन क्लब) का अधिवेशन हुआ करता था जिसमे विविध विषयों पर परस्पर विचार होता था। उस रात के अधिवेशन में आरम्भिक वक्तृता मेरी थी। उसकी तैयारी में प्रातःकाल का दृश्य भूल गया। तीसरे पहर तक कानून की पढाई में लगा रहा, जिसके पश्चात् सत्यार्थप्रकाश की बारी आयीं उस दिन दशम समुल्लास में से भक्ष्याभक्ष्य में से भक्ष्ययाभक्ष्य के विषय का आरम्भ था। ज्यों-ज्यों मांस भक्षण के दोष पढ़ता गया त्यों त्यों प्रातःकाल का दृश्य मूर्तिमान् होकर मेरे समक्ष खडा होता गया। एक एक शब्द ध्यानपूर्वक पढते पढते भेजन का समय आ पहुंचा। अपने विचार में निमग्न हाथ पांव धोकर मै भी भोजनगृह में आ बैठा। अन्य खाद्य वस्तुओं के साथ ही मांस भी कटोरे में

आया ही था कि उसे देखकर उस दिन ऐसी घृणा हुई कि कटोरे को उठा दीवार पर फेंक मारा। कटोरा टुकड़े-टुकड़े हो गया। मेरे साथी सब घबराये – है ! है ! क्या तरकारी में मक्खी पड़ गयी ? क्या था ? ओ मिश्शर ! कमबख्त यह क्या किया – मैंने सबको रोक कर कहा "मिश्शर बेचारे को कुछ मत कहो, एक आर्य के मत में मांस भक्षण भी महापापों में से एक है, मैं मांस का अपनी थाली में रक्खा जाना सह नही सकता। उस समय तो मेरे सब भाई ऐसे प्रभावित हुए कि चुप ही रहे किन्तु पीछे से कहते रहे कि कटोरा टुकड़े-टुकड़े करने के स्थान में उसे मेने केवल उठवा ही क्यों न दिया। उन्हे तो मैंने कुछ उत्तर न दिया किन्तु मन में समझता था कि मैने अपने कायरपन के कारण ऐसा किया। बचपन से पड़े हुए अभ्यास और संस्कार की बेड़ियों को शान्ति से काटने की शक्ति किन्ही बिरले बहादुरों में ही होती है। शाम भोजन बहुत कम कर सका। दूसरे दिन से निरामिष भोजियों की संख्या बहुत बढ गयी क्योंकि होशियारपुर के महाशय रामचन्द्र तथा लाला मुकुन्दराय, दोनों निरामिषभोजी थे। उसके पश्चात् कभी भी मांस भोजन की रूचि तक नही हुई और कुछ दिनों के पश्चात ही मांस भक्षण से ऐसी घृणा हुई कि मेरे लिए न केवल उस पंक्ति में बैठना असह्य हो गया जिसमें मांस परोसा जाय, अपितु मांसाहारियों के चौके में खाने से भी चित्त खिन्न होने लगा।

होली की छुट्टियों के लिए मुझे भाई देवराज जी का निमंत्रण मिला। मेरे आर्यसमाजी बनने के पश्चात् सभी जालन्धरी भाई मुझसे मिलना चाहते थे। इसलिए मैं होली से एक दिन पहिले ही जालन्धर पहुंच गया।

जालन्धर आर्यसमाज में महिला व्याख्यान

देवराज जी यद्यपि आयु में मुझसे छोटे है किन्तु आर्यसमाज में पहिले प्रविष्ट होने के कारण वह मेरे ज्येष्ठ आर्य भाई है। फिर भी उस समय उनका समाज, लड़कों का समाज समझा

जाता था। मैं मुखतारी की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर एक वर्ष तक काम भी चुका था। मैं इसीलिए बुलाया गया था कि मेरे व्याख्यान को सुनकर सर्वसाधाराण यह समझ लेंगे कि अब गृहस्थ व्यावहारिक पुरूष भी समाज में सम्मिलित हो रहे हैं।

मेरे व्याख्यान का विज्ञापन दिया गया। कपूर्थला राज के वकीलखाने के सामने से जरा आगे चलकर मुरलीमल पुरी की धर्मशाला प्रसिद्ध थी, उसी को किराये पर लेकर आर्यसमाज के अधिवेशन प्रति आदित्यवार को हुआ करते थे। मेरा व्याख्यान भी वहीं हुआ। व्याख्यान का विषय था 'बाल विवाह के दोष और ब्रह्मचर्य की महिमा।' भाई देवराज जी की मनोकामना सिद्ध हुई। बाबू मदनगोपाल, बाबा सलामतराय आदि वकील तथा अन्य बहुत से प्रतिष्ठित शिक्षित पुरुष व्याख्यान सुनने के लिए आये। स्थान ऊपर से नीचे तक श्रोताओं से खचाखच भरा पड़ा था। व्याख्यान भी 'कामयाबी' से समाप्त हुआ किन्तु जब व्याख्यान के पश्चात् चौमुहानी पर पहुंचे और कुछ वकील खड़े होकर मुझे व्याख्यान पर "मुबारकबाद" दे रहे थे, उसी समय देवराज जी के "सिर्त" ने दूसरी ओर से मुझे मुझे बधाई दी 'सुखी रहो जजमान! देवराजजी दे पुत्तर गन्धर्वराज दी कुड़माई लाला भवानीदास मुन्साफ दी पुत्री नाल हो गई है। थुआनु बहुत-२ बधाइयां। सिर्त * विचारा अभी बधाई दे ही रहा था कि बाबू मदन गोपाल प्लीडर बड़े जोर से खिलखिला कर हंस पडे! वाह महाशयजी! मुझ पर तो आप का व्याख्यान का खूब असर पड़ा। वाह! वाह!! वाह!!!'

बाबू मदन गोपाल की हंसी रुकती ही न थी। उनकी हंसी ने केवल 'सिर्त' जी को ही अचम्भें में न डाला प्रत्युत रास्ते चलतों को भी रोक दिया।

***पंजाब में पुरोहित के अतिरिक्त प्रत्येक कुल का एक रोटी बनाने वाला ब्राह्मण लागी होता है जिसका परिवार विवाहादि संस्कारों पर यजमानों के यहां रोटी बनाने का काम करता है। ऐसे लोगों को सिर्त कहते है।**

पाठक हैरान होंगे कि बाबू मदनगोपाल जी की हंसी पागलपन की हद तक क्यों पहुंच गयी ? बात यह थी कि उस समय देवराज जी के बडे पुत्र चि० गन्धर्वराज की आयु शायद एक वर्ष की थी और लाला भवानीदास बी० ए० मुन्सिफ की पुत्री की आयु सवा वर्ष की। मैं और देवराज जी तो इधर बाल विवाहों को रोकने और ब्रह्मचर्य का प्रचार करने में लगे हुए थे और उधर उनके पिता राय शालिग्राम जी एक वर्ष की आयु के अपने पोते की सगाई सवा वर्ष की लडकी के साथ करने के शुभ कार्य में निमग्न थे। इस पर किसी दर्शक को जितनी भी हंसी आती थोडी थी। बाबू मदनगोपाल तो हमारी हंसी उड़ाते हुए और और मैं तथा देवराज जी बहुत लज्जित और उदासीन होकर घर को लौट आयें किन्तु हो क्या सकता था, उस समय मौनावलम्बन ही करना पड़ा।

यहां कालक्रम की विधि का अनुसरण छोड़कर मैं इतना लिख देना आवश्यक समझता हूं कि जब लड़के और लड़की दोनों की आयु १४ वा १५ वर्ष तक पहुंची और समधी ने विवाह पर जोर दिया तो देवराज जी के दृढ़ रहने पर और यह कहने पर कि मैं अपने पुत्र का विवाह २५ वर्ष की आयु से पहिले कदापि न करुगां। वह नाता टूट गया और चिरंजीव गन्धर्वराज का विवाह पूर्ण युवावस्था में ही एक सुयोग्य विदुषी देवी के साथ हुआ।

उपर्युक्त पहिला व्याख्यान देकर मैं फिर वकालत परीक्षा की तैयारी के लिये लाहौर चला गया।

एक दृढ़ आर्य सामाजिक मित्र

लाहौर में उन दिनों शिवनारायण अग्निहोत्री (वर्तमान देव समाज के गुरु) के उर्दू व्याख्यानों की धूम थी। उन्हीं दिनों आलाराम भी आर्यसमाज की शरण में आया था और कवित्तों, सवैयों और दोहोमें अपने व्याख्यान लिखकर दिया करता था। हमारे डेरे में इन दोनों के व्याख्यानों के सम्बन्ध में बड़ा

मनोरंजक विवाद हुआ करता था। महाशय रामचन्द्र तो कट्टर आर्य सामाजिक होने के कारण आलाराम को आसमान पर चढ़ाते थें और अग्निहोत्री को अपने धर्म का विपक्षी होने के कारण अयोग्य बतलाते थे और रायजादा भक्तराम अधिकतः महाशय रामचन्द्र को खिझाने के लिए, अग्निहोत्री की बहुत प्रशंसा करके आलाराम को तुकबन्द की उपाधि दिया करते। यह विवाद यहां तक बढ़ा कि महाशय रामचन्द्र जी की संज्ञा ही आलाराम हो गयी।

सांसारिक यश की ऊंची कामनाएं

मद्य-मांस का सेवन सर्वथा त्याग करने के कारण मेरी बुद्धि में स्थिरता फिर से दृढ़ होने लगी थी, इसलिए वकालत की तैयारी शुरु करते ही विचार अधिक उच्च होने लगे। ला कालिज (कानून की शिक्षा का विद्यालय) उस समय अलग न था। गवर्नमेंट कालिज के ही एक कमरे में डिस्ट्रिक्ट जज मिस्टर ई० डब्ल्यू पारकर प्लीडरी परीक्षा के उम्मीदवारों को व्याख्यान दिया करते थे और मुख्तारी क्लास लाला लालचन्द्र जी के सुपुर्द था। पारकर साहब का नाम तो कुछ विद्यार्थियों ने पाड़ खां" अर्थात फाड खाने वाला रक्खा था, क्योकि हर आदमी के गले ही पड़ जाया करते थे और कुछ उन्हे पाटे खां की उपाधि देते थे, क्योकि साहब बहादुर अपनी योग्यता के दिखावे में भी एक थे। लाला (पीछे रायबहादुर) लालचन्द्र, एम० ए० बडे सुशील तथा सादे आदमी थे, यहां तक कि सिवाय नीची आंखे करके व्याख्यान देते जाने के वह कभी भी किसी विद्यार्थी पर दृष्टि डालते नही देखे गयें। तीसरे लाला सरदारी लाल गवर्नमेंट कालिज के क्लर्क थे, जिनको डाक्टर लाइटनर की कृपा से मुख्तारी क्लास की रीडरी के लिए ५०/– मासिक मिलते थे। इनकी कहानी विचित्र थी। तहसीलदारी इन्होंने पास की, प्लीडरी भी इन्होंने हस्तगत की किन्तु रहे जन्म भर क्लर्की मेज पर कलम घिसते। एक बार ये डिविजनल जज के क्लर्क आफ दि कोर्ट बना कर भेजे गये थे, जहां से शीघ्र मुन्सिफ बन

जाने की सम्भावना थी, किन्तु अपनी कालिज वाली मेज और चपरासी के कमरे वाला नलेरा (तम्बाखू पीने का नारियल) ऐसा याद आया कि १५ दिनों के पश्चात् मुन्सिफी आदि को जवाब देकर लौट आये। इन्हे कानून-वानून तो कुछ आता-जाता न था केवल किताब पढ़ते जाते थे। विद्यार्थियों ने आप से प्रश्न पूछना शुरू किया। लाला सरदारी लाल जी पहिले तो बहुत घबराये, किन्तु अन्त को छुटकारे का मार्ग ढूंढ ही लिया। जब कभी कोई विद्यार्थी प्रश्न करता तो आप उत्तर देते – "भाई ! मैं लेक्चरार नहीं हूं कि प्रश्नों के उत्तर दूं मैं तो रीडर (पाठ करने वाला) हूं, जो पढता जाऊं सुनते जाओ। विद्यार्थी भी यहां हार खा गये।

हमारी पढ़ाई में हालैण्डस लूरिस्प्रू डेन्स भी था। यह अंग्रेज़ी धर्म शास्त्र का ग्रंथ बडा कठिन था। मिस्टर पारकर उस पर किये प्रश्नों के उत्तर में बडे चकराया करते थे। एक दिन एक विद्यार्थी के प्रश्न पर आज्ञा लेकर मैने संतोषजनक उत्तर दे दिया। मिस्टर पारकर ने मुझ से प्रमाण पूछा। मैने वेन्थक २ और आस्टिन ३ आदि प्रसिद्ध धर्म-शास्त्रों के प्रमाण पेश किये, जिस पर एक ओर तो मेरे कुछ सहपाठियों ने गोलबाग में बैठ कर मुझ से हालैण्ड्स जूरिस्प्रू डेन्स समझना आरम्भ कर दिया और दूसरी ओर पारकर साहब ने ला क्लास के विद्यार्थियों की एक बाग्वर्धिनी सभा खोल दी, जिसका मुझे प्रधान बनाया । यहां प्रश्न यह होगा कि अन्य विद्यार्थियों से अधिक धर्म शास्त्र की पुस्तकें मैंने क्यों पढी ? मैने केवल यही पुस्तक नही पढ़ी थीं, परन्तु प्राचीन रोम के कानून की पुस्तकें भी देखी थीं। मुझे केवल इसी पर सब्र न था। जालन्धर के बाबू देवीसिंह प्रसिद्ध वकील थे। वह मेरे मित्र थे। उनके द्वारा उनके भाई बाबू दसबन्धी राय जी से परिचय हुआ। बाबू दसबन्धी राय लाहौर चीफ कोर्ट में वकालत करते थे और उनका कानूनी पुस्तकालय बहुत बड़ा था। मैने उसमें से सब हाईकोर्टों की रिपोर्टों को पढ़ना आरम्भ कर दिया। अर्थात न्यायाधीश कृत धर्म शास्त्र

केश ला को भी राष्ट्रीय व्यवस्थापक सभा (लेजिसलेचर) कृत धर्म-शास्त्र के साथ पढ़ना आरम्भ कर दिया।

यहां यह पूछा जा सकता है कि मुझे परीक्षा ही देनी थी, तीनों पुस्तकें उसके लिए नियत थीं उन्हीं पर बस क्यों न की। इसका कारण यह था कि उस समय मैं अपने अन्तःकरण में कुछ और ही निश्चय कर चुका था। मेरा व्यावहारिक उद्देश्य उस समय मन में यह दृढ़ हुआ था कि किसी समय चीफ कोर्ट लाहौर की जजी की कुर्सी पर बैठूं। इस उच्च उद्देश्य ने मुझे उस साहित्य की ओर खींचा, जो मेरे उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकता था। संवत् १६४२ के मार्गशीर्ष (सन् १८८५ ईसवी के अन्त) तक उद्देश्य ने मुझे बांधे रखा। उस समय के बाद उद्देश्य में कैसे परिवर्तन हुआ उसकी कथा समय आने पर सुनाऊंगा।

बड़ी छुट्टियां उन दिनों आषाढ (जुलाई) में आरम्भ होती थीं। उस समय तक मैं प्रत्येक सप्ताह आर्य मन्दिर तथा ब्राह्म मन्दिर में नियमपूर्वक जाता रहा, विशेष व्याख्यानों में भी सम्मिलित होता रहा। इसके अतिरिक्त सारा समय कानूनी किताबें याद करने तथा विशेष पुस्तकों के पढ़ने में लगाता रहा। मेरी स्मरण शक्ति का अपने सहपाठियों पर बड़ा प्रभाव पडा था। सायं काल के भ्रमण में मै किसी एक विषय की पुस्तक का मतलब कहानी की तरह सुनाना आरम्भ करता और दस पंन्द्रह साथी सुनते जाते। बाग्वर्धिनी सभा भी बडा काम करती रहीं । यद्यपि मास्टर पारकर के नाम रक्खे गये थें, तथापि विद्यार्थियों के अधिकारों का वह आदर करते थे। जब कभी हमारे अधिवेशन में आते तो सभापति को अपना आसन न छोडने देते और स्वयं बैन्च पर बैठ कर विवाद में भाग लेते। वह दिन अच्छे ही व्यतीत हुए।

आर्यसमाज में आरम्भिक अनुभव

अनुमान ऐसा होता है कि मै जालन्धर की उड़ारी मार यात्रा से लौट कर सवा या डेढ महीने ही लाहौर में रहा, क्योकि मुझे भली प्रकार याद है कि ज्येष्ठ शुक्ल की निर्जला एकादशी मुझे

जन्म स्थान तलवन में मिली थी। इस सवा या डेढ महीने के अन्दर मैने जो अनुभव प्राप्त किए उनमें से जो कुछ स्मरण शक्ति प्रत्युत्पन्न कर सकती है, उन्हे यहां संक्षेप से दता हूं।

लाला साईदास जी उस समय आर्य समाज लाहौर के स्वामी समझे जाते थे। वह पब्लिक व्याख्याता कभी थे ही नही। समाचार पत्रों में भी वह प्रत्यक्ष रूप से कुछ नहीं लिखते थे। उस समय तक उन्होंने एक उर्दू ट्रैक्ट 'एक आर्य' नाम से लिखा था जिसमें कलकत्ते के पण्डितों की ऋषि दयानन्द के विरूद्ध दी हुई व्यवस्था की पड़ताल की गई थी; लाहौर आर्य समाज की परिधि से बाहर उनको कोई भी नही जानता था।बाहर के लोग राय मूलराज, लाला जीवन दास और भाई जवाहिरसिंह आदि से अधिक परिचित थे, किन्तु यह सब कुछ होते भी लाहौर आर्यसमाज की और उसके साथ पंजाब के सारे आर्यसमाजों की, जिनका जीवन इस समय लाहौर आर्यसमाज पर ही निर्भर था – सारी कला के संचालक लाल साईदास जी ही थे। इस शक्ति तथा अधिकारों को वे ही लोग जानते हैं, जिन्हें लाला साईदास जी से अधिक वास्ता पड़ता था। पब्लिक में वे कभी मुंह ही न खोलते और यही समझा जाता था कि उनमें वक्तृत्व शक्ति नहीं है, किन्तु जब श्रोताओं की संख्या एक से अधिक न होती उस समय लाला साईदास जी से बढ़ कर कोई बागीश दिखाई नहीं देता था। इतिहास के वे अवतार थे और विशेषतः ईसाईयों के धार्मिक इतिहास के अतिरक्त मुसलमानों और सिक्खों के इतिहास से भली प्रकार अभिज्ञ थे। उनके जीवन की सादगी का वर्णन मैं पहिले कर चुका हूं।

लाला जीवनदास जी के विचित्र व्यसन का पता उनसे परिचित होते ही मुझे लग गया था। आप कभी भी समालोचना से चूकते न थे। एक विद्यार्थी के आर्य बनने का प्रार्थना पत्र पेश हुआ। आप उठ कर उच्च स्वर से प्रश्न करते हैं 'क्या इनकी आयु १८ वर्ष की हैं!' श्री साईदास जी की मूछें फड़की, और

उन्होंने उन्हें हाथ के इशारे से बैठाना चाहा। इस पर श्री जीवनदास ने आसमान सर पर उठा लिया — 'मैं इस तरह नहीं दबूंगा मेरा हक है कि मैं पूछूं.....' इस पर मंत्री ने प्रार्थना पत्र पढ़ना आरम्भ किया, जिसमें आयु १६ वर्ष की लिखी थी। श्री जीवनदास जी इन दिनों पंजाब के फिनान्शल कमिश्नर के कार्यालय के अनुवादक थे। आपके अनुवाद किये हुए सैकड़ों सरक्यूलर आदि मैंने देखे हैं अपने महकमे में जो सट्टों पर 'हिन्दी की चन्दी' निकालने के लिए आप प्रसिद्ध थे। जब सायंकाल दफ्तर से लौटते तो रास्ते में अनारकली की बहस में शामिल होते। उन दिनों मौलवी, पादरी, ब्राह्म समाजी — आर्यसमाजी सभी सड़कों के पुलों पर खड़े होकर वाद-विवाद करते थे। किन्तु इस समय की भांति रंग में भंग पड़ने का अवसर नहीं आता था। श्री जीवनदास जी के उत्तम स्वास्थ्य तथा स्पष्ट वक्तृत्व की उन दिनों मेरे चित्त पर बड़ी भारी प्रतिष्ठा बैठ गई थी।

शायद उन्हीं दिनों स्वर्गीय मिस्टर ह्यूम कांग्रेस की स्थापना के लिए आन्दोलन करने लाहौर में आये थे। मुझे ज्ञात हुआ था कि जिस किसी सुशिक्षित हिन्दुस्तानी से भी वह मिलना चाहते वहां से ही उन्हें निराश होना पड़ता। न जाने कैसे मि० ह्यूम को यह निश्चय हो गया कि जो शक्ति हिन्दुस्तानियों को उनसे मिलने नहीं देती वह राय मूलराज एम०ए० के रूप में है। शिक्षक दल में यह प्रसिद्ध हो रहा था कि मि० ह्यूम ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के गुप्तचर हैं जो हिन्दुतानियों को किसी जाल में फंसाने आये हैं। परमात्मा के सिवाय यह कौन जान सकता है कि उसमें राय मूलराज का भी हाथ था वा नहीं, और उसके लिए कोई विश्वासजनक साक्षी भी नहीं है। किन्तु मि० ह्यूम ने वह चिरस्मरणीय चिट्ठी श्री लाला साईंदास जी को लिख मारी जिसका स्मरण पण्डित गुरुदत्त जी ने मेरे सामने उक्त लाला जी को तीन वर्षों से कराया था। उस चिट्ठी में मि० ह्यूम ने यह लिखा था कि उनके माननीय मित्र स्वामी दयानन्द सरस्वती

द्वारा स्थापित समाज का सभासद् राय मूलराज एम०ए० सा व्यक्ति नास्तिक कैसे हो सकता है।

उन दिनों हम सब इकट्ठे रहने वाले साथियों के अन्दर धर्म प्रचार के लिए उत्साह था। भाई सुन्दरदास, मैं, महाशय रामचन्द्र तथा मुकुन्दलाल जी नित्य किसी न किसी चौमहानी पर खड़े होकर एक मास तक सर्व साधारण को वैदिक धर्म का सन्देश सुनाते रहे। दुःख की बात है कि छुट्टी से लौटने पर अन्य कामों में फंस जाने के कारण उन पवित्र कामों में वह उत्साह न रहा। इन्हीं दिनों साधु आलाराम व्याख्यानों के अतिरिक्त लाहौर शहर के मध्य 'बावली साहेब' में चौधरी नवलसिंह की लावनियां हुई जिनके प्रभाव से कोट-बूट वाले बाबुओं के अतिरिक्त दुकानदारों तथा आर्य जाति के सर्व-साधारण इंगलिश शिक्षा शून्य पुरुषों का प्रेम भी आर्यसमाज के साथ बढ़ गया।

लाहौर में मैं बड़े उच्च विचार तथा उत्साह लेकर जालन्धर आया और अभी दो-तीन ही व्याख्यान दिए थे कि मेरे ग्राम से पिता जी के रोग-ग्रस्त होने का समाचार पहुंचा। इस समाचार को सुनते ही मैं अपने ग्राम तलवन को चला गया। वहां पिता जी की शारीरिक दशा अच्छी न देखी। उन पर यह पहला आक्रमण अर्धाङ्ग का हुआ जिसने अन्त को एक वर्ष के पश्चात् उन्हें उनके परिवार से सदा के लिए जुदा कर दिया। मेरे जाने और योग्य वैद्यों से इलाज कराने पर पिताजी की शारीरिक अवस्था उस समय तो कुछ अच्छी ही हो गई, किन्तु दृष्टि शक्ति उसी समय कम हो गई। इस रोग का प्रधान कारण वह निकम्मापन था जो हमारे देश के पेन्शनरों की अकाल मृत्यु का कारण हुआ करता है। पिता जी ३० वर्षों से अधिक तक बराबर दिनभर काम में लगे रहते थे, और वह घुड़सवारी और दौड़-धूप का काम। पेन्शन लेने पर उन्हें कोई काम न रहा और निष्प्रयोजन भ्रमण करने के वह कभी भी अभ्यासी न थे। मैंने कई बार प्रेरणा की कि अपने खेतों आदि का ही निरीक्षण कर

लिया करें किन्तु वहां के काम का यथार्थ हाल तो वह चार–पांच उधर आने वालों से जिरह के सवाल करके जान लेते थे। व्यायाम का अभाव उनके रोगग्रस्त होने का कारण हुआ, जिससे बड़ी भारी शिक्षा मैंने ली है और मेरे पाठकों को भी लेनी चाहिए।

पहली आत्मिक हलचल

(न हि सत्यात्परो धर्मः)

पिताजी के अपेक्षाकृत नीरोग होने पर भी मैं तलवन ग्राम में ही ठहर गया और उनकी सेवा करने लगा। इतने ज्येष्ठ की निर्जला एकादशी का दिन आ पहुंचा। स्नान-पूजा से निवृत्त होकर पिताजी अपनी बैठक से घर में आए। यहां झज्झर पानी से भरकर और उसके ढक्कन पर खरबूजा, मीठा और दक्षिणा धरकर सारे घर को संकल्प पढना था। निर्जला एकादशी के दिन जितना जल हमारे हिन्दू भाई पीते है उसे देखकर इस अनोखे नामकरण संस्कार पर हंसी आती । व्रत तो यह है कि एक दिन रात निराहार, यहां तक कि बिना जल के, निर्वाह करेगे और व्रतियों का आचरण यह कि दिन भर खरबूजे खाकर शरबत पीते-पीते हैजे के शिकार बन जायं! कैसी अद्‌भुद लीला है।

निर्जला एकादशी का दिन मेरी धार्मिक परीक्षा का पहिला अवसर था।पित्ता ज़ी मेरे साथ अपने सब पुत्रों से अधिक प्रेम करते थे। उनको अपने मन्तव्य में पूर्ण श्रद्धा थी और उसके वह प्रचारक भी थे। जहां वह अपने इष्ट देव की भक्ति में कभी आलस्य नहीं करते थे वहां पंजाब के बेसूरे हिन्दुओं को मुसलमानों को कबरों की पूजा से रोकने में तत्पर खड़े रहते थे। तलवन ग्राम मै सैकड़ों को उन्होने कब्रपरस्ती से रोक कर ठाकुर जी के मन्दिर का सेवक बना दिया था। पिता जी ने संकल्प के समय मुझे बुलाने को आदमी भेजा। मैं जानता था कि आज परीक्षा का

दिन है। इससे बचने के लिए अपनी बैठक में पुस्तक खोलकर पढ़ने बैठ गया था। मैंने समझा था कि आखें बन्द कर लेने से बला टल लाएगी किन्तु पिता जी का दूत सिर पर आ सवार हुआ। मैं उठकर पिता जी के पास जाने के लिए बाधित हुआ। उस समय का दृश्य मै कभी नही भूल सकता। घर में दो मन्जिले का एक लम्बा दालान है। उसमें सामने बडे आसन पर पिता जी बैठे हुए है और उनके सामने एक लम्बी पंक्ति में झज्झर के सामने का आसन मेरे लिए खाली पडा है। मैं सामने पहुंच कर खडा हो गया, और नीचे लिखी बात-चीत हुई।

पिता जी – आओ मुन्शीराम! तुम कहां थे ? हमने तुम्हारी बड़ी प्रतीक्षा करके सबसे संकल्प पढा दियां तुम भी संकल्प पढ लो तब मै भी संकल्प पढकर निवृत्त हो जाऊंगा।"

मैं पिताजी से स्पष्ट कहने में डरता था इसलिए पहला उत्तर यह दिया – 'पिता जी! संकल्प तो दिल के साथ सम्बन्ध रखता है, जब आपने संकल्प किया है तो आप का दान है, जिसे चाहें दें। इसलिए मैने आना आवश्यक नही समझा था।''

पिता जी को मेरे आर्य बनने की खबर मिल चुकी थी। पहिले तो उन्हें कुछ प्रसन्नता सी हुई थी क्योंकि उनको केवल इतना ही पता था कि मैं नास्तिक से आस्तिक बन गया हूं। किन्तु जब जालन्धर से मेरे तथा देवराज जी के व्याख्यानों का समाचार उन्हे मिला तो उन्होने देवराज जी के पिता राय शालिग्राम जी को लिखा था कि हम दोनों को अपने देवीदेवताओं की निन्दा करने से रोकना चाहिए।बीमारी में वह इन सब बातों को भूल गये थे किन्तु आज सब पुराने संस्कार जाग उठे। पिताजी ने मेरे उत्तर में कहा –

क्या मेरा धन तुम्हारा नही । फिर उसमें से दान देने का तुम्हे अधिकार क्यों नही? और क्या दिल का संकल्प बाहर निकालना पाप है? तुम ठीक कारण क्यो नही बतलाते? इतना कहकर पिताजी ने सीधा वार किया– क्या तुम एकादशी और ब्राह्मण पूजा पर विश्वास नही रखते? क्या बात है!''

इस स्पष्ट प्रश्न पर निकलने का कोई मार्ग न देख पड़ा , मैंने कहा — ब्राह्मणत्व पर तो मुझे पूर्ण विश्वास है किन्तु जिनको आप दान देना चाहते है, वे मेरी दृष्टि में ब्राह्मण नही है, और एकादशी के दिन में भी मैं कुछ विशेषता नही समझता। मेरा इतना कहना था कि कि पिताजी आश्चर्ययुक्त होकर मेरी ओर देखने लगे। मैने आंखे नीची कर लीं। एक क्षण के पश्चात् पिताजी ने दीर्घ श्वास लिया और कहा — मैंने तो बडी आश देकर तुम्हे बडी सरकारी नौकरी से हटा वकालत की ओर डाला था। मुझे तुमसे बड़ी सेवा की आशा थी, क्या उस सबका फल मुझे यही मिलना था ? अच्छा जाओ। मैं चुपचाप नीचे उतर आया और सारे दिन शोक सागर में डूबा रहा।

दो तीन दिन तो मै पिताजी के पास जाने से घबराता रहा और वह मुझे बुलाने से टलते रहे, किन्तु उनके हृदय में मेरे लिए गहरा प्रेम था। एक दिन मुझे स्वयं बुलाकर किसी अपने अंग्रेज मित्र को पत्र लिखवाया। शनैः शनैः निर्जला एकादशी के दिन का दृश्य मेरी दृष्टि से ओझल हो गया। छुट्टियां शायद भाद्रपद के तीसरे सप्ताह तक थीं मैंने सारी छुट्टियां पिताजी की चिकित्सा कराने और उनकी सेवा करने में व्यतीत की । इन्हीं दिनों मैने सत्यार्थप्रकाश, आर्याभिविनय और पंच महायज्ञ विधि की पूरी आवृत्ति की और जब लाहौर चलने लगा उस समय तक ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का आधा पाठ कर चुका था। इस पढ़ने के काम में मुझे एक योग्य शिष्य मिल गया। पंजाब में संस्कृतज्ञों का वैसे ही उस समय अभाव था और फिर ग्राम में तो संस्कृत का काम ही क्या, किन्तु तलवन के देहाती मदरसे का द्वितीयाध्यापक ८/– रू० मासिक पाने वाला काशीराम संस्कृत जानता था और इसलिए पिताजी को उनकी रूचि के अनुकूल धर्मग्रन्थ सुनाया करता था। वही काशीराम मेरे पठन पाठन में भी सम्मिलित हुआ और जब मै तलवन से लाहौर लौट गया तो पीछे उसी ने पिताजी की श्रद्धा मेरे मन्तव्यों के ऊपर जमवायी।

कानून की पुस्तके मै प्रायः याद कर चुका था, सत्यार्थप्रकाश आदि सारा दिन पढते रहना कठिन था, और आर्यसमाज में प्रवेश करते ही अंग्रेजी उपन्यासों (नाव्हेल्स) से भी मुझे घृणा हो चुकी थी। तलवन में कोई ऐसे सुशिक्षित सभ्य पुरूष भी न थे जिनसे बातचीत में दिन काटता। इससे व्यसन के प्रलोभन में फिर से फंसा। काशी से अन्तिम बार विदा होने से पहले मैंने बडे बडे शतरंजियों से शतरंज खेलना सीखा था। तलवन में पहुंच कर देख कि मेरे परिवार के मुसलमान उस्तादों का घराना सारा का सारा प्रसिद्ध शतरंजबाज है। वहां उस खेल में और भी शिक्षा मिली। फिर जालन्धर में भाई बालकराम जी को शतरंज का बडा शौक था, उनके साथ खूब मुकाबिला होता रहा। सारांश यह कि शतरंजबाजी में प्रवेश करते ही जहां मांस भक्षण को त्याग दिया, जहां उपन्यासों को उठा कर जुदा रख दिया, वहां शतरंज को भी तिलान्जलि दे दी थी। किन्तु तलवन में निकम्मा बैठे रहने पर सामने मोहरों की खटाखट देख कर मुझ से न रहा गयाऔर फिर शतरंज के खेल में दिन के पांच छः घण्टे व्यर्थ गंवाने लग गया। इसके अतिरिक्त मुझे सितार का भी शौक था और अपने उस्ताद वृद्ध पीरबख्श कलावन्त से सितार पर कुछ भजनों का अभ्यास करता रहा।

दूसरी आत्मिक परीक्षा

(नास्ति सत्यसमं तपः)

इस प्रकार, ज्यों त्यों करके मैने दो मास से अधिक काट दिए, और लाहौर के लिए प्रस्थान का दिन निकट आ गया। नागौरी बैलों से जुती हुई मझोली तैयार हुई उसके नीचे और पीछे असबाब रखवा और बंधवा कर मै पिता जी की सेवा में प्रणाम करने के लिए उपस्थित हुआ। अपने बनवाये मन्दिर की बड़ी डेवढी के ऊपर उनके रहने के कमरे बने हुए थे। पिता जी तकिया लगाये बड़े कमरे में बैठे थे। उनका निजी सेवक भीमा खड़ा था। मैंने पहुंच कर पैरो पर सिर रखकर प्रणाम किया।

पिता जी ने सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद दिया। मै चलने के लिए उठने लगा। आज्ञा हुई कि अभी बैठ जाओ। फिर भीमा भृत्य को इशारा हुआ। उसने एक थाली में मिठाई और उसके ऊपर एक अठन्नी रख कर थाली मेरे सामने की। तब पिता जी ने कहा –"जाओ पुत्र ! ठाकुर जी को माथा टेक कर विदा होओ। मर्यादा पुरूषोत्तम श्री राम चन्द्र भगवान के पायक हनुमान जी तुम्हारी रक्षा करें। मै इतना सुनते ही सुन्न हो गया। काटो तो खून नही। कुछ उत्तर न बन आता था, चुपचाप बैठा था। पिता जी ने मेरे मौन का कारण कुछ और ही समझा। मै अपने निज के आराम के लिए जहां उन दिनों भी अधिक व्यय नहीं करता था वहां उदार भी बहुत था। जहां दूसरा आदमी दो आने पारितोषिक देकर सन्तुष्ट होता वहां मुझे आठ आने से कम देने में लज्जा आती। पिता जी स्वयं बडे अच्छे प्रबन्धकर्ता थे और उनके गृह का सारा व्यय बडे नियम से चलता था। पिता जी ने समझा कि मैं आठ आने की भेंट देवता के लिए कम समझता हूं। भीमा को कहा गया कि अठन्नी उठा कर एक रूपया रख दे। उसने ऐसा ही किया। तब पिताजी ने कहा – लो पुत्र ! अब ठीक हो गया , देर होती है। ठाकुर जी को मत्था टेककर सवार हो जाओ। तब मुझे अपने ऊपर बडा सब्र करके बोलना ही पडा यह नही सूझता था कि किस प्रकार बोलू कि पिताजी को कष्ट न हो । मैने कहा – पिताजी यह बात नही है, किन्तु मै अपने माने हुए सिद्धान्तों के विरूद्ध कोई कार्य कैसे कर सकता हूं। हां सांसारिक व्यवहार में जो आप आज्ञा दे, उसके पालन के लिए हाजिर हूं। इतना कह कर मै चुप हो गया। पिताजी के मुख पर कई प्रकार के उतराव–चढ़ाव आये और उन्होने क्रोध भरे शब्दों में कहा – "क्या तुम हमारे ठाकुरजी को धातु पत्थर समझते हो ? उस समय मेरे अन्दर घोर संग्राम हो रहा था। न जाने कैसे धृष्टता से मैने कहा– परमात्मा से नीचे अपने लिए मै आपको ही समझता हूं, किन्तु हे पिता ! क्या आप चाहते है कि आपकी सन्तान मक्कार हो ! यह

शब्द बडे ही करूणापूर्ण स्वर में मेरे अन्दर से निकले थे। पिताजी की जबान लड़खडा गयी– कौन अपनी संतान को मक्कार देखना चाहता है? मैने उस समय को जीवन की रक्षा व मृत्यु प्राप्ति का समय समझा और कहा – तब मेरे लिये तो यह मूर्तियां इससे बढकर कुछ नही और यदि मै उनके आगे भेंट धर कर सिर झुकाऊंगा तो वह मक्कारी होगी।' कहने को तो मैने इतना कह डाला किन्तु उस पर पिताजी के हृदय बेधक शब्द सुनकर मुझ में कुछ शक्ति ही नही रही।हां ! मुझे विश्वास नही कि मरने पर मुझे कोई पानी देने वाला भी रहेगा, अच्छा भगवान जो तेरी इच्छा ? मै मानो धरती में गड़ गया पैर वहीं के वही रहे। दस मिनट तक न मुझे ही कुछ सुध रही और न पिताजी ही कुछ बोले। फिर उन्होने धीरे से कहा –" अच्छा अब जाओ देर होगी।" मैने चुपचाप प्रणाम किया और नीचे उतर कर मझोली पर सवार हो गया।

मझोली तक पहुंचते–पहुंचते मेरे मन में कई प्रकार के संकल्प–विकल्प उठते रहे। प्रधानतया यही विचार मेरे मन में आता था कि जब मैं पिताजी के धार्मिक विचारों से सहमत नहीं, जब मैं उनकी स्वर्ग–प्राप्ति या मोक्ष का साधन नहीं बन सकता जिसके लिए उनके मतानुकूल मृतक श्राद्ध तथा तर्पणादि आवश्यक है, तब मुझे क्या अधिकार है कि उनके कमाये धन में हिस्सेदार बनूं। मुझे चलते समय पिताजी ने पचास रुपये खर्च के लिए दिए थे। मैंने वह रुपये एक कागज में बांध कर अपने एक सम्बन्धी के हवाले किए और कह दिया कि दूसरे दिन सबेरे वह उस धन को मेरे पत्र सहित पिताजी के आगे पेश कर दे। पत्र में केवल इतना लिख दिया कि "जब मैं आपके मन्तव्य के विरुद्ध मत रखता हूं तो मुझे कोई अधिकार नहीं कि सुपात्रों के भाग में से कुछ लूं। जीवन शेष है तो आपके चरणों में अपनी भेट रक्खूंगा ही।" मैं रुपये देकर चल दिया। अभी एक मील भी गाड़ी नहीं गयी थी कि घोड़ा सरपट दौड़ाते हुए वही सम्बन्धी आते देखे। मैंने मझोली खड़ी करा दी। घुड़सवार ने पहुंचते ही

रुपयों की पोटली मेरे हवाले की और पिता जी का मौखिक सन्देश सुनाया — "तुम प्रतिज्ञा करके एक हो कि मेरी सांसारिक आज्ञाओं से मुख नहीं मोड़ोगे। यह मरी सांसारिक आज्ञा है कि यह रुपया ले जाओ और बराबर व्यय के लिए रुपया मुंह से मांगते रहो?" पिता जी के इस सन्देश ने मेरे हृदय की डांवाडोल अवस्था को ठीक करने में बड़ी सहायता दी।

बात यह हुई कि मेरे सम्बन्धी ने दूसरे दिन की प्रतीक्षा करने के स्थान में उसी समय रुपयों की पोटली, मेरे पत्र सहित, पिताजी के आगे रख दी जिसका परिणाम ऊपर की घटना हुई। पिता जी से इस प्रकार विदा होकर मैं उसी शाम को जालन्धर पहुंचा। वहां देवराज जी से ज्ञात हुआ कि मेरी अनुपस्थिति में पंडित शिवनारायण अग्निहोत्री आये थे जिनके व्याख्यान सरदार विक्रमसिंह आहलूवालिया के स्थान में हुए किन्तु ठहरे लाल बालकराम जी के पास थे! भाई बालकराम जी ने उस समय उनकी निर्बलताओं को खूब समझा, और मुझे कहा कि यद्यपि हमारे यहां ठहर कर यह आदमी आर्य समाज के विरुद्ध नहीं बोलता, तो भी यह किसी न किसी दिन गुरुडम पर हाथ मारेगा और स्वामी दयानन्द और आर्य समाज के विरुद्ध बोलेगा। भाई बालकराम जी "आदमी-आदमी के अन्तर" को खूब पहचानने वाले थे और उनका निदान बहुत कुछ ठीक बैठता था। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात हुआ कि मेरी अनुपस्थिति में आत्माराम सन्यासी भी जालन्धर में व्याख्यान दे गये हैं और उनके व्याख्यानों में सरदार विक्रमसिंह आहलूवालिया आई.सी. एस. भी आया करते थे। मुरलीमल की धर्मशाला वाले आर्य समाज के मकान में एक आदित्यवार को ईश्वर प्रार्थना और उपदेश का आनन्द उठा कर मैं लाहौर पहुंच गया।

लाहौर में परीक्षा की तैयारी

आश्विन संवत् १९४२ के मध्य में सितम्बर (सन् १८८५ की समाप्ति पर) मैं लाहौर लौट आया। हमारे कानूनी प्रोफेसर के लाहौर से बदल जाने के कारण उनके स्थान में कारस्टीन

साहब* हमारे प्रोफेसर नियत हुए। वह बड़े शान्त स्वभाव तथा जन प्रिय थे। मैंने वकालत परीक्षा की तैयारी फिर बड़े जोर शोर से आरंम्भ कर दी। मेरे दूसरे साथी भी सब लौट आये। आर्य समाज़ के कामों में यद्यपि मैं विशेष सहयोग देने के योग्य न था तथापि मैं सभी साधारण तथा असाधारण अधिवेशनों में अवश्य सम्मिलित हुआ करता था।

लाहौर में इन दिनों मलेरिया ज्वर का बड़ा जोर था। मैं ज्वर से पीड़ित हुआ यहां तक कि तापमापक यन्त्र का पारा १०६ दर्जे तक पहुंच गया। उसी शाम को बच्छोवाली के आर्य समाज मन्दिर में एक असाधारण अधिवेशन होने वाला था जिसमें एक सरदार साहब को अभिनन्दन पत्र देने का निश्चय हुआ था। इसलिए कि वह अपनी बड़ी सम्पत्ति एक आर्य स्कूल स्थापित करने के लिए आर्य समाज को भेंट करने लगे थे। मेरी उत्कट इच्छा थी कि मैं इस अधिवेशन में अवश्य सम्मिलित होऊं। मेडिकल कॉलेज के एक मेरे मित्र विद्यार्थी ने चार घण्टे में ३० ग्रेन कुनीन खिला दी। ज्वर तो न चढ़ा परन्तु निर्बलता अत्यन्त हो गयी। उसी अवस्था में मैं आर्य समाज मन्दिर में पहुंचा, और यद्यपि कानों में सनसनाहट इतनी थी कि वक्तृताएं स्पष्ट न सुन सका, फिर भी हृदय को शान्ति रही।

इस प्रकार बलात्कार से ज्वर उतारने का सौदा मेरे लिए मंहगा पड़ा। दूसरे दिन फिर जोर का ज्वर चढ़ा। तब भाई सुन्दरदास जो मुझे एक यूनानी हकीम के पास ले गये। उनका नाम हकीम मुहम्मद शुजाउद्दीन था। हकीम जी का चेहरा देखते ही मुझे विश्वास हो गया कि मैं उनके इलाज से स्वस्थ्य हो जाऊंगा। पहिले तो उनकी धैर्य बंधाने वाली बातों ने मुझे मोहित कर लिया और जब शायद तो माशे लाल सफूफ़ वाली दो पुड़ियों को देकर शहद के साथ खाने की हिदायत हुई तो मेरा दिल बाग–बाग हो गया। हकीम जी ने एक नुसखा भी दिया जिसका सेवन पुड़िया से पहिले करना था। छः तोले मगज–तरबूज,

छः तोले बनफसा बराबर की मिसरी के साथ घोट कर पीने से तीन हल्के जुलाब हो गए। उसके पीछे आधा घण्ट ठहर कर लाल पुड़िया खा ली और घण्टे पीछे दूसरी खाते ही बुखार हिरन हो गया। दूसरे दिन सचमुच हकीम जी की भविष्यवाणी के अनुकूल मैं टहलता हुआ उनके पास गया। हकीम जी ने प्रातः शाम खाने के लिए सफेद रंग की दो पुड़ियां दीं। तीसरे दिन थोड़ी सी निर्बलता दूर करने के लिए नुसखा लिखना शुरू किया और साथ–साथ परहेज की हिदायत करते गये। मैंने बीच में बात काट कर कहा —

"हकीम जी! एक बात पहिले ही सुन लीजिए। मैं मांस भक्षण को पाप समझाता हूं।" मेरा इतना कहना ही था कि हकीम साबह खिलखिला कर हंस पड़े। कहने लगे 'जनाब बाबू साहब! अगर आप गोश्त खाने के आदी होते तब भी मैं आप से कहता कि मेरी दवा के असीरपिजीर होने के लिए आप गोश्त खाना छोड़ दें। गोश्त तो बड़ी मुजिर गिजा है।"

हकीम जी का नुसखा भी मुझे मोहित करने वाला था। मजेदार औषधियों का पुंज कूट छान कर बहुत से दूध में काढ़ा किया गया। जब उसका खोया बन गया तो प्रातः सायं चार–चार तोला दूध के साथ खाने की हिदायत हुई। मैंने अभी एक शाम ही औषधि का सेवल किया था कि मेरे साथी मेरी १५ दिन की औषधि को एक ही दिन में समाप्त कर गये। मैंने उस औषधि का नाम 'अमृत बाण' रखा था और हकीम साहब को शाहशुजा की उपाधि दे रखी थी। वकालत के उम्मीदवार प्रायः ऋतु ज्वर "फसली बुखार" से पीड़ित थे, उनके शाहशुजा की धूम मच गई।

संवत् १९४२ (सन् १८८५ ई०) तक वकालत की परीक्षा मार्गशीर्ष के अन्त में (दिसंबर के मध्य) में हुआ करती थी। उसी वर्ष के आषाढ़ (जून) मास में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज खुल चुका था, श्रीमान् हंसराज जी कॉलेज की सेवा के लिए

जीवन प्रदान कर चुके थे, और मियानी निवासी श्री लाला ज्वाला सहाय जी के ८०००/– के दान ने कॉलेज का खुलना सम्भव कर दिया था। इन घटनाओं के पश्चात् मार्गशीर्ष के मध्य में (नवम्बर के अन्तिम) शनिवार तथा आदित्यवार के दिन लाहौर आर्य समाज का वार्षिकोत्सव हुआ। यद्यपि रोग से निवृत्त होने के पश्चात् निर्बलता हो गई थी तथा परीक्षा की तैयारी का बोझ अधिक था, फिर भी अपने धर्म समाज के लिए हृदय में प्रेम का ऐसा भाव था कि वार्षिकोत्सव से पल के लिए भी बिछुड़ना असम्भव प्रतीत होता था। यह पहला ही अवसर था कि पण्डित गुरुदत्त को मैंने दयानन्द कॉलेज के लिए लाहौर आर्य समाज की वेदी पर से अपील करते सुना। उसी व्याख्यान से मेरा चित्त पण्डित गुरुदत्त की ओर आकर्षिक हो गया और अधिक मिलने से मैंने शनैः–शनैः अनुभव किया कि यही एक आत्मा है जिसके साथ मेरे आत्मिक भाव ऐक्य को प्राप्त हो सकते हैं। जब मैं दूसरे दिन विशेष प्रकार से पण्डित गुरुदत्त से मिलने गया तो उन्होंने भी अपने भावों से यही प्रकट किया कि हम दोनों एक दूसरे को समझते हैं।

परीक्षा का भयानक भूत

अब परीक्षा के दिन समीप आ रहे थे इसलिए मैं उसी कार्य में लग गया। किन्तु फिर भी मेरे सहपाठी मुख्तार साहबान मुझे एक विचित्र जानवर समझते थे। मैंने परीक्षा से दो दिन पहले ही पढ़ना छोड़ दिया था। जब मैंने परीक्षा आरम्भ होने के समय से एक घण्टा पहले उन्हें रटन्त लगाते देख तो मुझे उन पर दया आई और मैंने कई मित्रों का तोते से फिर मनुष्य बनाने का प्रयत्न किया किन्तु मुझे इस प्रेम का पारितोषिक क्या मिला? केवल गालियां और कुछ नहीं।

परीक्षा में एक बात और मेरे सहपाठियों को चकित करती थीं। मैं बार–बार तीन घण्टे के परचे का उत्तर तथा पुनरावलोकन डेढ़ घण्टे में ही समाप्त करके चल देता था, केवल राजव्यवस्था

सम्बन्धी प्रश्न पत्र बड़ा लम्बा था जिसके सब प्रश्नों के उत्तर मैं ढाई घण्टे में लिख कर बाहर आया। उस पर्चे के सब प्रश्नों के उत्तर कोई भी परीक्षार्थी तीन घण्टे में समाप्त नही कर सका था। सब लेखबद्ध परीक्षाओं में मैं उत्तीर्ण हुआ, किन्तु फौजदारी कानून की मौखिक परीक्षा में मैं दो अंकों के लिए अनुत्तीर्ण रहा। इसकी भी एक कहानी है, जिसके सुने बिना पाठकों की समझ में कुछ और कहानियां न आ सकेंगी। मौखिक परीक्षा के समय गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर का परीक्षा भवन विद्यार्थियों से भर कर उन्हें कच्ची हवालात में कर दिया था फिर एक-एक विद्यार्थी को परीक्षक के कमरे में बुला कर परीक्षा ली जाती थी। वहां से निकल कर कालिज की बड़ी सीढ़ियों पर वे बूट चरचराता हुआ विद्यार्थी बाहर चला आता था। मेरे पहिले कुछ विद्यार्थी फेल होकर बाहर आ चुके थे और उनके तथा अन्दर वालों के ईष्ट-मित्र उनके साथ सहानुभूति प्रकट कर रहे थे। जब मैं परीक्षक के सामने गया जिनका नाम बाबू योगन्द्रनाथ वसु था और जो बड़े देश भक्त समझे, जाते थे, तो पहले प्रश्न पर ही उनसे कुछ विवाद हो गया। फिर उन्होंने मुझे किसी प्रश्न के लिए भी एक मिनट से अधिक सोचने का समय न दिया। एक प्रश्न ऐसा था जो पाठ्य पुस्तकों से बाहर का था और जिस पर हाईकोर्टों की परस्पर विरुद्ध सम्मतियां थी। उसके उत्तर में मैंने पंजाब चीफ कोर्ट तथा कलकत्ता हाईकोर्ट की सम्मति से मतभेद प्रकट करके मद्रास हाईकोर्ट के साथ सहमति प्रकट की। उस उत्तर के लिए मुझे शून्य मिला और इस प्रकार ५० में २३ पाकर दो अंकों के लिए मैं अनुतीर्ण हुआ। इस पर मैंने महाशय से पूछा – "किस प्रश्न के उत्तर के लिए मुझे शून्य मिला है?" देश भक्त परीक्षक महाशय ने उत्तर दिया – "मुझे इस सम्बन्ध में बाद विवाद करना मंजूर नहीं है।" फिर तो मोहर लग गई और मैं प्रसन्नतापूर्वक कमरे से बाहर हुआ। बड़ी सीढ़ियों पर से प्रसन्नवदन उठते हुए मुझे आते देख मित्रों ने समझा कि मैं पास होकर आया हूं। कत्लेआम की धूम में मेरे

इस प्रकार आने से मित्रों को कुछ ढाढ़स हुआ, किन्तु जब मैंने यह सुनाया कि दो अंकों के लिए मैं अनुत्तीर्ण हुआ हूं तो मेरे मित्र मुझे बोलने से रोकने लगे। उन्होंने ऐसा करने में मुझे क्यों रोकना चाहा, इसका रहस्य भी आगे चल कर खुलेगा।

देश भक्त के मुकाबले में एक विदेशी के बर्ताव की कथा लिख देनी भी उचित ही है। दीवानी की मौखिक परीक्षा हिगिज्ज साहब बैरिस्टर ने ली थी। पहले तो मैं एक विषय में फेल होकर दूसरे विषय की परीक्षा में शामिल होने की आवश्यकता ही नहीं समझता था। फिर जब मित्रों के आग्रह पर अन्दर गया भी तो बेपरवाही से प्रश्नों को सुनने लगा। किन्तु जब परीक्षक का प्रेम भरा बर्ताव देखा तो लज्जित होकर सीधे उत्तर देना आरम्भ किया। चार प्रश्नों के उत्तरों के लिए जब ४० अंक मिल चुके तो अन्तिम प्रश्न पर मैंने कह दिया कि मैं उत्तर नहीं जानता। मि. हिगिज्ज ने मुझे पांच मिनट सोचने को दिए। मैंने फिर वहीं उत्तर दिया। तब प्रेम भरे शब्दों में उन्होंने कहा—"मैं तुम्हें दो मिनट और देता हूं, प्रयत्न करके उत्तर दो, आधे अंक अवश्य दूंगा। मुझे निराश न करो।" उसी समय उत्तर स्मरण हो गया, पांच अंक और मिल गये।

परीक्षा देकर मैं बाहर आया। बहुत से उम्मीदवार घबराये हुए थे। देशभक्त श्री लाला लाजपतराय जी उसी वर्ष वकालत की परीक्षा में बैठे थे। मेरे डेरे पर सब परीक्षा के सताये हुए घायल जमा हुए। हम सब मि. कार स्टीवन साहेब के मकान पर गए और एक प्रार्थना पत्र मेरे द्वारा पेश हुआ। साबह मुझे अलग ले गए और कहा — "(कानून फौजदारी) में तुमने सबसे अधिक अंक पाए हैं। तुम अकेले प्रार्थना करोगे, तो मैं सिफारिश करूंगा, किन्तु सबके साथ कुछ भी सुनाई न होगी।" मैं चुपचाप लौट आया और जुदा प्रार्थनापत्र भेजना अमानत का अपमान समझ कर चुप हो रहा।

मैं तो अपने हिसाब से परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो चुका था और

अन्त को परिणाम भी वही निकला, किन्तु मेरे साथियों में से कइयों की आशाएं पांच–सात दिनों के पश्चात् ही बंधने लग गयी थीं और उनमें से कई उत्तीर्ण होकर पूरे वकील बन भी गये। यह कैसे हुआ और उस घटना का मेरे साथ कितना सम्बन्ध रहा इसकी कहानी भी निराली है जो 'लार्पैण्ट' गद्दी की कथा के साथ सम्बद्ध है।

कलियुगी साधु

यहां पर यदि मैं एक नए मित्र के साथ सम्बन्ध होने का वृत्तान्त न लिख दूं तो इस वर्ष की कथा पूर्ण न समझी जाएगी। मेडिकल कालिज लाहौर में मेरे बंगाली विद्यार्थी मित्र का एक युवक सम्बन्धी घर से निकल गया था। उसके साधु वेश में अमृतसर में व्याख्यान देने का सामाचार लाहौर पहुंचा। मैंने अपने साथ रहने वाले दो–तीन व्यक्तियों को उनके साथ कर दिया। रात के समय सब उस विचित्र साधु को लेकर लौटे। मैं भी आये अतिथि को देखने गया तो एक काषाय वस्त्रधारी को नरेला पीते तथा हास्य विनोद में निमग्न पाया। मुझे सुनाया गया कि साधुजी ने पोठोहार और मांझा सारा रगड़ मारा है। रातों के मशालें जलवा कर खलियानों में जाटों को देशभक्ति में मस्त कर देते रहे हैं। अमृतसर में आप "दर्बार साहब के पास वृक्ष पर बैठकर अपनी व्याख्यान रूपी रामकहानी सुनाया करते थे। अंग्रेजी पढ़े साधु होने के कारण सरकारी गुप्तचर भी आपके पीछे लगे रहते थे।"

इस युवक साधुजी की उसी समय पुनरावृत्ति करायी गई। किसी ने श्वेत धोती, किसी ने कमीज और किसी ने कोट दिया और यह सब धारण कर साधुजी, बाबू कालीप्रसन्न चैटर्जी का रूप धारण कर घर को चल दिए। यह वही काली बाबू हैं, जिनके हंसाने वाले व्याख्यान लाहौर के अनारकली आर्यसमाज मन्दिर की शोभा बढ़ाते रहे हैं। काली बाबू रुला भी सकते हैंऔर लाहौर से बाहर के श्रोताओं को उन्होंने समय समय पर

आठ आंसू रुलाया भी है। किन्तु लाहौर के श्रोता उनको हास्य रस के अवतार के रूप में देखने के ऐसे आदी हो गये हैं कि उनकी बड़ी ही हृदयबेधक अपील पर भी हंस ही पड़ते हैं।

काली बाबू के साथ मेरे द्वारा जालन्धरियों का प्रगाढ़ प्रेम हो गया जिसका वर्णन समय समय पर आवेगा। पौष सवंत् १६४२ के प्रथम सप्ताह में मैं जालन्धर पहुंचा। पिता जी ने मुझे पहले ही लिखा था कि मेरे जालन्धर लौटने पर वह पेन्शन लेने आयेंगे और मुझे अपने साथ तलवन ले जाएंगे। पिताजी के उतरने का प्रबन्ध मुंशी कन्हैयालाल की नयी कोठी में किया गया। जालन्धर पहुंचने पर ज्ञात हुआ कि स्थानीय आर्यसमाज का साप्ताहिक अधिवेशन रात को हुआ करता है। सायंकाल तक मेरे पिताजी न आए। रात में उन्हें देखने के लिए एक आदमी बैठाकर मैं अधिवेशन में सम्मिलित हुआ। मैंने ईश्वर प्रार्थना के पश्चात् एक उपदेश दिया और वेदी से उतर कर अभी बैठा ही था कि भृत्य ने आकर पिताजी के पहुंचने की सूचना दी। मैं उसी समय भागा और पिताजी की मझोली को रेल के फाटक के पास जा पकड़ा नमस्कार करके पाद स्पर्श किया। पिताजी ने पूछा— "क्या! समाज का अधिवेशन समाप्त हो गया?" मैंने कुछ संकोच से उत्तर दिया—"केवल भजन और आरती रह गयी थी, आपका आगमन सुनकर भाग आया। पिता जी ने बड़े प्रेमभरे शब्दों में कहा—"क्या जल्दी थी समाज का अधिवेशन समाप्त करके ही आना चाहिए था।" मुझे इन शब्दों ने कुछ विस्मित सा कर दिया। कहां तो पिताजी मेरे तलवन से चलते समय मूर्ति के आगे चढ़ावा चढ़ाने से इन्कार करने पर इतने रुष्ट थे और कहां यह कृपा और प्रेम! कुछ समझ में न आया किन्तु दूसरे ही दिन सारा भेद खुल गया।

सत्य का प्रभाव

तलवन में ८ रु. पाने वाले जो नायब मुदरिस थे उनका नाम काशीराम था। वह जन्म के ब्राह्मण और संस्कृत पढ़े हुए

थे, किन्तु उन दिनों संस्कृत की पूछताछ कहां थी। पण्डित काशीराम का परिवार बड़ा था क्योंकि "दशास्यां पुत्रान्" की मर्यादा के उल्लंघन की सीमा पर पण्डित जो पहुंच चुके थे, और वेतन कुछ भी नहीं बढ़ा। इसलिए इधर–उधर के मनुष्यों से दान लेकर ही उनका यत्किचित् निर्वाह होता था। पिताजी से उन्हें विशेष सहायता मिलती थी, क्योंकि जब से पिताजी की आंखों पर स्तम्ब रोग का आक्रमण हुआ था तब से धर्मग्रन्थों का पाठ उन्हीं से सुना करते थे। लाहौर जाते समय "सत्यार्थ प्रकाश" तथा "पंच महायज्ञविधि" मेरी दो पुस्तकें पिता जी की बैठक के कमरे में छूट गयी थीं। मैं उन दिनों ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का स्वाध्याय कर रहा था इस कारण उन पुस्तकों के अभाव का मैंने अनुभव नहीं किया। पिताजी ने मेरी इन पुस्तकों को देख कर पण्डित काशीराम से इनका पाठ सुनाने के लिए कहा। जब पण्डित जी सुनाने को उद्यत हुए तो पिताजी ने कहा—"पहले इनकी देखभाल कर लो तब सुनाओं, हम निन्दायुक्त नास्तिकपन के ग्रन्थ सुनना नहीं चाहते।" पण्डित काशीराम जी थे आदमी चतुर उन्होंने सबसे पहले ब्रह्मयज्ञ का पाठ अर्थ सहित आरम्भ किया। ज्यों–ज्यों पिता जी सुनते उनकी श्रद्धा बढ़ती जाती। जब पण्डित काशीराम ने सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम समुल्लास सुनाया, तब पिताजी ने कहा—"पण्डित जी! हम तो अविद्या में ही पड़े रहे हमारा मोक्ष कैसे होगा। हमने तो निरर्थक क्रियाएं ही कीं, अब वे वैदिक सन्ध्या करेंगे। बस फिर क्या था, पिताजी ने वेदमन्त्र तथा उनके अर्थ कण्ठ करना आरम्भ कर दिया। अब वैदिक सन्ध्या और पंचायत अर्थात् पांच देव–मूर्तियों की पूजा साथ ही साथ होने लगी।

पिताजी की यह मानसिक अवस्था थी, जब वह जालन्धर में मुझे मिले। पिताजी उस समय मुझे फिर बहुत प्यार करने लग गये थे, मानो जो अप्रसन्नता पहिले प्रकट की गयी थी उसका प्रतिकार हो रहा था।

पिताजी के साथ मैं तलवन चला गया। उनके पास कुछ दिवस शान्ति से बिताने का विचार था, किन्तु एक सप्ताह के पश्चात् ही जालन्धर से मेरे एक माननीय वृद्ध का बुलावा गया। मैंने जालंधर पहुंचकर सुना कि पंजाब यूनिवर्सिटी के नये रजिस्ट्रार साहब मिस्टर लापैण्ट ने रिश्वत लेना आरम्भ कर दिया है। मुझे सन्देश दिया गया कि मुझसे बहुत नीचे नम्बर वाले दो विद्यार्थियों ने पांच-पांच सौ घूस देकर कृतकार्यता का प्रबन्ध किया है, और लापैण्ट साहब मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं यदि दो अढ़ाई सौ भी दे दूं तो मुझे पास कर देंगे। मैंने ऐसा करने से सर्वथा इन्कार कर दिया और साथ ही लापैण्ट साहब को पत्र लिख दिया कि यदि वह ऐसे परीक्षार्थियों को पास करेंगे जो अपना अनुत्तीर्ण होना स्वयं मान चुके हैं तो उनकी पोल समाचारपत्रों में खोली जायगी। इसके साथ ही एक बड़ी मूछों वाले यूरेशियन ने (जिनका नाम मि. ब्रैण्डन था और जो कहीं क्लर्क थे) लाहौर पहुंच कर धमकी दी कि उनके भी घलुए में पास करा दिया जाए नहीं तो वह आकाश-पाताल एक कर देंगे। परिणाम यह हुआ कि मैं भी और न घूस देने वाले दोनों पास हुए, किन्तु ऐसा नहीं कि घूस देने वाले पास न हुए हों।

जालन्धर आर्यसमाज के उपप्रधान उस समय लाला भक्तराम बी.ए. थे, जो मिशन स्कूल जालन्धर के हैडमास्टर भी थे। इन्होंने मुख्तारी की परीक्षा दी थी और बसु वावू के वार से घायल पड़े थे। इनसे घूस मांगी गयी और इनके एक सम्बन्धी ने इन्हें २५०/- रुपये घूस के लिए लाकर दिए भी। किन्तु धार्मिक भक्त राम ने इस प्रकार पास होने को पाप समझा। यह तो समझा, किन्तु एक और आर्य समाजिक भाई को यही २५०/- रुपये दे दिये जिसने बहुत से स्थानों के पांच सौ से कुछ अधिक रुपये उधार लेकर लार्पैट देव के चरणों में जा रखे और एल.एल. का सर्टिफिकेट लेकर हजारों बारे के न्यारे शुरू कर दिये।

उन दिनों एल.एल. की भी मिट्टी खूब पलीत हुई। एल.एल. से तात्पर्य तो लाइसेन्सीएट इन ला था किन्तु लोगों ने इसका मतलब गढ़ा 'लार्पेशियन लायर' अर्थात् ऐसा वकील जो लार्पैण्ट को घूस देकर कृत्कार्य हुआ है, अस्तु। लार्पैण्ट कीकहानी यहां पर ही समाप्त नहीं होती क्योंकि वह पंजाब के विद्यार्थियों के विशेषतः कानूनी परीक्षा के हताश विद्यार्थियों के साथ जोक की तरह एक वर्ष तक और चिपटा रहा। संवत् १६४२ के पौष की परीक्षा को अन्तिम आहुति देते हुए केवल इतना लिखना शेष रह गया है कि वर्ष जो महाशय वकालत की परीक्षा में प्रथम थे; उनसे मेरे पूर्णांक शायद ५० के लगभग अधिक थे। किन्तु इससे होना क्या था जब कि गृह–देवता की पूजा ही न की गई।

मुखतारी और दुकानदारी

संवत् १६४२ के अन्त में मैंने सूदों के चौक में एक दूसरी मंजिल का मकान किराये पर लिया और मुखतारी का काम जोर शोर से आरम्भ कर दिया। इसके साथ ही आर्य समाज के काम में भी मैंने बड़ा हिस्सा लेना शुरू किया। एक बड़ी मनोरंजक बात थी। मैं था आर्यसमाज का प्रधान और मुझे हिन्दू समाज की कुरीतियों के विरुद्ध काम करना पड़ता था, किन्तु मैं कहता था लाला वसन्तराय कोहली के मकान में जो उसी वर्ष पौराणिक (सनातन!) धर्म–सभा के मंत्री बने थे और जिनकी दुकान मेरे मकान के नीचे ही थी। वह बड़ा ही आनन्ददायक दृश्य था कि जो विज्ञापन नीचे नीचे लिखा जा रहा है उसका खण्डन उसके ऊपर तय्यार हो रहा है।

मेरे कानूनी मुन्शी

यह ठीह है कि वकालत की गाड़ी खीचने के लिए वकील घोड़े के सामन हैं, किन्तु यदि गाड़ी के पहिये न लगे हों, तो घोड़े बेचारे भी सटपटा कर ही रह जायेंगे। इसी प्रकार वकालत की गाड़ी भी घिस्से की तरह घिसटती फिरे यदि टीपटाप रूपी पहिये उसके नीचे लगकर उसे सुगमता से चलने फिरने के

योग्य न बनावें। कैसा ही योग्य वकील क्यों न हो, कैसी ही उत्तम वक्तृता क्यों न दे सकता हो, यदि उसकी आलमारियों में पुस्तकों का जमघट पर्याप्त न हो (इससे कोई मतलब नहीं कि वे पुस्तकें कानून की हैं वा किस्से कहानियों की), यदि वह शानदार बग्घी पर दनदनाता हुआ जाने के बदले जूतियां चटकाता हुआ कचहरी में पहुंचे, यदि उसका सूट और बूट भड़कीला न हो कोई भी मुवक्किल (मुकदमे वाला) उसके पास न फटकेगा।

मेरे पास उस समय इतना धन न था कि मैं ऐसा सामान इकट्ठा कर सकता किन्तु पिताजी पेंशन लेकर आते समय अपना सारा सवारी का सामन साथ लाए थे। मुझे बरेली कार्ट और मुश्कन तेज घोड़ी दे देने पर भी उनके पास एक वैगोनट, दो घोड़े और मझोली बैलादि बच रहे थे। संवत् १६४१ की कमाई में से जो कुछ बचता, पिताजी की भेंट करता रहा इसलिए उनकी कृपा से कुर्सी–मेज इत्यादि समान भी मिल गया था। यद्यपि कानूनी पुस्तकों को अभी खरीदना ही शुरू किया था फिर भी पढ़ने में अधिक अनुराग होने से मेरे पास साहित्य, इतिहास विज्ञानादि की पुस्तकें पहले से काफी थीं। उनके साथ जब ऋग्वेद के ऋषि दयानन्द कृत भाष्य भी मिल गये तो मानो सोने पर सुहागा चढ़ गया। मेरे मुन्शीजी बेखटके (मेरी अनुपस्थिति में) कह सकते थे कि मैं बड़ा वकील हूं, क्योंकि मेरे पुस्तकालय से बढ़कर दो ही तीन वकीलों का पुस्तकालय था।

मैंने वकालत को गाड़ी बतलाया, टोप–टाप को पहिये बतलाया, वकील को घोड़ा कल्पना किया, किन्तु अभी तक अलंकार पूरा नहीं हुआ। बिना कोचवान के घोड़े कैसे ठीक चल सकते हैं ? इस वकालत रूपी गाड़ी को कोचवान भी चाहिए। वकील कैसा ही योग्य हो, चलता पुर्जा भी हो, किन्तु काम सरलता से चलाने के लिए उसे अपने मुंशी से शिक्षा लेनी ही

पड़ती है। इसलिए वकालत रूपी गाड़ी का कोचवान मुन्शी ही होता है। यदि मेरे इस लेख को कोई नया वकील पढ़ेगा तो मेरा अलंकार तत्काल ही उसकी समझ में आ जायगा। पुराने वकील भी यदि अपनी स्मरण शक्ति को कुछ कष्ट देंगे तो उनके सामने अपनी उम्मीदवारी के समय का चित्र घूम जायगा। वकील जज के सामने खड़ा है मुन्शी कान में कहीं जिरह के सवाल फूंक रहे हैं, और कहीं कानूनी उज्र उठाने पर जोर दे रहे हैं। यह माना कि कभी मुंशी जी की बदौलत बेचारे नये वकील को अदालत से झाड़ भी खानी पड़ती है, कभी सामने के अनुभवी वकील से लज्जित भी होना पड़ता है, किन्तु बहुत बार कसे हुए शिकंजों से भी तो बस, मुन्शीजी की हिदायत पर अमल करके निकल जाता है। मुन्शीजी वकालत की जान, उसकी अन्तरात्मा हैं। मुन्शीजी की महिमा का कहां तक वर्णन किया जाय। कई अवस्थाओं में तो मुन्शीजी का ही नाम बिकता है, वकील बिचारे को कोई जानता भी नहीं। जालन्धर में हमारे स्वर्गवासी भाई तेलूराम जी एक वकील के मुन्शी थे, वकील साहब के मुवक्किल से यदि पूछा जाता कि इसने कौन वकील किया है तो उत्तर मिलता "तेल्लू मुंच्छीदा वकील दित्ता है।" एक दो नहीं ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलेंगे।

इतनी लम्बी भूमिका के पश्चात् अब मैं अपने पाठकों को अपने उस समय के मुन्शी साहब से भेंट कराता हूं। मेरे मुन्शी साहब का नाम अमीर खां था। वह पठान थे और खानदानी समझे जाते थे। स्वयं मेरी समझ में भी यह कभी नहीं आया कि संसार में कोई बेखानदानी मनुष्य भी होते हैं। अस्तु, अमीर खां साहेब केवल खानदानी ही न थे, वह भलेमानस, व शरीफ भी समझे जाते थे। फ़िर प्रश्न होगा कि उनका मुन्शीगिरी से क्या सम्बन्ध? किन्तु क्या सब मुंशियों के लिए एक ही आदर्श हो सकता है? बात ऐसी नहीं है। वकील के मुन्शी का उस्ताद होना आवश्यक है चाहे वह किसी फन का उस्ताद हो। मुन्शी अमीर खां उस्ताद थे। शब्बेरात पर जो हमारे मुहम्मदी भाई टोटखे

चलाते हैं उनके मुन्शी साहब उस्ताद थे। रात भर टोटखे चलवाते और शागिर्दों से वाहवाह लूटते। टोटखेवाजी में आपके चेहरे पर दो बार घाव लगे, जिनके चिन्ह उनकी उस्तादी के प्रत्यक्ष प्रमाण थे।

मुन्शी अमीर खां की योग्यता का एक और प्रमाण लीजिए। जब मैं संवत् १६४१ के अन्त (सन् १८८५ के आरम्भ) मैं वकालत पढ़ने लाहौर गया तो मेरे कुछ मुकदमे बचे हुए थे। मेरे वकील मुख्तार मित्रों ने कृपापूर्वक उनकी पैरवी कर दी। मुन्शी साहब केवल उन मुकद्दमों की ही फीस वसूल न करते रहे प्रत्युत और मुकद्दमें भी लेते और मेरे वकील भाइयों को यह चकमा देकर उनसे पैरवी कराते कि वे पुराने मुकदमें हैं। मेरे पाठकों की समझ में आयेगा किमेरी अनुपस्थिति में कैसे नये मुकदमें मिल सकते होंगे पर जब वे मुन्शीजी की अपूर्व बुद्धि की व्याख्या सुनेंगे तो उनका भ्रम दूर हो जायगा। जब कभी कोई पुराना मुवक्किल आता तो मुन्शी जी कहते "यदि तुम और कोई वकील करना चाहो तो कर लो किन्तु तुम्हारा भला इन्ही को (मुझे) वकील करने में है।" तब मुवक्किल पूछता कि "जब बाबूजी यहां नहीं हैं तो मेरे मुकदमे की पैरवी कौन करेगा?" इस पर मुन्शी अमीर खां साहब कहते "अरे भोले! यह सब वकील जहां से पढ़ के आये हैं वह बड़ा भारी मदर्सा है। वहां वहीं पढ़ाता हैं जो सारे पंजाब के वकीलों का शिरोमणि है। इस समय वह एक वर्ष की छुट्टी पर गया है, सरकार को सिवाय हमारे बाबू जी के उसकी जगह के लिए कोई योग्य वकील न मिला वह वकीलों को पढ़ाने गये हैं। यदि उनके पीछे दूसरे वकील ने मुकदमा हरवा दिया तो भी लौटकर वह अपील तो कर लेंगे।' बहुत से मुवक्किल तो इस प्रकार काबू में नही आये किन्तु कुछ तो चंग पर चढ ही गये।

मेरे मुन्शी साहब तो मेरे लौटने पर इस कहानी की कहानी से इन्कार ही करते रहे किन्तु मेरे एक–दो वकील मित्रों ने इसका समर्थन किया था।

अमीरखां बेचारे मर चुके हैं। उनकी प्रशंसा में एक बात अवश्य कहना चाहता हूं। उन्होंने मेरे साथ कभी भी असत्य व्यवहार नहीं किया। यदि कुछ झूठ बोला या मेरी दृष्टि में अनुचित काम किया तो अपनी समझ के अनुसार मेरे भले के लिए ही। शराब से उनको कुछ वास्ता न था, व्यभिचार के वह समीप नहीं फटकते थे, और अन्य सब बातों में वह सदाचारी थे। एक मुन्शीगीरी के रोग में फंसकर उनसे झूठा व्यवहार कभी-कभी हो जाता था।

अन्य वकीलों की तरह मेरे पास भी दो मुन्शी रहा करते थे। जिस प्रकार गाड़ी के लिये कोचवान के साथ साईस या नायब कोचवान की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार हेड मुन्शीसाहब के साथ वकील को नायब मुन्शी की आवश्यकता रहती है। जोड़-तोड़ मिलाने, गवाहों को सिखाने पढ़ाने, और अर्जी, जवाबदावे, मुजिबातें, अपील आदि लिखने के लिए तो हेड मुन्शी, और लिफाफे संभाल कर ले जाने, मुकद्दमों की तारीखें लेने, मुवक्किलों को दिलासे से संभाल कर रखने के लिए नयाब मुन्शी थे।

मुन्शी अमीर खां के समय और उसके पश्चात् भी मेरे पास कई नायब मुन्शी आये और कई गए, उन सबके नाम याद नहीं।

अब मेरे विषय में कल्पना कर लीजिए कि मैं सूदों के चौक वाले दो मंजिले, छ मंजिले मकान में स्थित, सूट,बूट और बग्ध ी का स्वामी हूं, हेड तथा नायब मुन्शी बराबर हाजिरी में रहते हैं, और मुख्तारी का काम शुरू हो गया है। दूसरी ओर आर्यसमाज के काम में भी पूरा भाग लेने लग गया हूं। मेरे नीचे एक और सनातन धर्म सभा के मन्त्री लाल वसन्तराम जी रहते हैं जिनके एक छोटे भाई का नाम शालिग्राम है, जो इस समय तक गुरुकुल के भण्डारी नाम से प्रसिद्ध है। इतनी अनुभूमिका के पश्चात् आगे की घटनाओं को समझना सुगम हो जायेगा।

जिसकी पहल उसी की जय

एक पुरानी कहानी है कि दो राजकुमार युवक किसी राजसेना के घुड़सवारों में नौकर थे। दोनों युद्ध की लूटमार समेत घर को लौट रहे थे। रास्ते में दो स्त्रियां मिलीं, उन्होंने इनसे विवाह की याचना की। वे सुन्दरी रमणियां दोनों जंगी सवारों के साथ विवाह के लिए, यह प्रतिज्ञा लेकर उद्यत हुई कि विवाह के पश्चात् उनके पति नित्य प्रातः स्त्रियों से सात जूते खाया करेंगे। दोनों का विवाह होने तक जब पहिला ही सवेरा हुआ तो उन में से एक ने उठते ही बिल्ली को अपना रास्ता काटते देखा। तलवार म्यान से झट बाहर हुई और बिल्ली का सर धड़ से अलग हो गया। यह चमत्कार जब सवार की धर्मपत्नी ने देखा तोसहम कर रह गई, और दोनों का जीवन धर्मानुसार व्यतीत होने लगा। पन्द्रह दिनों तक दोनों मित्र न मिल सके। जब मिले तो एक दूसर का हाल पूछा। बिल्ली का सिर काटने वाले ने जब मित्र से सुना कि वह नित्य जूतियां खाता है तो अपनी कथा सुनाई। दूसरे मित्र ने अपनी निर्बुद्धिता पर शोक करके प्रतिज्ञा की कि वह भी अपनी पत्नी को धर्मपत्नी बना लेगा। दूसरे ही दिन सवार महाशय तलवार बांध कर तैयार हो गए। इस विचित्र घटना को उनकी जोरू ने आश्चर्य से देखा किन्तु जब मियां तलवार खां ने तलवार का वार करके बिल्ली को घायल कर दिया तो 'बीबी' ने मुस्करा कर कहा—

"गुर्बा कुश्तन् रा रोज अव्वल बायद।"

अर्थात् बिल्ली मारने का पहला ही दिन था। पछताए क्या होत है जब चिड़ियां चुग गई खेत।

उपर्युक्त जनश्रुति के चरितार्थ करने का समय मेरे लिए मुख्तारी का काम दूसरी बार प्रारम्भ करते ही आ पहुंचा था। एक ओर तो मुन्शी अमीर खां थे और मेरे बड़े—बड़े पदाधिकारी मद्यप मित्र। दोनों के साथ "गुर्रा कुश्तन" वाला समय—समीप

आया। मकान अथवा यों कहिए कि कानूनी दुकान का फटरा (साइन बोर्ड) तैयार कराने की आज्ञा मैं मुन्शी जी को लाहौर से ही भेज चुका था। आप फटरा तैयार करा कर लाये, जिस पर मेरे नाम के साथ मुख़्तार के स्थान में लीगल प्रैक्टिश्नर (कानूनी व्यवसायी) लिखा हुआ था। ऐसा करने पर मैं पहिले स्वयं दो–तीन मुख़्तारों को शरमिन्दा कर चुका था। मैंने मुन्शी जी पर अप्रसन्नता प्रकट की तो उत्तर मिला कि उन्होंने मेरे भले के लिए ही ऐसा किया था। मैंने उन्हें स्पष्ट कह दिया कि यदि इस प्रकार की कार्यवाही होगी तो उनका रास्ता दूसरी ओर होगा। मुख़्तार शब्द लिखे जाने के लिये मैंने फटरे को लौटा दिया। मुन्शी जी ने एक बार चालाक कोचवान की तरह मुझे फिर काबू करना चाहा और एक प्रस्ताव पेश किया जो मुझे अनुचित प्रतीत हुआ, किन्तु जब देखा कि घोड़ा अड़ियल है और शायद कोचवान को उल्टे मुंह गिरा दे तो मुन्शी अमीर खां जी ने लगाम को घोड़े की ही गर्दन पर डाल दिया।

इस प्रकार एक विरोधी शक्ति से तो छुटकारा हुआ किन्तु दूसरी ओर मामला बड़ा बेढब था। ११ माघ संवत् १६४१ (२४ जनवरी सन् १८८५) की रात को मैंने, मद्य की बची हुई बोतल तोड़ कर सदा के लिए मद्य को तिलांजलि दे दी थी। लाहौर में विद्यार्थी अवस्था ने मेरी सहायता की। जब कुछ दिन जालान्धर ठहरा तो आर्य समाज के कामों की फंसावट ने रक्षा की। किन्तु जब मैं फिर से सभ्य समाज में मिला तब परमेश्वर के बिना मेरा और कोई रक्षक न था।

एक दिन प्रातः काल मेरे एक पुराने मद्यप मित्र के यहां दावत थी। मेरे मेजबान एक्जिकयूटिव इंजिनियर थे। जब उनके शानदार मकान की सजी हुई बैठक में पहुंचा तो दो डिप्टी कलक्टर, एक मुन्सिफ, दो तीन वकील और उनके हमपेशा एक्जिक्यूटिव इंजिनियर बैठे गप्पें हांक रहे थे। मुझे तो स्वप्न में भी यह न सूझ सकता था की ऐसे सभ्य पुरुष दिन दहाड़े शराब डालने का हौसला करेंगे। किन्तु मेरा पहुंचना ही

था कि शोर मच गया और चारों ओर से आवाजें आने लगी—देखो! खूब काबू आया है, अब इसके धर्म—वर्म की खबर ले डालो। देखें, कैसे छूटता है? इत्यादि—" मेरे हाथ पांव पकड़ लिए और एक महाशय प्याले में शराब भरने लगे। मैंने कहा कि मेरे अन्दर अब शराब डालना असम्भव है। भला शराबी किसी की काहे को सुनने लगे, कइयों ने हाथ पैर थामे और दो ने मुंह खोल दिया। तीसरे से प्याला उड़ेलने को आगे किया ही था कि मद्य की दुर्गन्ध ने अन्दर घृणा उत्पन्न की। एक दम उल्टी (कै) हो गई और मेरे पकड़ने वालों के कपड़े खराब हो गये। वे जरा हिले कि मैं छलांग मार कर वाहर वाटिका में आया। कूप पर जल से भरा डोल पड़ा था; कुल्ली करके सीधा घर का रास्ता लिया। उस दिन से किसी शराबी का हौसला न पड़ा कि मुझे अपने मत में लाने का प्रयत्न करें।

इन दो घटनाओं ने मुझे बहुत सी कठिनाइयों से बचा लिया और मैं निर्विघ्नता से अपने धर्म सेवा काम में लग गया।

एक रंगे सियार से भेंट

आर्य समाज के साप्ताहिक अधिवेशन अभी तक मुरलीमल की धर्मशाला में ही होते थे। यह स्थान कैसे हमें मिला और कैसे हमारे हाथों से निकल गया इसका वृत्तान्त बड़ा ही मनोरंजक है। इस स्थान आर्य समाज की उन्नति के सम्बन्ध में दो घटनाओं का कथन पर्याप्त है। परन्तु उन दोनों घटनाओं के वर्णन से पहिले अपने पिता जी की बीमारी के सम्बन्ध में कुछ लिख देना, कथा की श्रंखला को टूटने न देगा।

फाल्गुन संवत् १६४२ (फरवरी १८८६ ई०) में पिता जी के पुनः अर्धांग रोग से पीड़ित होने के कारण मैं अपनी जन्म भूमि तलवन को गया। उस समय पिता जी की चिकित्सा एक निरंजनी साधु कर रहा था, जो मुझे हरिद्वार की अर्धकुम्भी पर संवत् १६६३ के वैशाख मास में मिला था। यह साधु पिता जी को स्वर्ण भस्म तथा कुछ अन्य वस्तुएं खिला कर इलाज कर

रहा था। यह बड़े से बड़ों को 'लण्डीका' इत्यादि अप–शब्दों से याद करता था और प्रसिद्ध कर रखा था कि मेरे पिता जी का इलाज मन्त्र द्वारा करता है। इसने यह भी चमत्कार दिखलाया था कि उसके पैर को किसी आग की भी आंच नहीं जला सकती। मैं तलवन पहुंचते ही उसके पास गया और जलते कोयलों की अंगीठी मंगा कर उसे पांव रखने को कहा। साधु जी सब कुछ ताड़ गये और कड़क कर बोले–" हम अपने ढंग पर चमत्कार दिखाते है। मैने कहा– 'वैसे ही दिखाओं।' साधू जी ने कुछ मोटे उपले मंगवाये, उन्हे जला कर जब धुएं का नाम न रहा और उन पर थोडी राख जमा हो गई तो एक उपले की राख में ठोंक कर अपने पैर की एड़ी टिका दी। उनका ऐसा करना ही था कि मैंने अपनी एड़ी दूसरे उपले पर बेपरवाही से टिका दी। मैं जानता था कि यदि बीच में वायु के संसर्ग का स्थान न रहे तो आंच न सताएगी। साधू जी से कहा कि अब उनका इलाज न होगा। मै चला आया किन्तु साधू जी ने अब उपजकी लेना छोड़ दिया। फिर भी इस घटना से अपना ही उल्लू सीधा करना चाहा। सब उपस्थित सज्जनों से कहा कि मै उनसे भी बढ़कर सिद्धि प्राप्त हूं। फिर मेरे पास आग और सोने की भस्मादि दिखा कर कहा मन्त्र बोलना तो एक ढोंग मात्र था, मैं तो मक्खन में औषधियां देता हूं।यह ठीक था कि साधु जी मारा हुआ स्वर्ण ही मक्खन में खिलाते थें, किन्तु पिता जी की श्रद्धा उन पर से दूर हो गई। कुछ धन साधु जी की भेंट कर उन्हें छुट्टी दी गई और मैंने एक असिस्टैण्ट सर्जन को बुलाकर पिता जी का इलाज शुरू करा दिया।

पिता जी का असीम प्रेम

साधु जी को विदा करके पिता जी ने मुझे एकान्त में बुलाया। बरेली से जब पिता जी संवत् १६३६ के अन्त (१८८०के आरम्भ) में खुर्जे बदल कर आये तब बरेली के भीमा नामक युवक को अपना निजी सेवक बना कर साथ लाये थे। वही इस समय उनकी सेवा में था। भीमा ने आज्ञा पाते ही एक कागज

का लपेटा हुआ पुलिन्दा पिता जी के आगे खोला तो उसके अन्दर से एक पार्चमेंट का पत्रा और एक साधारण पत्र पर लिखा हुआ वसीयतनामा निकला। वसीयतनामे में मेरे तीनों बडे भाइयों को केवल मकान और जमीन का कुछ भाग देकर शेष सब धन (रोकड़, आभूषणादि) मुझे दिया गया था और कुछ धर्मार्थ कार्य मेरे सुपुर्द किए गये थे। मैं वसीयतनामा पढ़ कर इस प्रकार उदासीन बैठ गया जैसे कोई आपत्ति का पहाड़ मुझ पर टूट पड़ा हो। पिताजी को आश्चर्य हुआ। मैंने नम्रता से निवेदन किया कि मैं अपने अधिकार से बढ़कर कुछ भी लेने को तैयार नही। पिताजी ने बड़े प्रेम से मुझे समझाया, उन्होने कहा कि जितना मैं पहले तुम्हारे आर्य समाज में प्रवेश से असन्तुष्ट हुआ था उससे बढ़ कर अब मुझे सन्तोष है और मुझको निश्चय हुआ है कि तुम्ही मेरी धार्मिक आशाओं को पूरा करोगे। बहुत विवाद के पश्चात् पिता जी से मनमानी भिक्षा की याचना की, पिता जी के वचन देने पर मैने निवेदन किया–'यदि वसीयत कर देंगे तो मैं अपना भाग लेने से भी इन्कार कर दूंगा, किन्तु यदि आप मेरी प्रार्थनानुसार मुझे इस वयीयतनामे को फाड़ देने की आज्ञा दें, तो मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि जिन धर्म कार्यो को मुझसे पूर्ण कराने का आपका शुभ संकल्प है, उनकी पूर्ति में ही यथा शक्ति अपने जीवन को लगाऊंगा ।" पिता जी ने कहा–"यह पार्चमेंट पत्र तथा लिखा हुआ वसीयतनामा तुम्हारा माल है, अनेक साथ जैसा बर्ताव चाहो करो।" पिता जी की आज्ञा पाते ही मैंने वसीयतनामा फाड़ दिया और पिता जी के चरणों में सिर रख कर उनसे आशीर्वाद ले जालन्धर लौट आया।

इस बार मैंने अपने ग्राम में धार्मिक संशोधन विषय पर एक व्याख्यान भी दिया था। इसमें तलवन के प्रसिद्ध –प्रसिद्ध पुरुष उपस्थित थे। इस व्याख्यान का तृत्तांत सुन कर पिता जी बड़े प्रसन्न हुए। पिता जी की सेवा में उस समय मैंने जो मानसिक भेंट रखी थी, मैरे शेष जीवन में यदि कोई अच्छा काम मुझ से हुआ है,तो वह उसी गम्भीर घटना के प्रभाव का परिणाम हैं उस

घटना के स्मरण मात्र ने मुझे बहुत बार गहरे गड्ढे में गिरने से बचाया है। काम–क्रोधादि के आक्रमणों से कई बार मुझे पिताजी की उस समय की करुणा तथा प्रेम से पूर्ण दृष्टि के स्मरण ने ही सुरक्षित किया है। माताजी के देहान्त के पश्चात् पिताजी ने मुझे मातृप्रेम से अपनाया था। माता के प्रेम का अभाव उन्होने मुझे अनुभव नही होने दिया था, और मुझे आज इस बात के अंगी कार करने में जरा भी संकोच नहीं कि यदि मेरे अन्दर से कभी मातृप्रेम का प्रकाश पुत्रों तथा पुत्रियों के लिये होता था, तो उस कीर्ति के भागी माताजी से भी अधिक मेरे पिताजी है।

शास्त्रार्थ का पहला अनुभव

आर्यसमाज से सम्बन्ध रखने वाले पुराने अनुभवी पुरुष भूले न होंगे कि संवत् १६४३ के प्रथम तीन मास (सन् १८८६ के मध्य भाग) तक यदि पौराणिक पंडितों तथा आर्यजाति के संस्कृतज्ञों के साथ किसी प्रकार का धार्मिक विचार होता था, तो उसमें आर्यसमाज के प्रतिनिधि ब्राह्मणकुलोत्पन्न महाशय ही हुआ करते थे। 'आर्यसन्मार्ग दर्शिनी सभा, कलकत्ता' के आक्षेपों का उत्तर अवश्य खत्रीकुलोत्पन्न लाला साईदास जी ने उर्दू में दिया था, किन्तु संस्कृतज्ञों के सामने आर्यसमाज की ओर से एकाक्षी पण्डित मूलराज वा ऐसे ही अन्य विद्वान पेश किये जाते थे। इसके अतिरिक्त लाहौर के सिवाय और किसी आर्यसमाज को अधिकार न था कि शास्त्रार्थ आदि के लिये उद्यत हो सके। न केवल यही, प्रत्युत कोई भी गृहस्थ साधु पुरूष लाहौर से बाहर धर्म प्रचार का साहस नहीं कर सकता था। जब ऐसी दशा थी तो ग्रामों में प्रचार की तो कथा ही क्या कहनी है। जालन्धर शहर आर्यसमाज ने सारी प्रथा को ही बदल दिया। किस प्रकार यह प्रथा बदल गयी और किस प्रकार सोई हुई आर्य सन्तान को बड़े से बड़े अन्धकारमय कालों में जगाया गया, इसका वृत्तांत बड़ा मनोरंजक और उस श्रृंखला में वह शास्त्रार्थ पहिली कड़ी है जिसका यत्किचित् स्मरण रहा हुआ वृत्तांत मैं यहां दूंगा। पिताजी के रूग्ण होने के कारण मैं प्रत्येक आदित्यवार

के साथ एक दिन और मिलाकर उनके दर्शनों के लिये तलवन जाया करता था। एक बार, शायद चैत्र (अप्रैल) में, तीन चार दिनों की छुट्टी थी। मैं तलवन गया था, जब लौटा तो मेरे बैठक पर पहुंचते ही आर्यसमाज के कुछ सभासद मिले। उन्होंने यह बतलाया कि अमृतसर के एक श्यामदास नामी पण्डित ने आफत मचा रखी है। उन सभासदों ने शिकायत की कि आर्यसमाज के धनाढ्य पदाधिकारी कानों में रूई डाले बैठे हैं और श्यामदास ने उन्हें कहीं खड़ा होने के योग्य नहीं रख छोडा है। वह बारम्बार शास्त्रार्थ के लिये ललकारता है और नियोगादि के विषय में अश्लील शब्दों का प्रयोग कर सर्व साधारण को भड़काता है। आर्य भाइयों को मैंने बैठाया और शास्त्रार्थ की स्वीकृति का पत्र उसी समय लिख कर उनके हवाले किया। सब सभासद् प्रसन्न होकर चले गये। कुछ लिखा-पढ़ी के पश्चात् पण्डित श्यामदास को शास्त्रार्थ का विषय मूर्ति पूजा तथा अवतारवाद का मंडन मानना पड़ा और अन्तिम पत्र से तीसरे दिन की तिथि नियत की गई।आर्य समाज के सभासदों में से एक काशीराम थे, जो मेरे यहां मुन्शीगीरी के भी उम्मीदवार थे। मैंने अपने पत्र के साथ उन्हें श्रीमान लाला साईदास जी, प्रधान आर्य समाज लाहौर के पास भेजा और प्रार्थना की कि शास्त्रार्थ के लिए कोई पण्डित हमें दिया जाय।

अभी तक पंजाब में प्रान्तिय आर्य प्रतिनिधि सभा स्थापित नही हुई थी। पंजाब के आर्यसमाजों में यद्यपि राय मूलराज, लाला जीवनदास, लाला लालचन्द आदि अनेक मुखिया समझे जाते थे, किन्तु अन्दर वाले सब जानते थे कि समाजरूपी गृह के कर्त्ता-धर्त्ता उस समय के प्राण -लाला साईदास ही हैं। काशीराम लाला साईदास के पास पहुंचे । वहां से न केवल यही कृतकार्यता हुई प्रत्युत उत्साह को गिराने वाले शब्दों की बौछाड़ भी पड़ी। कई लाहौरी भाइयों ने कहा छोटे छोटे आर्य समाजों को बिन हमारी आज्ञा के शास्त्रार्थ नही रख लेना चाहिये। एक युवक ने जोश में आकर कहा- यदि साहस नही

था,तो शास्त्रार्थ की डींग क्यों मारी ?'' काशीराम फिर क्या ठहरते; वहां से लौटते हुए अमृतसर ठहरें उस समय पण्डित धर्म चन्द जी काश्मीरी उक्त आर्य समाज के प्रधान थे। उन्होंने लाजपत नामी एक ब्राह्मण पुत्र को छात्रवृत्ति देकर पढ़ाया था। उन्होने उस विद्यार्थी को काशीराम जी के साथ कर दिया। रात को शास्त्रार्थ था और लाजपत जी मेरे पास दोपहर को पहुंचे। ऋषि दयानन्द कृत भाष्यों में से नियत विषयों पर मन्त्रार्थ सरल करने में लगा दिया।रात को जैसे तैसे शास्त्रार्थ हुआ।लाजपत जी संस्कृत में बोलते थे। पण्डित श्यामदास ने उपस्थित जनता पर प्रभाव डालने के लिए आर्य भाषा में भाषण आरम्भ किया। फिर क्या था जब उधर से प्रतिज्ञा भंग हुई तो मैने स्वयं आर्य भाषा में उत्तर देना आरम्भ किया। तब तो पण्डित जी ने इस पर बल दिया कि विद्यार्थी शास्त्रार्थ करे, किन्तु मेरा उत्तर यह था कि जब दूसरी ओर से संस्कृत में भाषण करने की प्रतिज्ञा एक बार तोड़ी जा चुकी है तो शास्त्रार्थ मैं ही करूंगा। परिणाम क्या हुआ यह मैं नही कह सकता, किन्तु इतना कह सकता हूं कि आर्य समाज का गौरव सर्वसाधारण की दृष्टि में घटा नहीं।

इस शास्त्रार्थ के दो परिणाम हुए। प्रथम यह कि जब दूसरे दिन काशीराम जी ने लाहौर की सारी कथा सुनाई तो मैने दृढ़ मानसिक प्रतिज्ञा कर ली कि आगे कभी अपनी सहायता के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं करूंगा। इस मानसिक संकल्प ने मुझे आर्य ग्रंथों के स्वाध्याय की ओर अधिक रूचि दिलाई। इसके पश्चात् के दिनों की दिन पत्रिका देखने से विदित होता है कि ज्येष्ठ संवत् १६४३ (सन् १८८६ इंसवी) के आरम्भ से ही मैंने मूल वेदों की पुनरावृत्ति आरम्भ कर दी थी।दिन में कई बार जहां कुछ न कुछ धर्म सम्बन्धी अध्ययन करता, वहां प्रातःकाल संध्या अग्निहोत्र के पश्चात् कम से कम २० वेद मन्त्रों का पाठ शनैः शनैः अवश्य होता। वेद भाष्य का देखना भी पीछे आरम्भ किया तो उसके लिए और ही समय निकाला। प्रातः अन्य नित्य कर्मो की समाप्ति पर मूल वेद के पाठ का अभ्यास बहुत देर

तक चला। उन दिनों बिना व्याकरणादि जाने भी वेद मन्त्रों में जो उच्च गम्भीर और आश्वासक भाव कभी –कभी अनुभव में आते थे, एक आश्चर्यजनक घटना थी। कई बार मैने उस समय के प्रसिद्ध पण्डितों के सामने कुछ भाव लेकर जो मूल मन्त्र पेश किए तो उन्हे आश्चर्य होता था और उनमें से कई यह मान लेते थे कि वेदार्थ तक पहुंचने के लिए वेदाङ्गों की सहायता की अपेक्षा मानसिक शुद्धि की अधिक आवश्यकता है। यह अवस्था केवल संवत् १६४८ के फाल्गुन मास (१८६१ ईसवी) तक रही। उसके पश्चात् आर्य समाज के घरु युद्ध में अन्य हानियों के साथ सर्वोत्तम स्वाध्याय का भी लोप सा होता गया, और उस स्वाध्याय की भूख बारम्बार चमकने पर भी, उसमें विघ्न पड़ते ही रहे।

इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि जालन्धर नगर निवासियों का ध्यान आर्य समाज के काम की ओर बडे जोर से खिंचा; इसके सभासदों पर आक्रमण आरम्भ हुए। तपाया हुआ लोहा चोटों से अधिक बढता है, इसी प्रकार आर्य पुरूषों पर जितने आक्रमण हुए उतने ही उनके हृदय विशाल होते गये। पण्डित श्यामलाल के व्याख्यानों का खण्डन दूसरे दिन से ही आर्य मन्दिर में आरम्भ हो गया।इतनी भीड़ आर्य मन्दिर में पहिले कभी नहीं हुई थी। तीसपैतीस सभासद् भी बढ़े और उत्साह से काम होने लगा।

बिरादरी से खारिज की धमकी

इस उन्नति को देख कर कुछ पौराणिक ब्राह्मणों का हृदय सन्तप्त हुआ और उन्होने थापर खत्रियों के प्रसिद्ध दीवानखाने में आर्यसमाजियों को जातिच्युत करने के लिए एक पंचायत बुलाई । पंचायत की धूम मच गई और जालन्धर के बडे–बडे पण्डित व्यवस्था देने को तैयार हुए। नगर की बिरादरियों के सभासद् बडे भयभीत थे कि अब कैसे छुटकारा हो। उस समय लाला देवराज जी की धार्मिक श्रद्धा बहुत बढ़ी हुई थी। मुझे

साथ लेकर वह एक प्रसिद्ध नैयायिक पंडित के यहां पहुचे जिनसे उन्होने यज्ञोपवीत भी धारण किया था। पण्डित ज़ी के विषय में यह प्रसिद्ध था कि अपनी एक सम्बन्धिनी स्त्री से उनका धर्म विरूद्ध सम्बन्ध दूसरे पण्डित जी नगर की ब्राह्मण–मण्डली के शिरोमणि तथा लोकमान्य समझे जाते थे, किसी अन्य व्यभिचार के दोषी प्रसिद्ध थे। तीसरे जुएबाज थे, इत्यादि। भाई देवराज जी ने मेरे कुछ न्याय विषय पर बात कर चुकने पर कहना आरम्भ किया–" पण्डित ज़ी! आप मेरे गुरु है। आप पंचायत कीजिए। किन्तु हमारा प्रश्न होगा कि जो पण्डित होकर इस प्रकार के व्यभिचार दोषों से दूषित हों, पहिले उनको गधे पर सवार कराके देश निकाला दिया जावे, तब हम अपने विषय में किए गये प्रश्नों के उत्तर देंगे।"

इधर तो लाला देवराज जी ने सोधिंया वाली धमकी दी थी, उधर बहुत से खत्री चौधरी जिनके पोते दौहित्र, भतीजे, पुत्रादि आर्य सामाजिक थे, उन ब्राह्मण कुलोत्पन्न पुरुषों की सूची बनाने लगे, जो निरक्षर भट्टाचार्य एवं गायत्री मन्त्र से भी अनभिज्ञ थे। परिणाम यह हुआ कि जब पंचायत का समय आया तो पता लगा कि शिरोमणि ब्राह्मण कुलभूषण जी प्रातःकाल की ट्रेन से ही किसी काम के बहाने अमृतसर चले गये और नेयायिक जी जनेऊ कान पर चढ़ा लोटा हाथ में ले जो दस बजे दिशा जंगल को निकले तो शाम तक घर की सुधि ही न ली। पंचायत का समय३ बजे था। ४ बजे तक टक्करे मारने पर जब कोई पण्डित न मिला तो पंचायत बुलाने वाले अपना सा मुंह लेकर घर लौट गये। ऐसी अवस्था होने पर पण्डित श्यामलाल को, जो भेंट पूजा लेकर चल दिए थे, एक बार लाने के लिए फिर से देवी दुर्गा के भक्त अमृतसर गये। वहां क्या था, नई भेंट की आशा पंडित जी को फिर जालन्धर घसीट लाई। इस बार पण्डित श्यामलाल ने सत्यार्थ प्रकाश को पढ़ कर लोगों को भरमाना आरम्भ किया। दैवयोग से उस बार भी मैं पिता जी को देखने तलवन गया हुआ था। दो दिन तो

पण्डित जी की धूम रही किन्तु तीसरे दिन जालन्धर पहुंचते ही मैं पण्डित जी के व्याख्यान में गया। उन्होने उस समय पाराशर के उसकी श्लोक को पढ़ कर, जिसका ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में खण्डन किया है; सर्वसाधारण को बतलाया कि दयानन्द गाय से गधी को अच्छी बतलाता है। मैने बीच में ही टोक कर सारी इबारत पढने के लिए कहा। मुझे बन्द करना पण्डित श्यामलाला जी की शक्ति से बाहर था। पण्डित जी की दूसरी डांट पर मैं प्लेटफार्म पर उनके पास जा खडा हुआ और उसके हाथ से पुस्तक लेकर असल इबारत पढ़ दी। मेरे कार्य में सभ्यता का बर्ताव था, इसलिए पण्डित जी को भी वैसा ही बर्ताव करना पड़ा। तब मैंने उच्च स्वर से कहा कि यह सत्यासत्य के निर्णय के कार्य हैं, हार जीत से विद्धानों का तात्पर्य नही होना चाहिए। जैसे आर्य समाज के सभ्य शान्ति पूर्वक पंडित जी का कथन सुनते रहे है, आशा है, पण्डित जी भी कल से हमारे आर्य मन्दिर में हमारे उत्तर सुनने आवेंगे । पंडित जी उस समय धार्मिक जोश में थे, उच्च स्वर से बोले "मै अवश्य आऊंगा।"

दूसरे दिन इधर हमारी सभा लगी, उधर एक घण्टा पहिले से ही निष्पक्ष नगर निवासी हिन्दू मुसलमान दोनों पंडित जी की सेवा में पहुंचे। पंडित जी उन्हें टालते थे और वे उन्हें लाने का यत्न करते थे। अन्त को जन समुदाय की विजय हुई और पण्डित जी समेत वे शहर के मध्य से होते हुए चल दिए। हमारे यहां उस समय १५०से अधिक जनसंख्या थी। पण्डित जी के साथ डेढ़ दो सहस्र पुरुष आये। अन्दर, बाहर, छतें सड़क तक आदमी थे।२० मिनट तक तो स्वमत स्थापना में गया और पण्डित जी सुनते रहे। किन्तु जब उनके सिद्धान्तें का पुराणों के ही प्रमाणो से खण्डन आरम्भ हुआ तो "राधाकृष्ण की जय" बोल कर पण्डित जी उठ खड़े हुए। उनके साथ केवल दो अढाई सो पुरुष उठे। शेष सभी जमे रहे। व्याख्यान डेढ़ घण्टे तक होता रहा।१०,११ सभासद् बढ़े और इस नाटक की दूसरी बार जवनिका गिरी।

पिता जी की शिक्षाप्रद मृत्यु

पिता जी दिनों दिन निर्बल होते जाते थे। डाक्टरों के इलाज से भी जब कुछ लाभ न हुआ तो एक बडे प्रसिद्ध यूनानी हकीम को लाया गया। उसने मेर पास १५०.)की लागत का नुस्खा भेजा, जिसमें मोती आदि भी लिखें थे। नुस्खा बंधवा कर भेजा गया। हकीम जी के इलाज से एक दो दिन कुछ चमत्कार सा दिखाई दिया, पर पीछे उनकी दशा शोचनीय हो गई। मै तलवन पहुंचा और आते ही लेटे हुए पिता जी को प्रणाम किया। मुझे देखते ही उन्होंने हाथ बढ़ा कर आशीर्वाद दिया। मैंने देखा कि मेरे सबसे बड़े भाई गिलास में कुछ पीने की वस्तु लिए खड़े हैं। पिता जीने कहा—"यदि मुंशीराम कह दे कि इसमें मांस नहीं तो मैं पी लूंगा, वह मेरे भले के लिए भी झूट नही बोलेगा।" मै आश्चर्यचकित हुआ और अलग ले जाकर भाई साहेवान से असल बात पूछी। उन्होंने बतलाया कि हकीम जी ने चूजे (मुर्गी के बच्चे) का शोरबा अपनी दवाई का अनुपान बतलाया है। भाई साहेब ने वही बनवाया और पिताजी को बिना बतलाये, चने का पानी कह कर पीने को दिया। उन्होंने एक घूंट लेते ही फेंक दिया और उसके पश्चात चने का रस आदि ले जाने पर भी १८ घंटों तक कुछ भोज्य पदार्थ ग्रहण नहीं किया। मैंने उसी समय परीक्षा करके निश्चय किया कि वास्तव में उसमें मांस का कुछ भी अंश नही है और गिलास पिता जी के सामने पेश किया। उन्होने केवल दो शब्द कहे—"पी लू? मैंने उत्तर दिया —"पी लीजिए।" इस पर उन्होंने उसे पी लिया। मैने देख लिया कि पिता जी का अन्तिम समय ही है। हकीम जी की भी बुद्धि कुछ काम नही करती थी। फिल्लौर का डाक्टर बड़ा योग्य सुना गया। था। उसे भी बुलाया। रात किसी प्रकार से काटी। प्रातः नये डाक्टर ने भी कुछ यत्न आरम्भ किया। हिचकी बडी जोर की थी, उसे बन्द करना कठिन हो गया दोपहर के बाद उन्होंने मुझे पास बिठा कर उपनिषदों का पाठ करने के लिए कहा मैने

ईशोपनिषद् को समाप्त करके कठ का पाठ आरम्भ किया। पिता जी ने इशारे से कान अपने मुंह के पास ले जाने को कहा। हिचकी बोलने नही देती थी। शब्द कठिनाई से निकले किन्तु थे स्पष्ट –" वैदिक हवन कराओ।" मेरा मुन्शी साथ आया था। तेज घोडी पर उसे भेजा कि जालन्धर से सामग्री लेकर दूसरे दिन तक पहुंच जाय।

मध्यान्होत्तर कुछ शान्ति रही, फिर चित्त अधिक बिगड़ने लगा। कुछ काल के पश्चात् थोड़ा संभले। सारे परिवार को इकट्ठा करके आशीर्वाद दिया। मेरे कुछ भाई सांसारिक बातें करने लगे, सबको हटवा दिया और फिर आंखे बन्द कर लीं। रात को खाना–पीना त्याग दिया। पण्डित काशीराम आकर बैठे , कहा भजन बोलो। वह कृष्ण भक्ति के कुछ पद बोलने लगे। कहा–'जो आप न छूटा वह दूसरों को कैसे छुडायेगा। मुन्शी जी ! कोई निर्वाण पद बोलो। मुन्शी जी ने एक सूरदास का निर्वाण पद कहा। मैने उसके पश्चात् कबीर का एक भजन कहा,मै तो अब अच्छा हूं तुम सो जाओ। मै बैठा रहा तब मुझे निश्चय दिलाने के लिए आंखे बन्द कर ली। मैं कुछ काल के पश्चात् लेट गया, किन्तु नींद न आई। फिर पिता जी का श्वास शीघ्रगामी हुआ। उठ कर मैं पैर दबाने लगा। फिर मैने उनका सिर मला। उन्हें नींद आ गई। दो घण्टे तक मैं हल्के हाथों से सिर दाबता रहा और वे बराबर सोते रहे। दूसरे दिन कुछ अच्छे दिखाई दिए। मुन्शी सामग्री लेकर न आया और पिता जी ने तीन बार पूछा –" वैदिक हबन कब होगा ? शीघ्र होना चाहिये।" शाम से फिर अवस्था बिगड़ने लगी। आठ बजे मेरे हाथ में नाड़ी थी और वेद मन्त्रों का मैं पाठ कर कर रहा था। मेरे बड़े चाचा ने गीता का पाठ आरम्भ किया। ६ बजे पिता जी ने प्राण त्याग दिये और नाड़ी बन्द हो गई।

उसी समय स्त्रियों का रोना पीटना आरम्भ हो गया, कुछ काल तो मैं चुप रहा किन्तु फिर इस शोर को हटा कर सारा

परिवार कोई तीन सौ नगर निवासियों सहित मृतक शरीर के पास रतजगा करता रहा। मेरी विचित्र दशा थी। पिता जी के देहान्त से मानों माता पिता दोनों से वियोग हो गया। न रोना आता था और न आस-पास वालों की बातें समझ में आती थीं। प्रातः फिर भाइयों और बिरादरी में काना-फूसी शुरू हुई। मुझे ख्याल हुआ कि शायद मुझे पौराणिक अन्त्येष्टि संस्कार के लिए तंग करें, किन्तु जब आपस की बड़ी हलचल देख कर भी मैं न हिला तो किसी का हौसला मुझे कुछ भी कहने का न पड़ा। बड़े भाई ने पौराणिक रीति से अर्थी के साथ-साथ कार्यवाही शुरू की और घृत चन्दनादि के लिए आज्ञा दी। पिताजी के नौकर ने बहुत सा केसर निकाल कर दिया। अब बिना बोले निर्विकल्प समझौता हो गया कि श्मशान भूमि में पहुंचने की मृतक शरीर के साथ किसी का वास्ता न रहेगा। श्मशान में पहुंचने पर मेरी आज्ञानुसार वेदी बनी और चन्दन की लकड़ी लगाई थी। मंत्र पाठ करने वाले मैं और मुन्शी काशीराम तथा आहुति डालने वाले केवल कुछ मेरे विचार के लोग ही नहीं, प्रत्युत मेरे ज्येष्ठ भ्रातादि भी थे। उसी समय सामग्री लेकर मेरा आर्य समाजी मुन्शी पहुंचा। कुछ सामग्री वहां खोली गई और शेष से उस स्थान पर जहां पिता जी का देहान्त हुआ था सांयकाल को हवन हुआ।

जब मतृक शरीर को जलाने की तैयारी हुई तब अर्थी के ऊपर के कारचोबी के दुशाले पर महा ब्राह्मणों में झगड़ा हो गया। एक कहता था कि केवल मेरा ही अधिकार है। किन्तु दो और उससे भाग मांगते थे। जबकि हमारा सार परिवार शोक सागर में डूबा हुआ था उस समय इन देवताओं का बाजारियों की तरह श्मशान में झगड़ना मुझे अनुचित प्रतीत हुआ और मैंने मृतक शरीर को कारचोबी के दुशाले सहित चिता में रख कर भस्म करा दिया। दूसरी घटना बड़ी ही हृदयबेधक थी। पिता जी के देहान्त के समय मेरी एक ही सन्तान अर्थात् मेरी पुत्री वेदकुमारी थी। उस समय ५ वर्ष की होगी। पिता जी को उसके

साथ बड़ा प्रेम था। भोजन के समय उन्हीं के साथ वह खाती थी। जब प्रातः अर्थी को ले चले तो उसने पूछा–"लाला जी कहां है?" उस समय माता ने बिलख कर कहा–"लाला जी तो मर गये।" बिचारी कन्या ने न किसी को मरते देखा था, न उसको ऐसी घटना का ज्ञान था। सबको शान्ति से कहती फिरी–"लाला जी मर गये"। पिताजी को सब लाला जी कह कर पुकारते थे, इस लिए पुत्री वेदकुमारी भी ऐसा ही कहती थी। श्मशान से जब लौट कर आये तो पिता जी की बैठक को अन्दर से बन्द करके मैं सोने की चेष्टा करने लगा। उस समय वेदकुमारी नित्य आकर पिता जी से फल मिठाई आदि खाने को लिया करती थी और वह उसकी बाल क्रीड़ा को देख कर प्रसन्न होते और उसे प्यार किया करते थे। नियमानुसार बालिका आ खड़ी हुई। किवाड़ बन्द देख कर धक्का दिया। फिर पुकारा–"लाला जी खोलो।" जब किसी ने न सुना तो किवाड़ों को पकड़ कर चीखने लगी। लाला जी! कुण्डा खोलो, हाय खोलते नहीं।" रोने का शब्द सुन कर मैं उठ खड़ा हुआ। किवाड़ खोला तो बालिका अन्दर को गिर पड़ी। उठ कर पलंग से लिपट गई तब उसको पता लगा कि मरना किसे कहते हैं और आपसे आप समझ गई कि "लाला जी के शरीर को जला आये हैं। बालिका पलंग के पावे के साथ लिपटी हुई विलाप करने लगी और मैंने भी आठ–आठ आंसू रोना शुरू किया। स्त्री–पुरुषों का एक समूह एकत्र हो गया और धाड़े मार–मार कर सब रोने लगे। यदि उस समय पुत्री न रुला देती तो शायद मैं पत्थर सा बना रहता और शायद किसी बड़े रोग से ग्रस्त भी हो जाता।

ज्येष्ठ भ्राता जी ने गरुड़ पुराण की कथा रखाई। मैंने उसी समय जुदा उपनिषदों का स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। सब संबंधी वगैरह आये थे और रात के इकट्ठे डेढ़ सौ पुरुष भूमि पर शैया करके सोते थे। इस अवसर पर कईयों ने दस दिनों के अन्दर मेरा विरोध करने का प्रयत्न किया। परन्तु आगे बढ़ने का हौसला किसी का न हुआ।

पिताजी के देहान्त पर मेरी एक प्रकार से कायापलट हो गई। अन्त समय में उन्होंने मेरी सचाई पर जो विश्वास प्रकट किया, उसने मुझे सत्य पालन की ओर सर्वथा झुका दिया। मैंने दृढ़ संकल्प किया कि पिता जी की मंगल इच्छा के अनूकूल ही आचरण करना चाहिये। यह इसी का परिणाम था कि जब सारे भाई इस संदेह में थे कि जो तालियां पिता जी के देहान्त से बारहवें दिन भीमा ने, उनकी अन्तिम आज्ञानुसार, मेरे सामने रख दी थीं, उनसे ताले खुलने पर उन लोगों को भी कुछ लाभ पहुंचेगा या नहीं, तब मैंने स्वयं उन्हें जमा करके उनकी इच्छानुसार सबको सन्तुष्ट करने के पश्चात् जो बच रहा वहीं लिया।

पिता जी का देहान्त १२ आषाढ़ (२६) को हुआ थां। एक महीना मैंने खुर्जा, बरेली और बनारस की कोठियों से पिता जी का जमा किया हुआ रुपया वसूल करने में बिताया। बरेली और बनारस में पुराने मित्र भी मिले, परन्तु मेरा उनके रहन–सहन से बहुत भेद हो चुका था। फिर भी सबने मेरे साथ पुराना ही प्रेम का व्यवहार किया। भाद्रपद (अगस्त) मास में नगद रुपया भी बांट दिया। मेरे तीनों भाईयों से अधिक नगदी ली और मुझे पूरा दाम लगा कर बग्घियां और घोड़े दिये गये जिनके कारण मेरा मासिक व्यय पहले से बहुत बढ़ गया। सारी सामग्री को तलवन में छोड़ कर मैं जालन्धर पहुंच गया।

जालन्धर में मैंने सूदों की चौक वाली बैठक छोड़ दी थी। मेरा परिवार अपने पितृ गृह में निवास करता था, मैं भी वही जाकर टिका, क्योंकि वकालत की परीक्षा के लिए फिर लाहौर जाना था और मुखतारी का काम पिता जी के देहान्त पर जालन्धर से अनिश्चित अनुपस्थिति के कारण बन्द हो चुका था मैं शायद उसी समय लाहौर चला जाता किन्तु दशहरे के मेले की मंडी पर तीन में से दो जानवर "एक घोड़ा और एक घोड़ी" बेच देने का विचार था। इसलिए भी दशहरे के मेले तक ठहरना पड़ा। घोड़े का बांकापन और शान देख कर म्यूनिसिपैलिटी की

ओर से इनाम तो मिल गया, किन्तु सौदा एक जानवर का भी न हुआ, इसलिए सब जानवरों के पालन का बोझ सिर पर रख मैं लाहौर को चल दिया।

मेलों में वैदिक धर्म-प्रचार

यह शायद पहिली बार था कि जालन्धंर में दूसरे मेले पर ईसाइयों के साथ आथ आर्य जाति की किसी संस्था की ओर से धर्म प्रचार का प्रबन्ध किया गया था। उस समय महाशय भक्तराम बी.ए., मिशन स्कूल के हेडमास्टर जालन्धर आर्य समाज के उपप्रधान थे। रामलीला का मेला उस सूखे तालाब पर लगा करता था जिसे अब गांधी मण्डप कहते हैं। उसी तालाब के ऊर बड़े प्रसिद्ध स्थान पर आर्य समाज की ओर से खेमा लग रहा था। ईसाई मिशन के मुकाबिले में उन्हीं के स्कूल के हैडमास्टर का अपने हाथों 'ओम्' का झण्डा गाड़ना तथा खेमे के खूंटे ठोकना बड़ा ही विचित्र दृश्य था। आर्य समाज के सिद्धान्तों का खूब प्रचार हुआ, मैं भी बोलता था किन्तु श्री देवराज जी के व्याख्यान सर्वसाधारण पर बहुत असर डालते थे। बड़ी बात यह थी कि जालन्धर प्रान्त के सबसे बड़े जमींदार और साहूकार के पुत्र को सादा जीवन व्यतीत करते हुए, धर्म की सेवा में निमग्न देख कर पत्थर दिल भी पसीज कर उस ओर झुकते थे। ईसाइयों का प्रचार उस वर्ष बिल्कुल फीका पड़ गया। अब ईसाई प्रचारक के पास दो तीन अदामी मुश्किल से रह जाते तो वह स्वयं हमारे कैम्प में आ जाते। जालन्धर आर्य समाज के प्रचारों में एक विशेषता आरम्भ से ही रहती थी। उसके काम से किसी भी अन्य मतावलम्बी व्यक्ति को असभ्य व्यवहार की शिकायत का अवसर नहीं मिला। जालंघर आर्य समाज के उस समय के पदाधिकारियों को यह अभियान था कि वे असभ्य विरोधियों को भी सभ्य बनाने में कृतकार्य होते हैं।

दशहरे के पश्चात् हम सब ने पारिवारिक उपासना का प्रचार प्रारम्भ किया। प्रत्येक सप्ताह, शायद मंगलवार को सब

भाई किसी सभासद के घर इकट्ठे होते। मुहल्ले वाले स्त्री पुरुष भी आ बैठते। भजन कीर्तन के पश्चात् ईश्वर की स्तुति प्रार्थना, और तत्पश्चात कभी–कभी धर्मोपदेश भी होता था। इस प्रथा के चलाने का सारा यश भी देवराज जी को ही मिलना चाहिए। यहीं क्यों और भी हृदय पर अधिक प्रभाव डालने वाले कार्यों का आरम्भ श्री देवराज जी के ही अनुकूल हृदय से हुआ करता था।

एक विस्मृत धर्मोपदेशक

लाहौर आर्य समाज में संवत् १६४३ से "आटा फण्ड" बड़े जोर–शोर से चला था। लाहौर से ही अन्य आर्य समाजों ने भी "आटा फंड" चलाने की शिक्षा ली थी। धर्म कार्यों के लिए इस प्रकार आर्थिक सहायता एकत्र करने की प्रथा यहां तक चली कि अब तक आर्य प्रतिनिधि सभा से गिरते–पड़ते भी बजट से 'आटा फंड' को नहीं काटा। यह 'आटा फंड' कैसे चला! संवत् १६४२ की गर्मियों में जब लाहौर आर्य मन्दिर की ड्यौढ़ी के ऊपर वाले मकान में साप्ताहिक अधिवेशन हो रहा था एक साधारण लम्बा दुबला साधु आया और घुटने टेक कर बैठ गया। सत्यार्थ प्रकाश की कथा समाप्त होते ही उसने एक मर्मस्पर्शी वक्तृता दी और यह प्रस्ताव किया कि प्रत्येक आदित्यवार को आर्य सामाजिक सभासद् चुटकी–चुटकी आटा घर–घर से भिक्षा करके लावें और समाज का काम चलावें। इसका प्रचार इतना हुआ कि दयानन्द कॉलिज की आमदनी का यह एक सन्तोषजनक भाग बना। बहुत से घरों में धर्म–घट रख दिए गये, गृह पत्नियां प्रातःकाल आटा गूंधने से पहिले एक मुट्ठी आर्य समाज के निर्मित्त निकाल कर धर्म–घट में डालती रहीं।

यह साधु जिसने ऐसा प्रभाव डाला, कौन था। जब साधु बोल चुका तो आरती होने पर वह बड़े प्रेम से मिला। लाहौर आर्य समाज के प्रधान श्री साईदास जी ने मुझ से साधु जी का नाम पूछा। मैंने बताया कि इसका नाम "रमता राम" है और यह

कुछ काल से जालन्धर से श्रीमान् सरदार विक्रम सिंह सी.एस. आई. के यहां ठहरे हुए हैं आर्य समाज से बड़ा प्रेम रखते हैं और श्री देवराज जी के और मेरे साथ इनका गहरा धार्मिक संबंध है। रमताराम जी कुछ काल लाहौर में रहे, फिर वहां से न जाने कहां चले गये। एक बार उनकी उड़ती सी खबर एक स्थान से आई थी फिर कुछ पता न लगा। रमताराम जी का देवनागरी तथा अंग्रेजी अक्षरों का लेख अत्युत्तम था। स्वामी योगेन्द्रपाल की तरह वह वेद मन्त्रादि लिखते रहते थे। जालन्धर में उन्होंने कभी सर्वसाधारण के सामने वक्तृता नहीं दी। लाहौर को उन्होंने हिला दिया था। उनके अन्दर धर्म के लिए बड़ी श्रद्धा थी और उनका हृदय जोश की अग्नि से प्रज्वलित रहता था। रमताराम जी धूमकेतु की तरह आये और वैसे ही चल दिए। न जाने कितने धूमकेतु आये और चले गए जिनको आर्य समाज में न किसी ने देखा और न पहिचाना। परमात्मा करे कि ऐसे चमत्कारों से भी शिक्षा लेने का पाठ आर्य भाई पढ़ें और अपनी संशोधक शक्ति को बढ़ायें।

धर्म-घट का निर्माता कौन था

यह ठीक है कि धर्म-घट रखवाने का प्रचार लाहौर में पहिले पहिले स्वामी रमताराम जी ने कराया किन्तु उक्त स्वामी जी इस विचित्र विचार के निर्माता न थे। वह ख्याल पहिले श्री देवराज जी के काल्पनिक मस्तिष्क से निकला था। उन्होंने जालन्धर आर्य समाज के मन्त्रित्व के अधिकार से अपनी अन्तरंग सभा में सबसे पहिले यह प्रस्ताव पास कराया कि सब सभासदों के मकानों में एक-एक घड़ा रखा जाए जिसमें प्रातः एक मुट्ठी आटा आर्य समाज के कामों के लिए डाला जाय। इसका नाम देवराज जी ने ही अपनी विचित्र भाषा में "चाटी सिस्टम" रखा क्योंकि आटा रखने के बड़े मुंह वाले घड़े को जालन्धर में 'चाटी' कहते हैं। देवराज जी की कल्पना शक्ति की यहीं तक समाप्ति न थी। उन्होंने चाटी सिस्टम के साथ 'रद्दी फंड' भी खोल दिया। इसका मतलब यह था कि सभासदों के घरों में

महीने के अन्दर जितनी रद्दी इकट्ठी हो, वह सब आर्य समाज का चपरासी उठा कर ले जावे और उसे बेच कर एक धन जमा कर लिया जाय। जहां तक मुझे याद है कि इसी "रद्दी फंड" की आमदनी से जालन्धर आर्य समाज के पुस्तकालय के लिए पुस्तकें तथा समाचार पत्र मंगाए जाते थे।

जालन्धर आर्य समाज में उस समय बड़े बल तथा उत्साह से कार्यारम्भ हो गया था। जहां मंगलवार को गृह उपासना हुआ करती थी। वहां प्रत्येक बुधवार को सायंकाल एक वाग्वर्धिनी सभा भी हुआ करती थी। इस सभा में केवल युवक ही नहीं बोला करते थे, प्रत्युत अधेड़ से लेकर बूढ़े तक व्याख्यान दिया करते थे।

विजयादशमी से एक सप्ताह पश्चात् मैं लाहौर चला गया। वकालत की परीक्षा फिर से देनी थी क्योंकि यह मेरे लिए अन्तिम ही अवसर था। इसके पश्चात् बिना बी.ए. पास किए कोई भी वकालत की परीक्षा नहीं दे सकता था। मैंने अपने गत वर्ष के ही कुछ साथियों के पास डेरा किया। जिस बड़े द्वार के अन्दरसे अनारकली का बड़ा आर्य समाज मन्दिर दिखाई देता है उसके बाई ओर मकान में मैं अन्य विद्यार्थियों के पास ठहरा। इस मकान के ऊपर की छतों पर उन दिनों, वर्तमान देव समाज के प्रवर्तक पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री अपने परिवार सहित रहते थे। उस समय तक उनका संबंध ब्राह्मसमाज के साथ ही था किन्तु उन्होंने उसी वर्ष की ग्रीष्म ऋतु में (मेरी लाहौर में अनुपस्थिति में) लोगों को ब्राह्म मन्दिर में ही इकट्ठा करके लाहौर गवर्नमेन्ट स्कूल की ड्राइंग मास्टरी छोड़ कर स्वर्गवासी बाबू नवीनचन्द्र राय से सन्यास धारण किया था और अपना नाम शिवनारायण के स्थान में 'सत्यानन्द' रख लिया था। हां, सन्यास लेने के पहिले और पीछे भी यह अग्निहोत्र की छाया तक से डरते हुए अग्निहोत्री ही बने रहे।

पाठकों के हृदय में स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न हुआ होगा

कि जब सन्यास ही ले चुके तो परिवार कैसा? किन्तु उन्हें समझ लेना चाहिए कि यह सन्यासी भी अनोखा ही था। अग्निहोत्री जी की पहिली धर्मपत्नी जब मरी थी उस समय शायद उनके दो या तीन पुत्र थे। उनके पश्चात् आपने एक बंगाली विधवा से विवाह किया। थोड़े ही काल बाद उसका भी देहान्त हो गया, तब १५०) मासिक की नौकरी छोड़ कर विज्ञापन दे एक बड़ा जबर्दस्त व्याख्यान दिया और भगवे कपड़े धारण कर लिए, किन्तु बाल बच्चों के साथ वैसा ही संबंध जोड़े रहे। इस लिए मैंने इसे अनोखा सन्यास लिखा है।

उन दिनों अग्निहोत्री जी थे तो ब्राह्मसमाज के ही मिनिस्टर किन्तु ब्राह्मसमाज से अलग होने की तैयारियां कर रहे थे। इसका पहिला चिन्ह इनका स्वतंत्र चेले मूंडना था। जिन दिनों का हाल मैं लिख रहा हूं उन दिनों अग्निहोत्री जी ने सबसे पहिले दो चेले मूंडे थे। एक का नाम झण्डासिंह और दूसरे का चुन्नीलाल था। झण्डासिंह तो पहिले अमरसिंह हुए और फिर देव समाज की बुनियाद पड़ते ही अमरदेव हो गये। ज्येष्ठ चेला होने के कारण गद्दी के अधिकारी वहीं थे। किन्तु सुना गया है कि अग्निहोत्री के पुत्र हरनारायण ने वर्षों की उदासीनता के पश्चात् पिता का चेला बन कर, गद्दी से उन्हें वंचित कर दिया है। दूसरे चुन्नीलाल का नाम रखा गया था ब्रह्मदास, वह ब्रह्मदास से ईसादास बन चिरकाल से अपना स्थान रिक्त करके चले गये हैं।

उन दोनों चेलों को अनुताप का खूब पाठ पढ़ाया जाता था। प्रातःकाल उठ कर अग्निहोत्री जी तो सैर को चले जाते और इन दोनों को रोने चिल्लाने के लिए हमारे गले मढ़ जाते। प्रातःकाल स्नान करके जब मैं सन्ध्या करने बैठता तो ऊपर से शब्द आते "मैं पापी हूं। हाय मर गया। गुरु जी, शरण में लो हाय! हाय!!!" "धड़म" गिरने का शब्द आता और हम में से एक ऊपर को दौड़ पड़ता किन्तु किवाड़ बन्द पाता, करता तो क्या

करता। एक दिन इन दोनों नए चेलों के अनुपात का विचित्र दृश्य देख। मैं तीन–चार मित्रों सहित इरावती (रावी) नदी के परले पार जहांगीर का मकबरा देखने गया। मकबरा देख कर हम सब शाहदरा ग्राम में चले गये। आगे बाजार में तिमुहानी पर लोगों का जमघट दिखाई दिया। समीप जाकर देखा तो दो मनुष्य भूमि पर लोट पोट रहे है। मैंने समझा कि कोई दंगा हो रहा है, किन्तु लोगों को हंसते, ठट्ठा करते देख कर कुछ अधिक सावधानता से दृष्टि डाली तो पता लगा कि हमारे पड़ौसी झण्डासिंह और चुन्नीलाल ने माया रच रखी है। एक व्याकुल होकर दूसरे के पैर पकड़ कर चिल्लाता है "भाई जी! मैं बड़ा पापी।" मैं ऐसा नहीं समझाता कि वे जानबूझ कर कोई ढोंग रच रहे होंगे। उन्हें बतलाया गया था कि इस प्रकार गलियों में पाप को प्रख्यात करके प्रयाश्चित से वे निष्पाप हो जायेंगे।

इन्हीं दिनों उद्धवराम कबाड़िये की भतीजी कुमारी देवकी जी सन्यासी सत्यानन्द जी के यहां उनसे पढ़ने आती थी, और बहुधा भोजन बनाने का भी काम करती और वहीं रह भी जाती थी। ऐसे दिनों में गरीब झण्डासिंह और चुन्नीलाल तो चार बजे ब्रह्ममुहुर्त्त में उठ कर गलियों में उठ कर गलियों में अनुपात का राग अलापने के लिए चले जाते और अग्निहोत्री जी परिवार सहित छः सात बजे तक निद्रा का आन्द लेते रहते थे। एक दिन अग्निहोत्री जी गुजरांवाले गये हुए थे, मैंने उनके हर–नारायण से छोटे लड़के की विचित्र शोचनीय अवस्था देखी। मैं सीढ़ी के पास वाले कमरे में दोपहर को पढ़ रहा था कि ऊपर का दरवाजा जोर से बंद हो गया। कान्तिनारायण ने उसको खड़खड़ाना और ऊपर वालों को गन्दी गालियां देना आरम्भ किया जब वहांकुछ पेश न गई तो सड़क पर खड़ा होकर ईंट फेंकने लगा। जब बाहर के द्वार भी बन्द हो गये झपट कर ऊपर को चला। मेरा उन दिनों अग्निहोत्री जी से मिलने का सम्बन्ध था। मैंने सीढ़ी में जाकर बच्चे को दिलासा देकर चुप कराना चाहा, किन्तु यह बालक क्या था। आफत था। मुझ से

छुट कर ऐसी गालियां देने लगा कि मुझे कान बन्द कर लौटना पड़ा। तब दूसरी ओर से मैंने झण्डासिंह को कहा कि आप हम सब पर दया करें और अपने गुरु पुत्र को अन्दर लेकर स्वयं अमृतमयी वाणी का पान करें उन्होंने कृपा कर किवाड़ खोल कान्ति को अन्दर कर लिया। इन्हीं दिनों अग्निहोत्री जी ने 'जात–पांत और उसकी खौफनाम बुराइयां' शीर्षक से एक व्याख्यान दिया था; जिस मैंने बहुत पसन्द किया था, किन्तु उसी समय वक्ताओं के गुप्त रहस्य भी मुझे ज्ञात हुए जिनका अनुकरण मैं कभी नहीं कर सकता। तो व्याख्यान अग्निहोत्री जी ने दिया, उसका बहुत सा भाग उन्होंने मेरे सामने आने 'ध र्म–जीवन' अखबार के लिए लिखाया था। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि वक्ता सारी वक्तृता पहिले लिख लेते हैं और कण्ठस्थ करने का भी प्रयत्न करते हैं किन्तु यदि कुछ और का और बोल जांय तो भी छपता वही है जो उन्होंने विचार कर लिखा हो। कुछ भी हो, मैं उस समय तक अग्निहोत्री को एक देश भक्त तथा धार्मिक आदमी समझाता था।

किन्तु उनके तीसरे विवाह से उनके प्रति जो सम्मान का भाव था वह मेरे दिल से जाता रहा। जिस रात सन्यासी स्वामी सत्यानन्द अग्निहोत्री ने तीसरी बार गृहस्थी में प्रवेश करने की तैयारी की और अपने सन्यास के गुरु बाबू नवीन चन्द्र राय के घर पर ही कुमारी देवकी जी के साथ विवाह पढ़वा रहे थे, उसी रात, उसी समय पण्डित लक्ष्मणप्रसाद ब्राह्म समाज में उसकी इस करतूत के विरुद्ध बल पूर्वक व्याख्यान दे रहे थे। उस व्याख्यान में मैं नही गया था और इस लिए मैंने एक दूसरा दृश्य देखा। रात के शायद ११ बजे थे, मैं परीक्षा की तैयारी में निमग्न था कि बाहर अग्निहोत्री के द्वार पर बहुत से पैरों की आहट सुनाई दी। बाहार देखा तो अग्निहोत्री रेशमी भगवी पोशक ध ारण किये श्रीमती देवकी जी को दुलहिन की पोशक पहिनाए साथ लेकर ऊपर चढ़ रहे हैं और उनके सुपुत्र हरनारायण जी लालटेन ऊंची किए और एक हाथ पतलून की जेब में डाले कह

रहे हैं—'आइ ऐम ग्लेड टू सी इट, हाट इज इट? (मैं इसे देख कर बहुत प्रसन्न हुआ हूं। यह क्या है?) तब ऊंचे स्वर में पढ़ने लगे सत्यानासी हाय! हाय!! चेली व्याही, इतना पढ़ कर हरनारायण रुक गये और अग्निहोत्री ऊपर आए। एक विज्ञापन कोई लगा गया था। अग्निहोत्री जी ने दृष्टि डाली और अपने बनावटी गम्भीर स्वर में कहा—'इसे उतार लाओं। हमारी जिन्दगी में यह भी एक यादगार रहेगी।—

दूसरे दिन सबेरे से ही धूम मच गई। जिस दरवाजे पर जाओं, दोनों और यहीं पास्टर लगा हुआ है। प्रत्येक बाजार गली कूंचे में वही इतिहास—'सत्यानासी हाय। हाय!! कहां वह चालीस, हाय? हाय!! कहां यह सोलह हाय! हाय!! चेली ब्याही हाय हाय! कच्चा योगी, हाय! हाय!! पक्का भोगी, हाय! हाय!! इत्यादि—मैंने इस विज्ञापन को बहुत बुरा समझा, और इसलिए मुझे यह सुन कर बड़ा कष्ट हुआ कि लोग इस विज्ञापन का मुद्रण कुछ आर्य समाजियों की ओर से समझ रहे हैं। मुझे यह विश्वास नहीं होता था कि इस कर्म के लिए अग्निहोत्री जी के साथ मतभेद रखते हुए भी आर्य सामाजिक पुरुष असभ्यता के भागी बनेंगे। मैंने यह दोष आर्य समाज के गले मढ़ना जनापवाद मात्र ही समझा और श्री लाला साईदास जी के पास पहुंच कर उनसे प्रार्थना की कि इस अपवाद का खण्डन करें। लाला साईदास ने उत्तर दिया कि जब राय मूलराज एम.ए. ने अपनी पहिली धर्मपत्नी के देहान्त के पश्चात् दूसरा विवाह किया था तो अग्निहोत्री जी ने अपने पाक्षिक समाचार 'बिरादर—ए—हिन्द' में उनके विवाह का सियापा छापा था, जिसकी टेक थी 'एम.ए. बी.ए., हाय! हाय!! लाला जी ने कहा कि राय मूलराज का केवल इतना ही दोष था कि उन्होंने गयारह वर्ष की कुमारी से इस लिए शीघ्र विवाह कर लिया कि उसे सुशिक्षित बना सकें। यदि राय मूलराज के मित्रों में से किसी ने बदला लेने के लिए अग्निहोत्री का सियापा मुद्रित करा दिया तो हम क्या कर सकतेहैं? लाला जी के इस कथन से मेरी तसल्ली तो न हुई, किन्तु मैं चुप होकर लौट आया।

मैं समझता हूं कि यह पहिला ही अवसर था जब कि अग्निहोत्री जी के अन्दर आर्य समाज के प्रति द्वेषाग्नि अधिक भड़क उठी। यह सच है कि स्वामी दयानन्द जी से दो बार (एक बार सामवेद में कहानियों का दावा करके न निकाल सकने पर और दूसरी बार भाई दित्तासिंह का प्रश्न न समझ कर श्री स्वामी जी को ताना देने पर) झाड़ें खाने के कारण पण्डित शिवनारायण के मन में आर्य समाज कांटा सा खटक रहा था, और यह भी ठीक है कि गेरवे वस्त्र पहन कर ऋषि दयानन्द के बन्धेज का पटका बांध श्री स्वामी सत्यानन्द के अन्दर अभिमान और दुराग्रह की मात्रा बढ़ चुकी थी; किन्तु अनुमान यह होता है कि अन्य धर्म समाजों की अपेक्षा आर्य समाज से अधिक शत्रुता की प्रेरक यही घटना हुई और शायद इसी घटना का परिणाम था कि स्वामी सत्यानन्द अग्निहोत्री ने ब्राह्मसमाज मन्दिर मेंयह विष से भरा हुआ व्याख्यान दिया जिसने सब गुप्तचरों के लश्कर से बढ़ कर आर्य समाज को हानि पहुंचायी। उस व्याख्यान का शीर्षक था—'स्वामी दयानन्द और नया पन्थ।' अग्निहोत्री ने इस व्याख्यान की हजारों कापियां उर्दू, अंग्रेजी और आर्य भाषा में छपवा कर बांटी।

एक समय आया था जब परम गुरु को जवाब देकर केवल देवगुरु की पूजा ही शेष रह गई थी; उस समय अग्निहोत्री जी ने आर्य समाज से विरुद्ध मुद्रित किए सारे साहित्य को जला देने की घोषणा की थी, किन्तु इस मनुष्य पूजा भंजक समाज पर फिर भी अग्निहोत्री की क्रूर दृष्टि बनी ही रही और भारतवर्ष में आये संवत् १९६४ (सन् १९०७) के भौंचाल में अग्निहोत्री जी के चेलों से बढ़ कर और किसी गुप्तचर ने काम भी नहीं किया।

जालन्धर आर्यसमाज का प्रथम वार्षिकोत्सव

अमृतसर और लाहौर के आर्य समाजों के उत्सवों में सम्मिलित होने के बाद मैंने वकालत की परीक्षा दूसरी बार दी। परीक्षा से निवृत्त होते ही मैं जालन्धर पहुंचा और स्थानीय आर्य समाज के

पहले वार्षिकोत्सव की तैयारी में लगा। मुरलीमल वाली धर्मशाला से हम उठ कर कपूरथला के वकीलखाने के सामने उस मकान में आ गये थे जिसकी बुनियाद पर इस समय अमरसिंह का मकान खड़ा है। इस नये मकान का आंगन बहुत बड़ा था। इस आंगन में शामियाने खड़े करके सजावट की गई थी। इसी उत्सव के समय जालंधर की पौराणिक धर्म सभा का जन्म हुआ। आर्य समाज ने दो वर्षों की लगातार कोशिश के पीछे अपने पहिले वार्षिकोत्सव का विज्ञापन दिया किन्तु हमारे पौराणिक भाइयों ने हमारे वार्षिकोत्सव से १५ वा २० दिन पहले ही धर्म सभा स्थापित करके उन्हीं तिथियों पर वार्षिकोत्सव मनाने का विज्ञापन दे दिया। एक ठठोल ने उस समय कहा था कि धर्म सभा वालों के वर्ष जहां विस्तृत होते हैं वहां संकुचित भी हो सकते हैं। १५ वा २० दिनों का वर्ष तो शायद उत्तरी दक्षिणी ध्रुव में भी नहीं होता होगा।

इस पहिले उत्सव का नगर निवासियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पौष १९४३ में जालन्धर आर्यसमाज का पहिला वार्षिकोत्सव हुआ, वह कई दृष्टियों से स्मरणीय है। प्रथम तो स्थानीय आर्य समाज के सब अधिकारियों और प्रतिष्ठित सभासदों का स्वयं परमात्मा का गुणानुवाद गाते हुए बाजारों और गलियों में से गुजरना ही एक विशेष प्रभाव उत्पन्न कर रहा था, फिर पंजाब के कुछ श्रीमानों का बाहर से सम्मिलित होना, तिस पर भी नौकर चाकर रखने वालों का धर्म की सेवा के लिए हाथ से मजदूरों की तरह काम करना विशेष प्रभाव डाल रहा था।

बाहर से आये हुए भाइयों का उतारा मेरे मकान पर किया गया था। मैंने परिवार को तो अपने श्वसुर गृह भेज दिया। और स्वयं मन्दिर में आसन जमाया। उत्सव नगर के दूसरे किनारे पर मनाया जा रहा था और मकान शहर के इस किनारे पर था। नित्य प्रातःकाल सारे नगरों से हरि कीर्तन करते हुए आर्य पुरुष आया करते थे, जिसका बहुत ही उत्तम प्रभाव पड़ता था। इस वर्ष के पश्चात् भी ८–९ वर्षों तक नगर के उसी और गवर्नमेंट हाई स्कूल के मकान में उतारा किया जाता रहा।

जालन्धर नगर में इस वार्षिकोत्सव ने आर्य समाज की जड़ों को दृढ़ कर दिया। धर्म सभा के बहुत विरोध करने पर भी श्रोतागण की भीड़–भाड़ बहुत बढ़िया रही। सर्वसाधारण पर इसका भी प्रभाव पड़ा कि जहां आर्य समाज की वेदी पर किसी के भी व्यक्तिगत अनुचित कटाक्ष नहीं हुए वहां धर्म सभा की वेदी से गालियों की बौछाड़ होती रही, इसी वर्ष से अन्तरंग सभा नियमानुसार होने लगी और पारिवारिक उपासना में भी नगर निवासियों का प्रेम बढ़ने लगा। वह समय जब आंखों के आगे आ जाता है तो मन की विचित्र दशा हो जाती है। सप्ताह में ३–४ दिन अवश्य ऐसे आते थे जब कि आर्य पुरुष ८–६ बजे रात को परमात्मा की स्तुति–प्रार्थनादि के भजन गाते हुए बाजारों में से निकलते थे। सायंकाल नित्य बहुधा आर्य पुरुष समाज मन्दिर में इकट्ठे होकर सन्ध्यादि नित्य कर्म करते और साथ ही कुछ ज्ञान चर्चा भी होती। वह ही समय था जब एक दूसरे की शंकाओं का समाधान होता और क्रियात्मक विचार होते थे। जालन्धर में जो कुछ भी आगे हुआ, उसकी बुनियाद उन्हीं दिनों के शुद्ध विचारों पर रखी गई थी। वार्षिकोत्सव में चौमुहानी पर वह मकान किराये पर लिया जिसमें फिर मिस्टर वैस्टन हेडमास्टर टिके थे और क्रमशः गवर्नमेंट स्कूल भी रहा था।

इस मकान में मैं अनुमान से साढ़े तीन वर्षों तक रहा और इसी लिए इसका संक्षिप्त वर्णन यहां दे देना उपयोगी होगा। कोतवाली से जो सड़क जिला अदालतों की ओर जाती है उसके बाई ओर बस्ती की सड़क पर यह मकान है। सड़क की ओर एक छोटी दीवार से घिरा आंगन है, जिसमें ढाई तीन सौ आदमी बैठ सकें। फिर सरबसर बरामदा और उसके साथ एक लम्बा कमरा बैठक का, उसके साथ एक छोटा कमरा था जिसमें से अन्दर को दरवाजा था। अन्दर उतने ही मकानों के साथ छोटा आंगन और उसके दूसरी ओर रसोई तथा स्नानादि के गृह थे। इस मकान के साथ ही तबेला था जिसमें मेरी दो बग्घियां और दो घोड़े बन्धे रहते थे।

कुछ नये नट, नाट्यशाला में

मेरे पुराने मुन्शी अमीर खां का देहान्त हो चुका था, मैंने उसके पुत्र का पालन करना चाहा और इस लिए उस से काम लेने लगा। किन्तु वह अभी बच्चा था, उससे काम न चला; तब काशीराम को मुन्शी नियत किया। ये महाशय आर्य समाजी बन चुके थे और काम में होशियार थे। इन दिनों बेकार भी बैठे थे इस लिए इनको मुन्शी बनाने से एक पन्थ दो काज सिद्ध हुए।

इस वर्ष भी कुछ नवीन नटों का मेरे जीवन नाट्यशाला में प्रवेश हुआ। उनमें से पहले राजकुमार मियां जनमेजय उस समय के राज़ा सुकेत 'दुष्टनिकन्दन सेन' के सौतेले भाई थे। कांगड़ा के पहाड़ के राज परिवारों के सब सभासदों को मियां कहते हैं। यह उपाधि इन लोगों ने मुसलमानी राज के समय धारण की प्रतीत होती है। जब आज कल बम्बई–मद्रास प्रान्त आदि के बड़े–बड़े पण्डित भी मिस्टर कहलाने में अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं तो मुगलों के दास राजपूत यदि मियां बनकर उपज की लेते थे तो उन्हें कौन अपराधी समझ सकता है? राजा दुष्ट–निकन्दर स्वयं बड़ा दुष्ट था। उसने अपने सगे चाचा मियां शिवसिंह को देश निकाला देकर उनका भंडार लूट लिया था। सहस्रों रुपयों का धन इस लूट में उसके हाथ आया। अपने भाइयों को उनके गुजारे के अधिकार से वंचित करके राज से बाहर कर दिया। मियां शिवसिंह अपने छोटे भाई मियां ज्वालासिंह और भतीजे जनमेजय और उसके भाई सहित जालन्धर राय शालिग्राम के यहां आ रहे थे। मियां जनमेजय हम आर्य समाजियों की संगति से आर्य समाज के सभासद् बन गये और मेरे साथ उनका पठन–पाठन का विशेष सम्बन्ध हो गया।

इसी वर्ष ब्रहाचारी ब्रह्मनन्द का मेरे साथ सम्बन्ध हुआ। यह महाशय बिहार प्रान्त के कायस्थ घराने में उत्पन्न हुए थे। २५ वर्ष की आयु में ही घर से उपरत होकर निकल आये और कुछ महीनों में निश्चलदास की पोली हाथ में लिए घूमते–घूमते

अमृतसर की दिवाली देख कर जालन्धर की गुफा पर आ उपस्थित हुये थे। उस गुफा में शंकरपुरी योगी महात्मा का निवास था। उन पर सर्वसाधारण की बड़ी श्रद्धा थी। उनके देहान्त के पश्चात् उनकी समाधि वहीं बनाई गई और साथ ही कुछ कूप और कुछ मकान रहने के बन गये। गुफा को भी पक्का बना दिया। स्थान तो योगी का था किन्तु जिस समय का हाल मैं लिख रहा हूं उस समय भोगी निवास करते थे। यह स्थान काचूकाटियों का गढ़ बना हुआ था। 'ऐनपुरी' जो सर्वभक्षी और मद्यप था, इस स्थान का अध्यक्ष बना हुआ था। मुझे पता लगा कि धूर्त दुराचारियों में एक सच्चा साधु आकर उतरा है। हम गये तो एक काले २५ वर्ष के युवा साधु को भगवा ओवरकोट पहिने गुफा में "विचार सागर" पढ़ते पाया। एक घण्टे की ही बातचीत ने साधु जी को हमारी ओर आकर्षित कर दिया और वे आर्य समाज मन्दिर में आकर रहने लगे।

इस स्थान में ही मैं गुफा वाले काचूकटिये साधुओं का विशेष परिचय अपने पाठकों को देना चाहता हूं। ये लोग नास्तिक साधु वेशधारी बहुत कम हैं। ईश्वर, वेद–वेदान्त, द्वैताद्वैत किसी विचार में भी इनकी श्रद्धा नहीं देखी जाती थी। कपड़े ये स्वच्छ, श्वेत पहिनते और प्रायः हुक्का पीनें वाले होते थे। एक काचूकटिये की दिनचर्या का वर्णन बड़ा ही मनोरंजक होगा। इसलिए अपने देखे अनुसार लिखे देता हूं। भाई देवराज के घर मैं टिका हुआ था जब एक दो काचू कटिये रात काटने उनके मकान पर आये। अतिथि समझ कर उनका सत्कार किया गया और भोजन कराया गया। जब भोजन से निवृत्त हुए तो उन्हें खटिया की सूझी।

पहिले नवार का पलंग मांगा, वह खाली न होने पर जो खटिया दिखाई गई उन पर लेट कर पहिले उन्होंने अपने नाप की खटिया चुन ली, फिर अपना स्वच्छ बिस्तर बिछा कर बैठ गये। बातचीत पर बोले 'असीतेरा वेदान्त वेद सब गल्लकर।'

रात के भोजन के पश्चात् अपने नाम की खटिया पर बैठ कर हुक्का पी काचूकटिया सो जायेगा। प्रातः उठ कर पहिला काम मट्टी के हुक्के को खूब धोकर साफ करना, फिर चिलम तैयार करके हुक्का गुड़गुड़ाना शौच से निवृत होने पर पहिले जूता साफ करना। काचूकटिया जूते से पहचाना जा सकता है। सप्ताह में दो बार जूते को तेल देना ये अपना धर्म समझते हैं। जूता साफ करके फिर कपड़ों की बारी। यदि साबुन पास नहीं तो बनिये की दुकान पर गये और हांक लगाई। और लाला! दे इक टिक्की साबन दी। तेरा साबन गया साड्डे कपड़े दी मल गई। अर्थात् पुण्य की कोई बात नहीं, एक प्रकार का सौदा है। लाला जी की क्या मजाल कि साधु जी को मना करे, यहां तो भेष को नमस्कार है गृहस्थी से अनोखा किसी प्रकार का भी कपड़ा क्यों न पहिने हो उसका ही श्राद्ध और तर्पण हिन्दू अपना कर्तव्य समझते हैं शायद इसीलिए कैदियों को पुलिस के पंजे में आते हुए देख कर कई हिन्दू बुढ़िया उन्हें दूर से नमस्कार करती हैं। साबुन लगा कर काचूकटिया केवल कौपीन धारण करके सब कपड़ों को साबनु से धोकर सूखने डाल देता है और दूसरा दौर हुक्के का शुरू होता है। हुक्के के तीसरे दौर तक कपड़े सूख गये और ग्यारह पर चोट लगी तब काचूकटिये को स्थान की सूझती है। पैर हाथ मलने से आध घण्टा व्यतीत कर साधु जी तैयार हुए तो सौ बिस्वे भोजन लिए कोई श्रद्धालु 'भेष पूजन' तैयार बैठा नजर आयेगा। यदि कोई न हुआ तो जिस पहिले घर में हांक लगाई कि 'चल माई तेरी रोटी गई साड्डी भूख गई, लेखा बराबर है" वहां ही पांच प्रकार के भोजन मिलेंगे।

भोजन के पश्चात् हुक्का पीकर वृक्ष तले सो जाना। तीसरे पहर फिर उठ कर हुक्के के दम और फरागत, और फिर कपड़े डांट कर सैर। बस, यहां फिर नास्तिकपन की दलीलों से आवारा लड़कों को फांसने का समय आता था। यही काचूकटिये के दफ्तर वा समाज वा सत्संग वा कर्त्तव्य पालन का समय

समझ लों इस समय किसी–किसी काचूकटिये के हाथ में काला नाव का सा खप्पर उसकी शान को दोवाला करना और किसी–किसी से सिर पर वहीं शोभायमान होकर, उसके अविश्वास की मुस्कराहट के साथ मिल, पूरा पश्चिमीय प्रसिद्ध कवि मिल्टर के चरित्र नायक की झलक दिखलाता था। रात को फिर भोजन, हुक्का और अपने नापाकी चारपाई और इस दृश्य पर जबनिका गिर जाती है।

स्वाध्याय का अभ्यास

पण्डित गुरुदत्त के थोड़े से ही सत्संग ने मेरी काया पलट दी। मुझे जालंधर आर्यसमाज की समाप्ति के दूसरे स्वाध्याय का अभ्यास हो गया। पण्डित गुरुदत्त की यह साक्षी मेरे लिए बहुत उत्तेजक हुई थी कि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में प्रत्येक नयी आवृत्ति पर नये भाव विदित होते हैं। जालन्धर आर्यसमाज में भी जीवन पड़ने लगा और उसके सब कार्य नियमपूर्वक होने लगे। संवत् १६४४ के आरम्भ में वर्तमान जालन्धर आर्य समाज मन्दिर की भूमि में ही एक कनात के लगभग स्थान मिल गया था। उसी में दो कच्चे कोठे बना कर कच्ची ईटों का एक बड़ा आंगन घेर लिया गया और इस प्रकार उन पौराणिकों के विरोध से छुटकारा मिला जो सदैव किराये के मकानों के मालिकों को हमें निकाल देने के लिए भड़काया करते थे।

वकालत और सच्चाई का मेल दुस्तर

मेरी मुख्तारी का काम इस वर्ष के आरम्भ में खूब चमका। उस समय जालन्धर में फौजदारी के प्रसिद्ध धड़ल्लेदार वकील बूढ़े बीची साहब थे। उनकी भी आस–पास धूम मची हुयी थी। सब अभियुक्त उन्हीं की प्रायः सहायता चाहा करते थे। वे रंगीले, चारवाक के चेले थे इसलिए फौजदारी करने वाली जाट आदि जातियों में यह प्रसिद्ध था कि जो दुनिया के सब भोगों में निःश्रृंखला नहीं है वह फौजदारी का अच्छा वकील नहीं हो सकता। मैं मद्य–मांस का विरोधी होने से फौजदारी के कमरे से

बहुधा वंचित रहता था। अकस्मात् मुझ पर विश्वास रखने वाले एक जाट सरदार ने मुझे उस मुकद्दमे में पैरवी करते देखा। उनको मेरा काम पसन्द आया और कुछ दिनों पश्चात् अपने बड़े मुकद्दमों में सहायता के लिए उन्होंने मुझे अपने साथ रखवाया। बस फिर क्या था, धूम मच गई और मुख्तारी में ही मेरी आमदनी बहुत से वकीलों से भी बढ़ गई, क्योंकि मेरे पास दीवानी का भी काम काफी आता था।

किन्तु यह सारी कमाई हुई प्रसिद्धि कुछ महीनों के पश्चात् ही अप्रतिष्ठा में बदल गई। इसका कारण यह था कि मेरे पास एक मुन्शी मुकद्दमा लाया। वहीं हिसाब से १०००/– रुपये का साधारण दावा करना था। मैंने बही देखी तो १०००/– की बाकी पर टिकट न था, इसलिए कह दिया कि उस साक्षी पर दावा नहीं चल सकता। दावा चलने का एक ओर सीधा ढंग था, वह भी साहूकार महाशय को बतला दिया। उस समय तो साहूंकार महाशय चले गये किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् उसी बाकी पर अपनी ओर से टिकट लगा कर अर्जीदावा लिखा दायर करवा दिया। पहिली पेशी के दिन मेरे मुन्शी से मिल कर मुख्तारनामे पर मेरे हस्ताक्षर करवा लिए।

इन हस्ताक्षरों की कहानी भी बड़ी मनोरंजक है। यदि प्रातःकाल ही मुझ से हस्ताक्षर मांगे जाते तो मैं बही को देखना चाहता इस लिए जब मैं कचहरी के लिए बग्धी में चढ़ने लगा तो मुन्शी जी ने मुख्तारनामा पेश किया। मैंने पूछा कि वहीं आदि देखनी चाहिए। मुन्शी साहब बोले – 'हजूर!! मामूली बही हिसाब पर १०००/– का दावा है। ५०/– फीस देता है, २५/– वसूल हो चुके हैं। सिर्फ एक पेशी का काम है।' हजूर इस पर क्यां चूं चरा करने लगे थे। जिस मुकद्दमे में २० की आशा हो उसमें ५०/– रुपये मिलें तो सिवाय इसके और क्या हो सकता था कि मुख्तार साहब रासों को हिला कर बड़ी कचहरी की राह लेते।

बड़ी कचहरी से काम करके मुन्सिफी में लौटा तो उसी मुकद्दमे के लिए मेरी प्रतीक्षा हो रही थी। मुन्सिफ अछरूराम साहब मेरे बड़े कृपालु थे। जवाब दावा मेरे हाथ में देकर कहा कि मैं विवादास्पद विषय नियत कर दूं। मुद्दालेह का जवाब दावा पढ़ कर मुझे सन्देह हुआ। मैंने अपने मुवक्किल मुद्दई के मुंह की ओर देख और बहीं का हिसाब निकाला। बस निश्चय हो गया कि मुद्दई साहब् की सब कारस्तानी है। मैंने मुन्सिफ साबह से कह दिया कि मुकद्दमे में जालसाजी होने के कारण मैं उसमें पैरवी नहीं करूंगा और मुन्शी को आज्ञा दी कि २५) प्राप्त किए हुए वापिस कर दे। मुन्सिफ साहब ने अंग्रेजी में बहुतेरा समझाया कि इससे मेरी प्रसिद्धि उल्टे प्रकार की हो जाएगी और मेरी आर्थिक दशा को हानि पहुंचेगी किन्तु मैंने एक न मानी और अपना बयान देकर घर लौट आया।

मेरी इस (सर्व साधारण की जनमर में) निर्बुद्धिता का असर दूसरे दिन ही प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा। जो मुकद्दमे वाला मेरे पास आने को तैयार होता, अन्य वकीलों–मुख्तारों के मुन्शी उसे यह कह कर विचलाते 'अबे! अपने मुवक्किलों का गला घुटवाने के लिए सब फन–फरेब खेलने को तैयार हो।" मुझे धोखा देने वाला मुन्शी दूसरे ही दिन चलता कर दिया गया, मेरे पास केवल काशीराम आर्यसमाजी ही रह गये थे। दूसरे मुन्शी की आवश्यकता न रही क्योंकि काम ही कम हो गया। उधर काशीराम भी मेरी नौकरी छोड़ने को तैयार हो गये। वेतन में उन्हें १०/– मासिक देता था किन्तु प्रति मुकद्दमा एक वा दो रुपये ऊपर से लेने पर उनकी आमदनी ३५/– वा ४० रुपये तक हो जाती थी। अब भूखों मरने लगे तो आर्यत्व का पक्ष कहां तक करते। मैंने मासिक १५/– करके उनका कुछ सन्तोष किया किन्तु मेरी आमदनी ५००/– से उतर कर १५०/– के लगभग ही रह गई।

किन्तु "सब दिन रहत न एक समान"– दो मास में ही मेरी करतूत को सब भूल गये। मैदान में नई खेती बोते हुए मेरी आमदनी फिर बढ़ने लगी।

वकालत की परीक्षा में रिश्वत

मार्गशीर्ष संवत् १६४३ के उत्तरार्द्ध (दिसम्बर सन् १८८६ ई. के आरम्भ) में मैंने वकालत की परीक्षा दी थी और परिणाम महीनों तक रुका रहा। इसका कारण यह था कि पंजाब यूनिवर्सिटि के रजिस्ट्रार मिस्टर लापेन्टर ने इस वर्ष दोनों हाथों से लूटना शुरू कर दिया था। गत वर्ष तो अभी साहब बहादुर नव–शिक्षित थे इसलिए कोई इक्का–दुक्का ही उनके काबू चढ़ा, इस वर्ष वे किसी को सूखा छोड़ना नहीं चाहते थें वकालत में पास होने के लिए १५००/– प्रति याचक की खुली शरह थी। साहब बहादुर ने दलाल व एजेन्ट भी रख छोड़ा था जिसका नाम गन्डासिंह था। २००/– भाई गण्डासिंह की भेंट होते ही १३००/– अंग्रेज देवता की पूजा में स्वीकार हो जाता और वकालत रूपी स्वर्ग प्राप्ति की अदृश्य हुण्डी उसी दम मिल जाती। मुख्तारी प्रार्थियों में शायद १०००/–, बी.ए. एम.ए. से कुछ कम लिया जाता था कोई–कोई एफ.ए. भी लार्पेण्ट गर्दी के चक्कर पर चढ़ने से न बच सके। कोई–कोई तो अक्ल के ऐसे पुतले निकले कि पास होने तक ही शान्त न हुए प्रत्युत पहले–दूसरे होने की ठान ली। वकालत में पहिले होने वाले ३५००/– और दूसरे होने वाले २५००/– यह चढ़ावा केवल उन्हीं को नहीं चढ़ाना पड़ा जो सचमुच अनुर्तीर्ण थे बल्कि जो पास थे उनके भी घर पहुंच–पहुंच कर साहब के दूत ने उनकी जेबें भी खाली की। यह रोग यहां तक बढ़ा कि मेरे कुछ मित्रों ने मुझे पत्र लिख कर लाहौर बुलाया क्योंकि गण्डासिंह मुझे ढूंढता फिरता था, और कहता फिरता था कि यद्यपि मैं पास हूं तो भी बिना १०००/– दिए मुझे भी प्रमाण पत्र से वंचित रहना पड़ेगा। मैं यह दृढ़ संकल्प करके लाहौर पहुंचा कि इस अनाचार का भण्डा फोड़ कर रहूंगा, किन्तु मेरे पहुंचने से पहिले ही हिसार के प्रसिद्ध वकील लाला चूडामणि ने गण्डासिंह की खूब खबर लेकर सर विलियम रैटिंगन (उस समय के वाइस चांसलर) के यहां दुहाई जा मचाई। वाइस चांसलर ने उसी

समय सायं काल को परिणाम की सारी फाइल संभाल ली। लाल चूड़ा मणि भाग्यशाली थे कि पहल उनकी ओर से हुई। विश्वविद्यालय सभा ने अकेले लाला चूड़ामणि को पास करके वाकी सभी को फेल कर दिया, और मैं भी बलवे की भीड़ में निरपराध बालक की तरह गोली का शिकार हो गया।

लार्पैण्ट साहब पर फिर अभियोग चला। आन्दोलन समिति के सामने विचित्र साक्षियां भुगतीं। जो–जो महाशय नतीजा जब्त होने की खबर सुनते ही लार्पैण्ट की कोठी पर पहुंच कर उसे धमकाने लगे उनका तो तेरह–तेरह सौ रूपया जुदी–गुदी पोटली में बंधा बंधाया मिल गया किन्तु जब चढ़ने पर झण्डे तले के गण्डासिंह ने पहुंच कर घबराए हुए साहब बहादुर को तसल्ली दी तो साहब ने अपनी दुष्टता से कमाये धन का बड़ा भाग मुकद्दमा लड़ने और जीवन का शेष भाग सुख से व्यतीत करने के विचार से बचा लिया। लार्पैण्ट को तो अपने किए का कुछ दण्ड मिला ही, किन्तु मुझ समेत बहुत से निरपराधियों को भी उसके कामों का फल भुगतना पड़ा। इसमें भी परमात्मा को मेरी कुछ भलाई मंजूर थी, क्योंकि इस परीक्षा में अनुतीर्ण होते ही मेरी रूचि कानून से हट कर'धर्मान्दोलन, की ओर अधिक झुक गई। एक ओर तो अपने पेशे से सच्चाई से काम लेने का परिणाम यह हुआ कि ५००/– से १५०/– की आमदनी रह गई और दूसरी ओर इतने परिश्रम का फल यह वज्रपात । ऐसे निराशाजनक समय में जालन्धर धर्म सभा में पण्डित दीनदयालु जी का पौराणिक मतपोषक के रूप में आना और व्याख्यान देना मेरे लिए नई आशाओं का केन्द्र सिद्ध हुआ। जब पण्डित दीनदयालु जी ने जालन्धर धर्म सभा की ओर से नौहरियों के ठाकुरद्वारे के आंगन में आर्य समाज के मन्तव्यों का खण्डन आरम्भ किया उस समय मैं अपने जन्म स्थान तलवन में था। संवत् १९४४ का शायद ज्येष्ठ मास था। मेरे पास आदमी पत्र लेकर गया जिसमें लिखा था कि आर्य सभासदों को नगर में मुंह दिखाना कठिन हो रहा है। पण्डित दीनदयालु जी की दूसरे पक्ष

को उल्टे रूप में दिखाने और उपहास में उड़ाने की शक्ति उस समय पूरे यौवन पर थी। मैं पत्र देखते ही चल दिया और १०. बजे अपने मकान पर मैंने मुन्शी काशीराम से सारा वृत्तांत सुना। उन्हीं दिनों लाला तेलूराम राहों निवासी के गुणों का मुझे पता लगा। इन्होंने पण्डित दीनदयाल जी के व्याख्यानों के शब्द तक नोट कर रखें थें। शहरी सभासदों ने समाज के बाहर धनाढ्यों की बड़ी शिकायत की जिन्होने ऐसे में सहायता न दी। सारे शहर में प्रसिद्ध था कि आर्यों को चूल्लू भर पानी डूब मरने को नही मिलता, बेचारों के पास कोई उत्तर नही।

मैने भोजन पीछे किया सबसे पहले पण्डित दीनदयाल जी के नाम शास्त्रार्थ का चेलेन्ज लिख कर मन्त्री काशीराम के द्वारा दिया और साथ ही अपने पत्र की नकल उक्त पण्डित जी के हस्ताक्षरों के लिए भेज दी। पण्डित जी ने टालने का बहुत प्रयत्न कियां काशीराम भी एक मार्के का आदमी था। उसने पण्डित जी के हस्ताक्षर लेकर ही उन्हें छोड़ा । इतने पर ही सारे शहर में चर्चा फैल गई। अभी हुआ नहीं और सर्वसाधारण को आर्यों में जानें दीखने लगी। फिर चार घंटों के अन्दर ही दूसरे दिन में मेरे व्याख्यान के सैकडों विज्ञापन हस्तलिखित लग गये और ५ बजे अपने बहुत से आर्य भाइयों को, जो कई दिनों से मुंह छिपाये फिरते थे, साथ लेकर मैं व्याख्यान मण्डप में जा पहुंचा। मेरे पहुंचते ही धर्म सभा के प्रधान श्री लाला हरभजराय जी बहुत सभ्यों सहित उठ खडे हुये। व्याख्याता महाशय ने समझा कोई प्रतिष्ठित सनातन धर्मी आये हैं। सबके बैठ जाने पर उन्होंने फिर से एक पत्र की व्याख्या आरम्भ की, जो उनके हाथ में था। जिस पत्र की व्याख्या वर्तमान व्याख्यान वाचस्पति श्री पण्डित दीनदयालु जी कर रहे थे वह मेरा ही भेजा हुआ था। पण्डित जी ने पत्र लेखक पर एक हंसी की बौछाड़ करके कुछ भाग छोड़ कर पढ़ना चाहा जिससे लेख की शृंखला टूटती और पण्डित जी के पूर्व कथन का खण्डन होता था। मैंने निवेदन किया कि बीच में कुछ ओर भी वह ही भाग

भी पढ़ दिया जाय। मेरा इतना कहना था कि खलबली मच गई। लाला हरभज जी (प्रधान धर्मसभा) ने उठ कर पंडित जी के कान में कुछ कहा। पंडित जी कुछ सम्भले– और बलिहारी है उनकी योग्यता की कि मेरी एक घन्टे की उपस्थिति में उनको सिवाय वैराग्य के और कोई विषय ही न सूझा।

पण्डित जी के व्याख्यान की समाप्ति पर एक आर्य सभासद ने ऊंचे स्वर से कह दिया कि दूसरे दिन से पण्डित दीनदयालु जी के व्याख्यानों का उत्तर आर्य समाज मन्दिर में दिया जायेगा। जिस प्रकार हमारे प्रधान यहां आए हैं उसी प्रकार उन्हें भी पधार कर सुनना चाहिए। जोशीले सनातनियों ने शोर मचा दिया– ''हमारी सभा में क्यों बोल रहे हो अपनी सभा में बोलो इत्यादि'' इस पर उत्तर मिला– "हमने सूचना दी है, सुनने का हौसला न हो तो मत आना।" सर्वसाधारण खिलखिला कर हंस पड़े और सभा विसर्जन हुई । सारे नगर में ढ़ोल पीटा गया " यह आर्य बड़े जबर्दस्त हैं, दूसरे के घर पहुंच कर खबर ले डालते हैं।

भला कोई पूछे कि पहिले क्या हुआ था और अब क्या होगा। किन्तु दुनिया भेड़िया– धसान है, जिधर एक भेड़ चल पड़े उसी के पीछे शेष भेड़े भी चल पड़ती हैं। और सचाई को कोई पूछता नहीं जब तक उसके फैलाने का प्रयत्न न किया जावे।

दूसरे दिन आर्य समाज मन्दिर में सहस्रों की उपस्थिति थी। कुछ नगर के सभ्य पण्डित दीनदयालू जी को लाने को गए किन्तु डेरे पर जाकर उन्हें पता लगा कि पण्डित जी छावनी चले गये हैं। मैंने उस दिन का व्याख्यान समाप्त करके कह दिया कि यदि पण्डित जी दूसरे दिन आये तो उनके साथ धार्मिक विषयों पर विचार होगा, नहीं तो एक अनोखा व्याख्यान होगा। पण्डित जी की ओर से तो कोरा जवाब आया परन्तु आर्य समाज की ओर से विज्ञापन लग गये जिनमें व्याख्यान का

विषय रखा गया– "चाऊ– चाऊ का मुरब्बा" इस विचित्र शीर्षक को देख कर सर्वसाधारण ऐसे उत्सुक हुए कि समाज मन्दिर की छत और दीवारें तक मनुष्यों से भर गयीं पण्डित जी के व्याख्यान क्रमबद्ध किसी विषय पर नहीं थे, इसलिए उनका नाम यहीं रख कर उनके उत्तर दिए गये।

उस समय पण्डित दीनदयालू जी बिना कोई भेंट लिए और बिना व्याख्यान दिए ही विदा हो गये।आर्य समाज भी कुछ घाटे में न रहा क्योंकि उसे इस समय ३० के लगभग नये सभासद मिले।किन्तु सबसे बढ़ कर लाभ मुझे हुआ। चाऊ–चाऊ के मुरब्बे का मजा सर्वसाधारण को चखाने के दूसरे दिन ही, एक सरदार मुझे एक बड़े मुकद्दमें में १०००) फीस पर नियत करके ५०० रूपये नकद दे गए। मुझे आश्चर्य हुआ कि दूसरी ओर जालन्धर के सबसे बड़े दो वकीलों के होते हुए इस भोले सरदार ने मुझ मुख्तार की क्यो शरण ली किन्तु यह आश्चर्य मेरे मुन्शी के ठीक कहानी सुनाने पर दूसरे आश्चर्य में परिवर्तित हो गया। सरदार साहब वकीलों को देख भाल कर करना चाहते थे। कचहरी में जाकर सब वकीलों की वक्तृताएं सुनी । अभी कुछ निश्चय नहीं किया था कि आर्य समाज मन्दिर में मेरा व्याख्यान सुनने पहुंच गए। मेरी वक्तृता पर वह लट्टू हो गये और दूसरे दिन ही मुझे जा सम्भाला । कानून और मत–सम्बन्धी विचार का कुछ सम्बन्ध न था और सर्वसाधारण को रिझाने वाले न्यायालयों में सदा कृत कार्य भी नहीं हुआ करते किन्तु सरदार साहब बाल की खाल उतारने वाले दार्शनिक न थे। संसार के इतिहास की तह में भी विचित्र घटनाएं काम करती है, यदि सारे इतिहास की तह को देखने वाला कोई त्रिकालज्ञ मिल जावे तो शायद वर्तमान समय के सारे ऐतिहासिक भण्डार को जला कर, संसार के सब छापेखानों को दिन–रात चला एक नया ऐतिहासिक पुस्तकालय ही स्थापना करना पड़े।

आमदनी बढ़ने का पुनः आरम्भ होते ही पण्डित गुरूदत्त के

सत्संग का प्रभाव फिर दूर होने लगा हां, सामाजिक संशोधन की ओर ध्यान अधिक खिंचा मेरी धर्म पत्नी कुछ थोड़ा लिख पढ सकती थी, उनको पढाने तथा पर्दे आदि की कुरीतियों से निकालने का प्रयत्न मैंने आरम्भ कर दिया। इस समय मेरी बड़ी पुत्री वेदकुमारी की आयु ७ वर्ष की और उससे छोटी अमृतकला की (जिसका नाम उस समय हेमन्तकुमारी था) अनुमान ४ वर्ष की थी।

बम्बई की पहली यात्रा

विक्रमीय संवत् १६४४ की ग्रीष्म में मेरी धर्मपत्नी ने अपने धर्म–ग्रन्थों के पाठ के अतिरिक्त मेरे अन्य विचारों में भी भाग लेना आरम्भ कर दिया था और अपनी बड़ी पुत्री को स्वयं शिक्षा देना शुरू कर दिया था। झूठे पर्दे के बन्धन भी उन्होंने तोड़ दिए थे और बच्चों सहित मेरे साथ भ्रमण भ्राता भक्तराम की इंग्लेण्ड यात्रा की तैयारी होने लगी। रायजादा भक्तराम बैरिस्टर आज बडे आदमी है और उनकी योग्यता का सिक्का पंजाब के सारे न्यायालयों पर बैठा हुआ है। किन्तु मुझे यह कहने का अभिमान है कि वे मेरे शिष्य रह चुके है। मास्टर "मटरूमल" के बीसों शार्गिद डिप्टी, वकील, और जज बन जाते है और मास्टर जी एक इंच ऊपर नही उठते, फिर भी वे सबके उस्ताद ही कहाते है। भक्तराम जी से तो मेरा सम्बन्ध होने के अतिरिक्त प्रेम भी असीम था, मैं कह सकता हूं कि उस समय इनसे बढ़ कर मेरा प्यारा मित्र शायद ही कोई और हों आज कल के आर्य समाजियों को यह सुन कर आश्चर्य होगा कि रायजादा भक्तराम उस समय जालन्धर आर्यसमाज के अग्रणी चालकों में एक थे और उनकी श्रद्धा वैदिक धर्म पर ऐसी दृढ़ थी कि जब विदेश को विदा करते हुए जालन्धर आर्य समाज के एक अधिवेशन में उन्हें पंच महायज्ञ विधि आदि पुस्तकें भेंट देकर प्रधान ने अन्तिम शब्द कहे तो भक्तराम जी का उत्तर उपस्थित सज्जनों की आंखों में प्रेम के आंसू भर लाया ।

भक्तराम जी को बम्बई से जहाज पर चढ़ाने उनके भाई बालकराम और मैं गये थे। उन्हीं दिनों कपूर्थला के स्वर्गवासी दीवान मथुरादास जी के पुत्र दौलतराम जी जाने वाले थे। इनके अतिरिक्त मुकुन्दलाल और जगमोहनलाल जी हमारे मित्रों के ही पुत्र थे जो दिल्ली से मिल गए। वह समय कभी भूलता नही जब शायद भाद्रपद के मध्य (अगस्त के अन्त) बादलों से घिरे आकाश की भींषण शोभा देखते हुए हम सब जालन्धर शहर रेलवे स्टेशन से चले। दीवान रामजस जी तथा राय शालिग्राम सैकड़ों रईसों सहित छोड़ने आये थे। दीवान रामजस जी की सरलता और अपनी धृष्टता का मुझे अब तक स्मरण है। अपने पौत्र दौलतराम के लिए सदाचार को स्थिर रखने का उपदेश देते हुए श्री दीवान जी ने कहा "हाथ पैर ध ोने की मिट्टी अवश्य जहाज में रख लेना।" मैंने कहा कि दो गदहे मिट्टी के जहाज में डलवा दूंगा अस्तु।

प्रातः दिल्ली पहुंचे और वहां नाना प्रकार की मिठाइयां तथा फलादि सहित हम पांचों ने दो कमरे सेकेण्ड क्लास के रोक लिए और आनन्दपूर्वक बातचीत करते और ताश शतरंज खेलते तीसरे दिन बम्बई पहुंचे । बम्बई में बहुत नए दृश्यों, बहुत से नए मिलापों और बहुत से नई घटनाओं में से गुजरना पड़ा जिन्होने मुझे विशेष शिक्षा दी। हम सब दीवान मथुरादास जी के पास रिटायर्ड जज महाशय कर्सट जी(खुरशैद जी) मानिक जी के यहां उतरे। ये महाशय आठ बार सारे भूमण्डल की यात्रा कर चुके थे और बड़े देश भक्त तथा जाति सेवक थे। ७५ वर्ष की आयु में आंखों की ज्योति कुछ कम हो जाने पर कभी उदास नही होते थे। मैंने उनका सुख सदा हंसता और माथा खुला देखा । प्रातः काल "आशा" और सायंकाल "कल्याण" अलापते इस बूढे को सुन कर मुझ पर जादू का असर होता और फिर आत्म–त्याग कितना ! अपने जन्म भर की कमाई की सारी बचत से एक कोठी बनाई थी, उसे एक लाख में बेच कर रूपया "पारसी कन्या विद्यालय " को अर्पण कर दिया और स्वयं

उसी मकान के नये मालिक के किरायेदार बन कर रहने लगे। इन्हीं जज मानिक के नये मालिक के किरायेदार बन कर रहने लगे। इन्ही जज मानिक जी की पुत्री मिस मानिक जी उक्त पुत्री पाठशाला की सेवा के लिए मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचारिणी रहीं उस समय मिस मानिक की आयु ५० वर्ष के लगभग थी। जब मानिक ने मुझे अपनी प्राचीन राग विद्या से पुनः प्रेम कराया।

इसी बार पहिले पहल मैंने महाशय छबीलदास लल्लूभाई के दर्शन किए जो ऋषि दयानन्द जी के अनन्य भक्त थे और जिन्होने ऋषि की आज्ञा को शिरोधार्य करके अपनी ही भतीजी का विवाह निर्धन श्याम कृष्ण बर्मा के साथ कर दिया था। उस देवी के भी मैने उन्ही के रमणीक भवन में दर्शन किए थे जो समुद्र के किनारे पर मनोहर छवि दिखा रहा था। बम्बई समाज के पुराने मंत्री और ऋषि दयानन्द के विश्वास पात्र भक्त महाशय सेवकलाल कृष्णदास से भी वहीं भेंट हुई थी। आर्य समाज मन्दिर का उन दिनों केवल चबूतरा ही बना हुआ था जिस पर मैंने व्याख्यान भी दिया था बम्बई में घूंघट के अभाव के कारण स्त्री–पुरूषों का शुद्ध व्यवहार और पारसियों की साड़ी का उत्तम पहराव देख कर मैं और बालकराम जी घर की स्त्रियों के लिए साड़ियां खरीद लाए थे और उनका रिवाज चलाया था।

अग्निबोट में बैठे हम सभी अपने भाई भक्तराम को जहाज में छोड़ने गए। भक्तराम की आंखे दुखती थी, तिस पर बिछोड़े का रोना। बालकराम जी भी भर आए। किनारे पर आकर खड़े हुए तो जहाज लंगर उठाकर चल दिया। जब तक बालकराम का रूमाल हिलता रहा तब तक टकटकी लगाये खडे रहे, जब जहाज आंखों से ओझल हुआ उसी समय हम दोनों भी उदासीन डेरे को लौट आए।

एक बात लिखना मैं भूल गया। कुछ पारसी महाशयों ने हमारे विलायत जाने वाले मित्रों को सहभोज दिया था। उस

समय की एक घटना मुझे स्मरण है। भोजन के पश्चात् हमारे मेजबान के युवक पुत्र ने बैंजो बजाना आरम्भ किया और उनकी धर्म पत्नी एक अंग्रेजी गीत गाने लगी। मैंने प्रार्थना की कि कोई विदेशी गीत गाया जाय। इस पर गुजराती कहरवा छिड़ गया। फिर मैने कहा कि मेरा मतलब पारसी गीत से था क्योंकि पारसियों की भाषा पारसी होनी चाहिए। इस पर हमारे मेजबान ने हंस कर उत्तर दिया– हम सताए हुओं को जिस भूमि ने अपनाया हमारा वही देश भक्ति का अंकुर कुछ नया नही था, इसकी बुनियाद शायद भारतवर्ष में पारसियों के आने की तिथि से ही पड़ चुकी थी।

ऊपर वर्णित सहभोज में बहुत से पारसी बच्चे हमारे परिचित हो गये थे। अपने भाई को छोड़ कर लौटने पर बालकराम के आंसू बन्द नहीं होते थे। अपने कमरे में पहुंच कर वह फूट–फूट कर रोने लगे। और मैंने गले में हाथ डाल कर उन्हें धैर्य देना आरम्भ किया। यह दुश्य था जब कुछ पारसी बच्चे कूदते फांदते हुए मेरी ओर आए। उनके लिए बिलायत जाने वाले के वियोग में रोना एक हास्यजनक दृश्य था। सब बच्चे खिलखिलाकर हंसने लगे। बालकराम जी ने झेंप कर आंसू पोंछे और मुस्कराने लगे। बच्चों ने बडी मौज की। जो बड़ा आवे उसे कहें–" देखो स्त्रियों की तरह रोते है।" बालकराम जी को शायद देर तक होश न आता यदि बच्चों का हंसी का "छूमन्तर" शोक के जादूगर को चकनाचूर न कर देता।

भक्तराम को विदेश विदा करने के पश्चात हम तीन दिन बम्बई और ठहरे। इन तीन दिनों के लिए बूढ़े जज मानिक जी ने अपनी फिटन गाड़ी हमारे हवाले कर दी और प्रत्येक देखने के योग्य स्थान के लिए पास मंगा दिए। उन दिनों एक जंगी स्टीमर (धुआंकल जहाज) भी बन्दरगाह पर आया हुआ था। उस पर बूढे नौरोजी हमें स्वयं ले गये। जहाज का कप्तान उनका मित्र था। हमारे बम्बई छोड़ने से पहिले दिन आर्य समाज मन्दिर में मेरा व्याख्यान हुआ। शायद मैंने इंश्वरोपासना विषय में कुछ

कहा था, क्योंकि मुझे स्मरण है कि बम्बई आर्य समाज के एक पुरजोश सभासद् ने बाहर आकर कहा– "क्या ! आप जानते हैं कि बम्बई वालों का ईश्वर कौन है ? मूर्ति वाली जो चांदी है, वही इनका इष्टदेव है।" जब वे महाशय चले गये तो लोगों ने मुझे बतलाया कि उक्त महाशय मूर्ति पूजा का खण्डन तो बडी प्रबल युक्तियों से करते हैं परन्तु घर पर ठाकुर जी का सिंहासन रखा हुआ है।

एक बात मुझे बम्बई के सम्बन्ध में और याद है। जब मैं घर लौटने के लिए रेलवे स्टेशन पर पहुंचा तो वहां एक पारसी महाशय पहिले से मौजूद थे। उन्होंने बड़े प्रेम से मुझे हार पहिनाया और कुछ केले भेंट किए। मैं कुछ विस्मित सा हुआ तो उन्होंने कहा–"महाशय! आप विस्मित क्यों होते है? मैं स्वामी दयानन्द का मतानुयायी तो नहीं हूं पर उनकी गोकरूणानिधि का भक्त हूं। आर्य समाज स्वामी जी के जिस उपदेश को भूला हुआ है, उसका मैं अनुकरण कर रहा हूं।" यह कह कर उन्होंने गोरक्षा विषय के अपने ट्रैक्ट और अपीलें दीं और बतलाया कि वे गवर्नमेन्ट से गोहत्या हटाने के लिए निवेदन करना चाहते है। मेरे पास अब वह विज्ञापन नही है इसलिए कह नहीं सकता कि वह महाशय इस समय के प्रसिद्ध गोभक्त श्रीमान जस्सांवाला ही थे वा कोई अन्य सज्जन।

जालन्धर लौट कर मैंने पहिले की अपेक्षा अधिक नियमानुकूल काम करना आरम्भ किया।

एक उदार डिप्टी कमिश्नर

वकालत की परीक्षा अभी सिर पर काल की तरह खड़ी थी। प्रातःकाल खूब भ्रमण करके लौटता और फिर कानून की पुस्तकों के पीछे लग जाता । मैं प्रायः छावनी की सड़क पर घूमने जाता था, जहां एक दिन मुझे सामयिक डिप्टी कमिश्नर कर्नल हार्कोर्ट साहब मिल गए। वे भी भ्रमण करने जाया करते थे। नित्य मेरा और उनका साथ होने लगा । धर्म विषय पर

बहुत बातचीत होने लगी क्योंकि कर्नल साहब स्वतन्त्र विचार वाले आस्तिक थे। एक दिन बात चीत में उन्हें मालूम हुआ कि मैं आर्य समाजी हूं। यह सुनते ही कर्नल हार्कोर्ट खडे हो गए और बोले –" आप और आर्य समाजी ! आप तो बड़े धार्मिक आदमी है। आप आर्य समाजी नहीं हो सकते।" मैंने उत्तर दिया कि मै केवल आर्य समाजी ही नही प्रत्युत स्थानीय आर्य समाज का प्रधान भी हूं। तब साहब बोले –" परन्तु लाहौर आर्य समाज तो एक पोलिटिकल संस्था है, जालन्धर आर्य समाज चाहे न हो।" तब मैने कर्नल साहब को आर्य समाज के मन्तव्य तथा उद्देश्य समझाये और बतलाया कि हम लोग आर्य अर्थात श्रेष्ठ पुरुष बनाना चाहते हैं, इसका परिणाम यह हो सकता है कि श्रेष्ठों पर उनसे गिरे हुए पुरुष राज न कर सकें। इस प्रकार साहब बड़े उदार भाव से बोले–"फिर हमारे यहां ठहरने का उचित हेतु न रहेगा।" उन्होंने कहा कि यदि भारत निवासी हमसे अधिक श्रेष्ठ मनुष्य बन जावें तो फिर हमें स्वयं बोरिया बंधना उठा कर चल देना पड़ेगा।

उपर्युक्त घटना से पता लगता है कि उस समय भी हमारे गोरे हाकिम आर्यसमाज को सन्देह की दृष्टि से देखते थे।

यह सन्देह कैसे फैला ?

आर्य समाज के विषय में पोलिटिकल जमानत होने का सारा सन्देह ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटिश कर्मचारियों के दिलों में ड्ढाला था। इस विषय में लाहौर के पुराने अंग्रेजी के मासिक पत्र 'आर्य' में भी ईसाई पादरियों के ऐसे अनुचित लेखों का वर्णन है। इस समय ज़ो कुछेक ईसाई पादरियों का उदार वर्ताव आर्य समाज के साथ है उसे देख कर भी जो ईर्ष्या की अग्नि साधारण पादरियों के दिलों में धधक उढ़ती है उससे मेरे इस विचार को पुष्टि मिलती है कि गरीब हिन्दुओं को वाग्युद्ध में सदा पछाड़ने के ईसाई पादरियों को जब आर्य समाज में पले बालकों तक से पटकनी मिलने लगी तब वे ओछी करतूतों पर

उतर आये और उन्होंने सरकारी अधिकारियो को यह विश्वास दिलाना आरम्भ किया कि आर्य समाज से क्रिश्चियन मत को कम भय है, अधिक भय गवर्नमैंट को है।

ईसाई पादिरियों के डाले हुए इस सन्देह को आर्य समाज के प्रारम्भिक नेताओं के व्यवहार से भी कुछ पुष्टि मिलती रही। मुझे भली प्रकार स्मरण है, और इसका संक्षिप्त वर्णन मेरी उस समय की डायरी में भी है कि संवत् १६४५ में जालन्धर आर्य समाज के एक माननीय सभासद् (जो लाहौर के लीडरों के सत्संग में दो वर्ष तक रह चुके थे) के साथ मेरा इस विषय पर विवाद् हुआ था कि लाहौरी लीडर साधारण बातों के लिए भी गुप्त कमेटियां करके बिना प्रयोजन दूसरो के सन्देह के शिकार बनते है। एक और भी कारण इस सन्देह का उत्पन्न करने वाला था। भाई जवाहरसिंह (जो खालसा कालिज कमेटी के महामन्त्री बने थे) उस समय आर्य समाज लाहौर के मन्त्री थे, उनकी रूची अधिकतः राजनैतिक बातो की ओर थी, जैसा कि उनके शाहपूरा जाने के समय के पत्र व्यवहार, से सिद्ध होता है। (देखो ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार, पृष्ठ १६, १७तथा १२०) जब जवाहर सिंह जी आर्य समाज से अलग हुए और कुछ समय के पश्चात् खालसा कालिज के मन्त्री बने तब इन्होंने आर्य समाज के साथ बहुत विरोध किया और समाज के गले मढ़ दिया।

वकालत की अन्तिम परीक्षा

वकालत की परीक्षा संवत् १६४४ के मार्गशीर्ष–पोष (दिसंबर सन् १८८७) में होनी चाहिए थी। मैंने अपने काम के साथ–साथ उसकी तैयारी भी शुरू कर दी, और जब लाहौर आर्य समाज का वार्षिकोत्सव समीप आया तो मैं परीक्षा की तैयारी करके सब पुस्तकादि सामान साथ ले लाहौर को चल दिया। २६ और २७ नवंबर उत्सव की नियत तिथियां थीं। २७ नवंबर आदित्यवार को प्रातः १० बजे मेरे बड़े पुत्र हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ। उस

समय मैं आर्यसमाज मन्दिर लाहौर में बैठा हुआ पण्डित गुरूदत्त का वह अपूर्व व्याख्यान सुन रहा था जिसने वैदिक धर्म के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों दलों में खलबली डाल दी थी। तीन सहस्र से अधिक जनसंख्या, और सन्नाटा ऐसा कि सुई गिरने का शब्द भी सुनाई दे। छोटा सा शरीर किन्तु मुख पर चन्द्र कान्ति और सूर्य के तेज की शोभा, गम्भीर किन्तु सरल ध्वनि निकलती है "इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्"—इत्यादि। बराबर चार मन्त्रों का ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ३२ में से पाठ होता है। फिर एक—एक शब्द का जन साधारण के समझने योग्य अर्थ होता है (इन्द्र) सूर्य कैसे (वृत्र) बादल को उठाता है, वह कैसे सूर्य को छिपा लेता है और फिर इन्द्र का वृत्र के साथ कैसे होता है और फिर इन्द्र अपने वज्र से कैसे वृत्र को मार गिराता है। यह दृश्य खींच कर ऋषि दयानन्द के जीवन का चित्र श्रोतागण के सामने लाया जाता है। ऋषि की शक्तियों का वर्णन करके उनके महान् आत्मत्याग की घटना का चित्र जब वक्ता खींचता है तो सैकड़ों आंखों से आंसुओं का तार बंध जाता है। मुझे सुधि न रही कि मैं पृथ्वी पर हूं। वक्ता के शब्द कानों को सुनाई देने बन्द हो जाते हैं, आखें पोंछ कर देखता हूं तो रुपयों की वर्षा हो रही है। दरवाजे पर एक ग्रमीण अधेड़ जंगी जवान दान की प्रेरणा कर रहे हैं, तो सिविल के नौकर दिखते जंगी जवान ही हैं। ये निहालसिंह हैं जो आर्यसमाज के लिए भिक्षा मांगने में पुराने अग्रणी थें तार वाला उन्हें एक तार देता है जिसका लिफाफा लेकर भाई जी मेरी ओर चल पड़ते हैं। तार खोलता हूं तो यह शुभ समाचार है कि मेरे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है। भाई जी शुभ समाचार सुनते ही झोली आगे कर देते हैं—"कुछ दिलवाइये" जेब में से निकाल कर १००) का नोट उनके हवाले करता हूं और भाई जी वहीं से ऊंचे स्वर में दान का हाल सुना कर उसके साथ एक चुटकला जोड़ देते हैं—"ईश्वर करे, हमारे प्रधानों के घर नित्य पुत्र उत्पन्न हुआ करें, जिससे नित्य दान मिले।"

वार्षिकोत्सव के पीछे अभी दो दिन ही ठहरा था कि बहुत से वकालत के उम्मीदवारों की दरखास्त पर परीक्षा की तिथियां दो मास आगे जा रहीं। लोगों के घर तो घी के दिए जले किन्तु मेरे यहां अन्धेरा हो गया। तीसरी बार तो परीक्षा की तैयारी की, अब चौथी बार तैयारी कैसी होगी–यह चिन्ता थी। इसका परिणाम भी यहीं हुआ कि चौथी बार जब परीक्षा के लिए लाहौर गया तो मैंने सारा समय गप्पों में ही व्यतीत किया और किताबों को हाथ भी न लगाया। जब मैं परीक्षा भवन में गया तो ऐसा ज्ञात होता था कि मेरा मस्तिष्क कानून से सर्वथा शून्य है किन्तु प्रश्न पत्र हाथ में आते ही पुराने संस्कार जाग उठे और ग्रामोफोन की भांति पुराने भरे हुए विचार लेखनी द्वारा बाहर आने लगे। उस समय की अपनी अवस्था पर आध्यात्मिक विचार करने से मुझे अब पता लगता है कि जब तक मनुष्य का आचार दृढ़ न हो जावे तब तक बारम्बार की निराशा मनुष्य को बड़ा ही निरुत्साह बना देती है। मुझ से कोमल हृदय मनुष्य पर बार–बार अकृत कार्यता और विरोध के वज्र प्रहार होने ही चाहिये थे, नहीं तो वह निर्बल शरीर और मन आगामी भीषण घटनाओं में से बच कर कैसे निकल सकता।

मार्गशीर्ष के उत्तरार्द्ध (दिसम्बर के आरम्भ) में ही मैं जालन्ध ार लौट आया और अब आर्य समाज जालन्धर का द्वितीय वार्षिकोत्व मनाने की चिन्ता उत्पन्न हुई। किराये के मकान को तिलांजलि देकर हम लोग अपने आर्य मन्दिर के वर्तमान स्थान को कच्ची ईटों की दीवार से घेर कर एक कच्चा कोठा बना कर उसमे आ गये थे। मकान को सजाने का काम तो हो सकता था और यथाशक्ति धन भी एकत्र कर लिया था किन्तु वार्षिकोत्सव के लिए योग्य उपदेशकों की आवश्यकता थी। लाहौर ही उस समय सब कुछ था। लाहौर से हमें टकासा जवाब मिला। हमने अपने मित्र काली बाबू को जोर देकर लिखा। वे तो आ गये किन्तु और कोई उपदेशक न मिला। यह दूसरा अवसर था जब दूसरों पर निर्भर करने से निराश हुए

और जालन्धर आर्य समाज में "आत्म भरोसे" की इसे ही बुनियाद समझना चाहिए।

हम लोगों ने काम बांट लिए। दोनों बैठकों में धर्मोपदेश श्री देवराज जी मंत्री ने दिए। एक व्याख्यान मास्टर भक्तराम बी.ए. उप–प्रधान ने दिया, दो व्याख्यान मैंने और दो काली बाबू ने इस प्रकार उत्सव भली प्रकार मनाया गया। इसी समय से मैंने जालन्धर आर्यसमाज के भाइयों सहित ग्रामों में जाकर वैदिक ६ र्म के प्रचार की प्रथा चलाई जो परमेश्वर की कृपा से कुछ वर्षों तक बहुत ही फलीभूत होती रही।

काली बाबू वैसे तो आर्यसमाजी बन गए किन्तु आर्य समाज के सिद्धान्तों से निरे कोरे। जब माघ में पुनः लाहौर गया तो मैंने श्री लाला साईदास जी से शिकायत की कि काली बाबू अपने सिद्धान्त के विषय में कुछ नहीं जानते, इन्हें सत्यार्थप्रकाश पढ़ने के लिए बाधित करना चाहिए। काली बाबू का उत्तर विचित्र था, वे बोले–"लाला जी मुझे कैसे कह सकते हैं? इन्होंने तो मुझे भाई तारूसिंह और बांधसिंह व धेलसिंह की कहानियां सुना कर आर्यसमाजी बनाया था तुम्हारी जो मर्जी आवे कहो।" मैंने जोर दिया कि मेरे कहने पर ही सत्यार्थप्रकाश पढ़ना आरम्भ कर दो तब काली बाबू ने ऐसा ही किया।

४ माघ संवत् १६४४ (१७ जनवरी सन् १८८८ ई.) को मैं वकालत की परीक्षा देने लाहौर की ओर फिर चला, रास्ते में गुरदासपुर आर्य समाज के वार्षिकोत्सव पर उतरा। मुझे उस समाज की दशा देख कर बड़ा कष्ट हुआ। मेरी दिन–पत्रिका (डायरी) में लिखा है 'सांय काल को गुरदासपुर, वहां के आर्य समाज के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने को पहुंचा। इस समाज की दशा बहुत शोचनीय हैं। इसलिए समाज की सेवा करने के स्थान में वे उल्टे हानिकारक ही रहे हैं।

इन्हीं शराबी–कबाबी वकीलों में से सवा दो वर्ष के पश्चात्

एक ने जो करतूत जालन्धर प्रान्त में की थी उसे यहां ही भुगता देना ठीक है। मैनं बड़े परिश्रम से फिल्लौर में आर्य समाज की स्थापना की थी। प्रधान और मन्त्री को मद्य मांस की फैलावट से निकाल कर वैदिक धर्म का सच्चा भक्त बनाया था। हमारे मन्त्री जंगलात के महकमे में एक बड़े ओहदेदार थे। उनके एक गुरदासपुरी वकील मित्र (ऊपर लिखे आर्यसमाजी शराबियों में से एक) होलियों में फिल्लौर आ पहुंचे और न केवल हमारे स्थानिक मंत्री को गिरा कर किराये के समाज मन्दिर में शराब ही ढुलाई प्रत्युत मंत्री और प्रधान के मना करने और बिगड़ कर चले जाने पर भी वेश्या को बुला कर वहीं मुंह काला किया। तीसरे दिन मैं एक मुकद्दमे की पैरबी मैं फिल्लौर पहुंचा तो मेरे मित्र सैयद आबिद हुसैन तहसीलदार ने सारा हाल कह सुनाया। वेश्या ने फौजदारी में अर्जी दी थी क्योंकि शराबी वकील उसे बीना कुछ दिये रात को रेल में ही भाग गया था। सैयद साहब ने हमारे मंत्री और प्रधान को बदनामी से बचाने के लिए अपने पास से पांच दस रुपये देकर अर्जी फड़वा दी। मैंने सैयद साहब की कृपा को धन्यवाद दिया किन्तु उनसे कहा कि ऐसा करने में उन्होंने पाप किया है। उसके लिए भी मेरा यह उत्तर नया ही था, क्योंकि वे बड़े चकित से प्रतीत हुए। किन्तु मैंने क्या किया? उसी समय सायंकाल व्याख्यान का डिंढोरा पिटवा दिया और वैदिक धर्म के महत्त्व का सन्देश उपस्थित सज्जनों को सुना कर अन्त में घोषणा कर दी आर्य अधिकारियों के पतित हो जाने से अब फिल्लौर में कोई समाज नहीं है।

यह शायद पहिला ही अवसर था कि मैंने आर्य समाज की सेवा की बदौलत एक शत्रु खड़ा कर लिया। फिल्लौर के प्रधान और मंत्री ने अन्त को अपने किए का प्रायश्चित किया और मुझे मिलते रहे। किन्तु गुरदासपुर के वकील साहब उसी दिन से मेरे विरोधी हो गये। मेरे विरोधी तो हुए किन्तु आर्यसमाज का पिण्ड उन से छूट गया और अपनी पौराणिक जाति के महामान्य लीडर बन गये।

माघ के मध्य (जनवरी मास के अन्त) में शनिवार को मैं अमृतसर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने को गया जहां मुझे देवराज जी भी मिले। परीक्षा इतनी समीप और मुझे वार्षिकोत्सव में जाने की सूझ रही थी। इसका कारण सर्वथा मेरा आर्य समाज के साथ अनुराग ही न था, विशेष कारण यह था कि पढ़ने में रूचि न थी और दिन कटने कठिन हो रहे थे, इसलिए दिल बहलाने के लिए अमृतसर चला गया।

२४ माघ (६ फरवरी) को मेरी. परीक्षा शुरू हुई और २६ माघ ११ फरवरी को समाप्त. हो गई। प्रश्न पत्रों के उत्तर मैंने अच्छे लिखे थे और परिणाम भी अच्छा ही निकला। कुछ दिनों के पश्चात् जालन्धर समाचार पहुंचा कि मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया हूं।

परीक्षा समाप्त होने के पश्चात् तभी मे एक सप्ताह लाहौर में और ठहरा परीक्षा के बाद मैंने पहला उपदेश लाहौर आर्यसमाज की वेदी पर से दिया, जिसे श्रोताओं ने बहुत पसन्द किया था, इसलिए मुझे फिर एक उपदेश देने के लिए बाधित किया गया। इसके अतिरिक्त इन्हीं दिनों विशेष विज्ञापन देकर मेरा एक अंग्रेजी का व्याख्यान रखा गया जिसका विषय था मैरेज, इट्स रेलिजस, मोरल एंड सोशल एस्पेक्स। इस व्याख्यान के विषय में मेरी डायरी में लिखा है "इस व्याख्यान में मेरी आशा के अनुसार कृतकार्यता न हुई। जनसंख्या केवल २०० के लगभग थी।" साथ ही लिखा है–"इसी दिन अग्निहोत्री के देव समाज का वार्षिकोत्सव प्रारम्भ हुआ। १६–१७ फरवरी को मैंने अग्निहोत्री के दो व्याख्यान सुने।" मैं उन दिनों गुमनाम था, अग्निहोत्री की प्रसिद्धि अपने यौवन पर थी, उनके व्याख्यानों को छोड़ मुझे कौन सुनने आता।

फिर जालन्धर में

६ फाल्गुन (१८ फरवरी) को जालन्धर लौट आया उन दिनों मुझे पिता से मिली हुई भूमि में एकान्त निवास के लिए मकान बनवाने और एतदर्थ उस भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ाने

तथा उसके कुछ भाग में वाटिका में लगाने की धुन लगी हुई थी। इसी के प्रबन्ध के लिए एक निर्धन सम्बन्धी को कुछ वेतन पर नियत कर रखा था। (फरवरी मास के अन्त) में मैं उसी काम की देख भाल के लिए अपनी जन्म भूमि तलवन में चला गया।

फाल्गुन–चैत्र (मार्च के महीने) में मैं साधारणतया अपने काम में लगा रहा। इसी मास में वकीलों और अन्य अंग्रेजी पढ़े लिखे हुओं को इकट्ठा करके मैंने एक वाग्वर्धिनी सभा (डिविटिंग सोसाइटी) खुलावाई जिसका मैं ही मन्त्री नियत किया गया। यह सभा कुछ महीनों चल कर ही समाप्त हो गई। इसी मास में दिल्ली के रायबहादुर मास्टर प्यारेलाल जालन्धर सर्कल के इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल्स बन कर आये जिनके साथ मेरा बड़ा गहरा सम्बन्ध हो गया। आर्य समाज के संबंध में इस महीने एक ही घटना हुई जिसने उसे अनपढ़ों में प्रचार के लिए एक पुरुषार्थी सेवक दिया। लुधियाने का चिरंजी एक बांका पहलवान था। वह आर्य समाज़ी होकर बैतुलबाजी किया करता था कि एक ब्राह्मण ने अपने यजमान से लाया हुआ दान सामने किया और कहा–'यदि हिम्मत है तो ले।' बहादुर चिरंजीव ने उपरने में बन्धे चावल, नकदी सब ले लिया और चल दिया। ब्राह्मण हक्का–बक्का रह गया और अपना माल मांगने लगा। चिरंजीव धुतकार कर चल दिया। ब्राह्मण ने पण्डित लक्ष्मीसहाय मजिस्ट्रेट के यहा दाव दायर किया। वे ब्राह्मण थे। चिरंजीवलाल को कैद का दण्ड मिला। मेरे पास उसी समय आदमी भागा आया। लुधियाने की अपीलें उन दिनों जालन्धर के सेशन जज के यहां होती थीं। मैंने अपील दायर की और चिरंजीवलाल बरी होकर मेरे पास पहुंच गया।

धर्म प्रचार की धुन

वैशाख संवत् १६४५ के दूसरे (अप्रैल १८८८ के अन्तिम) सप्ताह में फिर अपनी ग्राम तलवन में गया। अपने पुत्र के नामकरण संस्कार को केवल अपने दूसरे भाइयों से आग्रह पर रोके हुए था। उनकी इच्छी थी कि मैं उसका नामकरण अपनी

जन्म भूमि के गृह में करूं। इसलिए मैं १४ वैशाख (२७ अप्रैल) को तलबन पहुंचा। जालन्धर के दो आर्य भाई भी साथ गए थे और लुधियाने से चिरंजीवलाल पहुंच गया। हमारा कुलाचार यह था कि बालक को चूड़ाकरण से पहिले (जो तीसरे वर्ष होता है) कपड़े न पहिनाए जायें। हमारे सबसे बड़े चाचा जीते थे, वह कट्टर सनातनी और क्रोधी थे। मेरें भाईयों को भय था कि कहीं वे कुछ उपद्रव न खड़ा करें किन्तु मैंने उसको भी बुलवा भेजा। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ जब कुलाचार के विरुद्ध उन्होंने हाथों से बालक को सिले हुए कपड़े पहिनायें और उस का नाम हरिश्चन्द्र रखा। मैंने अपने जीवन में प्रायः देखा है कि यदि निरभिमान होकर सरलता से बर्ताब किया जाये और बिना दूसरो को चिढ़ाए अपने मन्तव्य पर दृढ़ता दिखाई जाए तो कट्टर से कट्टर विरोधी दृष्टि में भी मनुष्य माननीय बन जाता है।

तलवन में इन दिनों चिरंजीवलाल की बैतुलबाजी की धूम रही। जालन्धर लौटते हुए रास्ते में नकोदर में प्रचार हुआ। चिरंजीवलाल ही मेरा सब से बड़ा विज्ञापन था। वह इस प्रकार कि मुझे उस स्थान में बैठा कर जहां मैं व्याख्यान देना चाहता, चिरंजीवलाल बाजार में चला जाता, दुकानदार का ऊंचा मूढ़ा देखता वहीं खड़े होकर अपनी सिंहगरज से एक बैत सुनाता, फिर कहता "प्यारया, मूढ़ा कुछ चर लई दे तो होर बैतां सुनावा।" वहां इन्कार कब था, मूढ़े पर खड़े होकर बैतों द्वारा लच्छेदार खण्डन होने लगा। जब ५० एक आदमी जमा हो जाते तो चिरंजीवनलाल मूढ़ा उठा कर २० कदम आगे हो जाता और मूढ़े पर चढ़ कर फिर स्वर अलापता। जब १०० हो जाते तो पचास कदम आगे को चल कर पिड़ जमाया। इसी प्रकार जन–संख्या बढ़ाते–बढ़ाते चार–पांच सौ मेरे सामने लाकर खड़े कर दिये और अपने श्रोताओं से कहा–"हुण विदवानां दियां गल्लां सुनो, देखो कहीं अमृत वर्खा है।" लोग सब बैठ गये और मेरा व्याख्यान प्रारम्भ हो गया।

जालन्धर लौट कर मैंने वकालत के काम में जहां नियम पूर्वक भाग लेना आरम्भ किया वहां जीवन सुधार की ओर भी

खिंच चला। प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त हो कर मैं भ्रमण करने जाता था, उसी समय थोड़ा दौड़ भी लेता था। यह प्रातः काल का व्यायाम था, इसमें एक घण्टा लगता। फिर स्नान करके सन्ध्या अग्निहोत्र, जिसके पश्चात् गो–दुग्ध पीता और पत्रों के उत्तर देने में लग जाता। यह अभ्यास मुझे उसी समय से है तुच्छ से तुच्छ, और व्यर्थ पत्र को काम की टोकरी से तब तक अलग न किया जावे, जब तक उसका उत्तर न भेजा जाय। एक विचित्रता मुझ में और भी थी, जो अब तक है। जब तक मेज पर पड़ा नित्य का काम समाप्त न हो जाए तब तक मन प्रसन्न नहीं होता। आठ बजे समाचार पत्र भी पढ़ निवृत्त हो मुकद्दमों वालों को बुलाया जाता और पौने दस बजे उनका सब काम तैयार। मुझे १०, १२ मुकदमों की तैयारी में भी इससे अधिक समय कभी नहीं लगा। फिर भोजन करके कचहरी। कचहरी से अपना सारा काम समाप्त होते ही मैं घर चल देता, अन्य वकीलों की तरह शिकार की प्रतीक्षा में बार रूम में न बैठा रहता। कभी–कभी घर लौटते समय २ वा २.३० ही बजते, तब छः बजे तक शतरंज चलती। हुक्का और शतरंज, ये दो व्यवसन अब तक मुझ से नहीं छूटे थे, और हुक्के के शान्तिप्रद धुएं का आनन्द लेने के लिए ही मैं शतरंज भी खेलता। जालन्धर द्वाबे के प्रसिद्ध हुकाइयों में स न होते हुए भी मेरा नम्बर कुछ बहुत नीचे ने था। शतरंज एक बार छोड़ भी दी थी किन्तु जब एक दिन लाहौर में आर्य समाज के दो प्रसिद्ध नेताओं को घन्टों शतरंज खेलते देखा तो घृणा का भाव दूर हो गया और मैं उसी व्यसन में फिर फंस गया। सच है 'महाजनों येन गता स पन्था।' यदि सब अधेड़ और बूढ़े, जवान नेता तक समझ लें कि कोई न कोई व्यक्ति अवश्य उनका अनुकरण करेगा तब व्यसनों के फैलने की बहुत कम सम्भावना हो जाये। सम्वत् १६४५ में कई बार मुझे इन दोनों व्यसनों से, विशेषतः शतरंज से घृणा हुई। एक दिन की दिन–पत्रिका (डायरी) में लिखा है 'मुझे शतरंज के व्यवसन से मुक्त होना चाहिये, यह मेरा बहुत समय नष्ट करता है।' फिर लिखा है 'हम शतरंज खेलते रहे। समय को नष्ट करने का बुरा ढंग।' आत्मा की इस

जागृति का परिणाम यह हुआ कि शतरंज का खेल चार महीनों में ही बन्द हो गया और हुक्का भी विदा हुआ। हुक्का तो बीच में फिर जारी होकर डेढ़ दो वर्ष चला था। किन्तु शतरंज सदा के लिए ही चल बसी।

सायंकाल या तो बग्धी में लम्बी सैर को चला जाता या म्युनिसिपल वाटिका में टेनिस के लिये ठहराता। भोजन के पश्चात कुछ भाई मेरे मकान पर आते जिनके साथ नित्य सायं काल ईश्वर प्रार्थना होती। इसके पश्चात् कुछ धर्म चर्चा होकर सब लोग विदा होते और मैं दस और कभी–कभी ग्यारह बजे तक पढ़ता रहता। इस दिनों ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के साथ मैंने इंगलैंड के प्रसिद्ध विकासवादी लेखक स्पेन्सर के ग्रन्थ पढ़ने आरम्भ किये थे।

राजनैतिक आन्दोलन के साथ सम्बन्ध -

ज्येष्ठ १६४५ में पहले मेरा संबंध नेशनल पोलिटिकल कांग्रेस के साथ हुआ। प्रयाग के पायोनीयर और लाहौर के ट्रिब्यून का मैं बहुत पुराना ग्राहक हूं इसलिए नेशनल कांग्रेस के विषय में सब कुछ पढ़ता रहता था, किन्तु इस वर्ष पहिले पहिल पंजाब में यह विचार हुआ कि कांग्रेस कमेटियां प्रत्येक जिले में बनाई जावें। हमारे मित्र काली बाबू जालन्धर और होशियारपुर का ठेका लेकर हमारे पास पहुंचे । उन्होंने इसे भाजीवाला मामला बना लिया था। हमारे गाढे समय में वे आड़े आये थे, अर्थात जालन्धरआर्य समाज के द्वितीय वार्षिकोत्सव पर जब सबने आने से इन्कार कर दिया था, तो बाहर के ये ही अकेले व्याख्याता थे। इस लिए अब अपने पोलिटिकल मिशन में हमसे सहायता मांगना उन्होंने अपना अधिकार समझा। ४ ज्येष्ठ, संवत् १६४५ (१८ मई १८८८ ईसवी) के दिन बम्बई मेल से कालीबाबू जालन्धर पहुंचे। मेरी डायरी में लिखा है– "काली पोलिटिकल उद्देश्य लेकर यहां आया है, वह यहां कांग्रेस कमेटी स्थापित करना चाहता है। अपने साथ बांटने के लिये कुछ पैम्फलेट भी लाया है। काली विचित्र आदमी है– इसके कांम का

ठीक मैदान यही राजनैतिक आन्दोलन प्रतीत होता हैं धर्म सम्बन्धी काम उसके अनुकूल नहीं। बालकराम जी भी आ गए हम नेशनल कांग्रेस कमेटी की स्थापना करने के साधनों पर विचार करते रहे।.......एक बजे रात को एक आदमी आया और काली को होशियारपुर ले गया।" ज्येष्ठ (१६ मई) को होशियारपुर कमेटी बनी काली बाबू ६ ज्येष्ठ (२० मई) आदित्यवार को जालन्धर लौट आए, मन्दिर में उपदेश दिया। उसी दिन से मै और बालकराम जी काली बाबू को उनके मिशन में कृतकार्य करने की चिन्ता में लगे। जयेष्ठ (२१ मई, सोमवार) को काली बाबू ने फिर समाज मन्दिर में व्याख्यान दिया। फिर तो उनकी सहायता में सिर तोड़ प्रयत्न हुआ और एक बडे आदमी की नई कोठी में १० ज्येष्ठ (२४ मई,) (महारानी विक्टोरिया के जन्म दिवस पर) को एक बडी सभा बैठी । और जगहों में तो रईस लोग कांग्रेस का नाम सुन कर कानों पर हाथ धरते थे, किन्तु लाला बालकराम के प्रेरित किये हुए जालंधर का आनरेरी मजिस्ट्रेट, म्यूनिसिपल कमिश्नर, जमींदार, से साहूकार सभी कांग्रेस कमेटी की बुनियाद डालने के लिए इकट्ठे हो गये। कांग्रेस के उद्देश्यों के साथ सहानुभूति के प्रस्ताव खानबहादुर फजल करीम खां वाइस प्रेसिटेण्ट, म्यूनिसिपैलिटी ने पेश किया जिसका समर्थन सनातन धर्म सभा के प्रधान लाला हरभजराय जी आनरेरी मजिस्ट्रेट ने किया । इसी प्रकार वकीलादि को अलग रख कर बालकराम जी ने रईसों से ही सारा काम करायां मैंने दूसरे ही दिन इस अधिवेशन की रिपार्ट लिख कर 'ट्रिब्यून' के लिए भेजी जो मुख्य लेख के स्थान में छपी और सारे पंजाब में जालन्धर के जलसे की धूम मच गई। किन्तु जिस मकान में दिन को हमारा जल्सा हुआ था उसके विषय में मेरी डायरी में लिखा है – रात को उस मकान के अन्दर शराबियों में खूब जूतम–पैजार हुई। वाह, कांग्रेस की मीटिंग का कैसा शुभ परिणाम निकला !" इससे पता लगेगा कि उस समय भी राजनीति को धर्म के प्रभाव से अलग करना मैं अधर्म समझता था।

१७ जयेष्ठ संवत् १६४५ (३१ सन् १८८५ई०) के 'ट्रिब्यून' में कांग्रेस सम्बन्धी सम्मेलन का हाल छप गया। वकीलों के कमरे में धूम मच गई। उन दिनों सर सय्यद अहमद का व्यवस्था पत्र कांग्रेस के विरूद्ध निकल चुका था। जालंधर में भी एक अलीगढ पार्टी खड़ी हो गई थी जिसके मुख्य नेता वहां के एक नये मुडे हुए वकील थे। इनके बाप दादा ने कभी गो मांस का स्पर्श भी नही किया था, किन्तु अलीगढ़ के पक्षपात का पहिला परिणाम यह हुआ कि इन्होंने गो मास खाया। किन्तु सृष्टि–नियम भी विचित्र है, गो मांस खाते ही इनके हृदय –शूल उठा और उनके घर वालों ने भी उस शूल को पाप का फल ही बतलाया– अस्तु। अलीगढ पार्टी को कांग्रेस पार्टी वालों ने खूब छेडना शुरू किया, परिणाम यह हुआ कि अलिगढियों ने सब मुसलमान सभ्यों को , दो के अतिरिक्त, कांग्रेस के पक्ष से जुदा कर लिया। दो पक्षपातहीन मुसलमान भाई, जिनकी ओर मैने इशारा किया है, श्री ख्वाजा साहब मुहम्मद साहेब वकील और श्री परीरजादा खां साहेब मुख्तार थे। ये दोनों सदैव मेरे मित्र रहे और इनके लिए मेरे मन में बडा ही आदर का भाव था।

इस वर्ष (१८८८ई०) कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन प्रयाग में होने वाला थां वहां के लाट महोदय सर आक्लेण्ड कलविन ने विरोध भी किया था और उस पर कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी मिस्टर ह्यमू ने उनको लताड़ भी खूब बतलाई थी। उस विरोध को दूर करने के लिए पंजाब में बम्बई के महाशय अली मुहम्मद भीमजी भेजे गए वे। उनका पहला व्याख्यान शायद सितम्बर में हुआ था, जब मैं जालन्धर में उपस्थित न था। उस समय अलीगढ़ पार्टी ने बड़ा विध्न डालने का प्रयत्न किया। बाजार की उन तिमुहानी पर जहां इस समय शराब वाले की दूकान है, महाशय भीम जी का व्याख्यान होने वाला था। पास ही 'फखरे–कौम' मुन्सिफ फखरुद्दीन साहब का मकान था। आपने काफीगाने की मजलिस की ठान ली। एक ओर लोग व्याख्यान सुनने को जमा और दूसरी और साथ ही सारंगी, तबला, ताऊस और रोगियों के गले फाड़ने का शोर शराबा–भला व्याख्यान

क्या होता? इस पर जब मुसलमान रईसों को लानत--मलामत की गई तो सूबेदार मेजर गुलामहुसैन साहब ने बालकराम जी द्वारा महाशय भीम जी को फिर बुला भेजा। एक बड़े मैदान में उनका व्याख्यान ठहराया गया। मैंने ही अधिवेशन का सारा प्रबन्ध किया था। पहिले तो डेढ हजार से अधिक पुरुष इकट्ठे हुए जिनमें ५० के लगभग मुसलमान सज्जन थे, किन्तु फिर श्रोताओं ने उठना आरम्भ कर दिया और ७०० के लगभग जन--संख्या रह गई। इसका भी एक विशेष कारण थाजिसका वर्णन पाठकों के लिए बड़ा मनोरंजक होगा। जालन्धर में लिखित विज्ञापनों के अतिरिक्त हम लोग जल्सों को सूचना डुगडुगी द्वारा भी दिया करते थे। डुगडुगी पीटने वाले को "अली मुहम्मद" और लेक्चर आदि शब्द भूल गए और उसने मनघड़न्त हाक लगानी शुरू कर दी,--"ढप! ढप!! ढप!!!" बोल खलक खुदा दी, मुल्क मुल्का दा हुकुम कम्पणी बहादुर दा! होकर आर्यों दा लश्कर भी आयगा ठीक चार बजे लाला सालिगराम दी मण्डी विच पण्डित भीमसैन दा समाज हो--वैगा! सब लोग हाजिर हो जाओ।"

इस हांक को सुनकर बूढ़े बनिये--ब्राह्मण भी ठेढ़ी कमर को लठियों का सहारा दिए चल दिए।"चलो! बड़े स्वामी का चेला पण्डित भीमसेन आया है। बड़ा उत्तम धर्मोपदेश होगा। यह दुर्लभ समय फिर कब मिलेगा।" इसी प्रकार की किंवदन्ती करते सैकड़ों सनातनी पहुंच गए। परन्तु जब लम्बा चोगा और खोजों वाली पगड़ी किए महाशय अलीमुहम्मद के मुह से अंग्रेजी रिपोर्टों के हवाले निकलने आरम्भ हुए तो इन बूढ़ों की आंखें खुली और शनैः--शनैः कांग्रेस और राजनीति से अनभिज्ञ सब पंछी उड़न्छू हो गए।

कांग्रेस के साथ अपना संबंध जतला कर उसकी एक वर्ष की कहानी एक स्थान में ही समाप्त करना उचित समझ कर बीच की आवश्यक घटनाएं मैं छोड़ गया था। अब उनको क्रमशः लेता हूं।

मेरी डायरी से पता लगता है कि १८८८ ई. वैशाख (ज्येष्ठ, संवत् १६४५) में ही मैंने वर्णव्यवस्था पर एक लघु–पुस्तक लिखनी आरम्भ कर दी थी। १८ ज्येष्ठ (१ जून) को डायरी में लिखा है – "पेम्पलेट का थोड़ा भाग ही लिखा था कि आंधी चल पड़ी और काम बन्द करना पड़ा।" यह वह लघु पुस्तक है जो पहिले मैंने उर्दू में छपवा कर मुद्रित की थी।

२० ज्येष्ठ संवत् १६४५ (३ जून सन् १८८६ ई.) का दिन विशेष स्मरण के योग्य है। जो बड़ा मकान मैंने आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की सेवा में अर्पण कर दिया है और जिसे बेच कर सभा ने २० हजार रुपये गुरुकुल के स्थिर कोष में जमा कर दिए हैं उसकी आधार शिला उसी दिन रखी गई थी। मेरे मकान की बुनियाद पड़ने से पहिले सड़क की दूसरी ओर इसी भूमि के सामने समाज मन्दिर का कच्चा आंगन गिर चुका था। तब अपने नैतिक कामों का अंग मैंने यह भी बना लिया कि नित्य सांयकाल की अपनी नई इमारत का काम देखकर ही समाज मन्दिर में प्रवेश करता। सांयकाल की सन्ध्या भी प्रायः समाज मन्दिर में होती और नित्य नए भगवे–पोष साधुओं से भेंट होती। भारतवर्ष के आधे से अधिक साधु जालन्धर केसोढल स्थानों में घूमने आते हैं। आर्य समाज में सायंकाल की इसी ज्ञान चर्चा ने मुझे भारतवर्ष के आधे से अधिक साधुओं से परिचित करवा दिया था।

एक दिन जून (ज्येष्ठ–आषाढ़) मास में नास्तिक रोड्डे साधुओं का गुरु मुकद्दमा लेकर आया। उसकी हंसी उसी प्रकार की थी जैसी इंगलैण्ड के प्रधान कबि मिल्टन ने खुदा के विपक्षी की उपमा में लिखी है। अश्रद्धा की स्वयं मूर्ति होने के साथ ही यह मेलाराम किसी भी बुराई में कम नहीं मालूम होता था। इसको मिलने के पश्चात् ही मुझे रोड्डे साधुओं के आचरणों का अधिक हाल मालूम हुआ।

संवत् १६४५ (सन् १८८८) को ग्रीष्म ऋतु में ही आर्य धर्म–प्रचार के लिए हमारे, कपूर्थला राजधानी पर धावे आरम्भ हुए।

पहली बार १६ आषाढ़ (३० जून) को, जब मैं आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के अधिवेशन के लिये लाहौर जाने की तैयारी कर रहा था, कपूर्थला से एक आर्य भाई व्याख्यान का निमन्त्रण देने आये। मैं लाहौर के स्थान में उन्हीं के साथ चला और कपूर्थले पहुंचकर चिरंजीव लाल को बाजार में भेज दिया, जहां उसने अपनी खड़ी बोली की वैतों द्वारा हलचल मचा दी। चिरंजीव लाल की बैतुलबाजी ने ही विज्ञापन का काम दिया जो दूसरे प्रातः को व्याख्यान के लिए था।

दूसरे दिन (आदित्यवार को) प्रातःकाल ४ बजे से वर्षा का आरम्भ हुआ। मेरी डायरी में लिखा है—"भाई देवराज मूसलाधार वर्षा में ही भीगते हुए साढ़े छः बजे पहुंचे। कैसा महान् आत्मसमर्पण! ८ बजे के पश्चात् कुछ बादल उड़े। देवराज जी ने बड़ी जन—उपस्थिति में नई सराय के अन्दर व्याख्यान दिया। मैंने मूर्ति पूजा विषय पर मास्टर पोल्होमल के साथ शास्त्रार्थ किया। लाला धूमामल जी की बग्धी में हम जालन्धर लौटे। जालन्धर समाज मन्दिर में मैंने ईश्वरोपासना के पश्चात् सत्यार्थप्रकाश की कथा की। फिर सुना कि लाहौर के अग्निहोत्री का शिष्य रामजवायामल आया है। कुछ आर्य भाइयों को लेकर उसे सुनने गया। यद्यपि उसका गुरु हमें गालियां देना ही अपना धर्म समझता है, तथापि वह हमारा भाई है। जब हम पहुंचे, एक भी श्रोता न था। हमारे जाने पर रामजवाया ने ईश्वर प्रार्थना की और हमी लोगों को व्याख्यान सुनाया।" मालूम होता है कि इस समय के देवगुरु भगवान् ने, जो उस समय परम गुरु की उपासना का ढोंग भी रचता था, आर्य समाज को मसालेदार गालियां देना आरम्भ कर दी थीं।

कपूर्थले में वैदिक धर्म—प्रचार के बड़े भारी विरोधी रियासत के अकोण्टैण्ट जनरल मिश्र अछरूमल थे। ये महाशय वैसे तो सदाचारी थे किन्तु कट्टर सनातनी होने के कारण आर्य समाज के पूरे शत्रु थे। इनके मकान की दीवार का आर्य समाज के अधिवेशन का विज्ञापन लगाने यदि कोई जाता, उसे मारकर

भगा देते, यदि कभी आंखे बचाकर लगा ही जाता तो सारी दीवार को पानी से धुलवा डालते। १७ श्रावण (२ अगस्त) को एक आर्य भाई की माता के देहान्त पर मैं उसका अन्येष्टि–संस्कार कराने फिर कपूर्थले गया। दीवान मिश्र अछरूमल ने फिर बड़ा विरोध किया। किन्तु श्मशान भूमि में मृतक की अर्थी के साथ चार पांच सौ के अनुमान से नर नारी पहुंच गये। इन पर संस्कार का बड़ा धार्मिक प्रभाव पड़ा और अन्तिम ईश्वर प्रार्थना तथा उपदेश को सुनकर कइयों ने वैदिक धर्म ग्रहण किया। इस बार दीवान अछरूमल ने कहला भेजा "अब के तो मौत के कारण छोड़ दिया, फिर आवेंगे तो कैद करा दूंगा।" इसी चैलेंज को स्वीकार करके मैं कई बार फिर कपूर्थले गया किन्तु साहब की धमकी कार्य में कभी भी परणित न हुई।

अशान्ति में शान्ति

जुलाई के महीने में ही मेरे सबसे ज्येष्ठ भ्राता का एक मुकदमा था। एक मुसलमान ने उन पर मस्जिद का कुछ स्थान अपने तबेले में मिला लेने का झूठा अभियोग चलाया। जब तबेला बन रहा था तो मुसलमान ने धमकी दी यदि उसको २००/– न दिये तो वह धार्मिक भावों पर आक्रमण करने के दोष में दावा कर देगा। भाई साहेब ने मेरी सम्मति पूछी। मैंने उन्हें कहा कि झूठे की धमकी की परवाह न कर सत्य पर आरूढ़ रहना चाहिए। मेरी इस सम्मति का यह फल हुआ कि बेचारे दो तीन महीनों तक अभियोग में घिसटते फिरे। मैंने कानूनी पैरवी तो की किन्तु जब सनातनी ब्राह्मण मैजिस्ट्रेट को मुसलमान ने धमकी दी कि वह उन पर हिन्दू का पक्षपात करने का दोषारोपण करेगा तो मजिस्ट्रेट ने बिना सबूत के ३०) जुर्माना कर दिया। डिविजनल जज के यहां भी यहीं सिद्ध हुआ कि दावा झूठा है और वह भूमि भी भाई साहेब के ही कब्जे में रही किन्तु मुझे उन दिनों बड़ा मानसिक कष्ट रहा। मेरी डायरी से पता लगता है कि जून और जुलाई के आषाढ़–श्रावण महीनों में चित्त बड़ा अशान्त रहा, किन्तु २८ जुलाई (१२ श्रावण) को

जब लाहौर गया तो उस बड़े नगर से अशान्ति के स्थान में शान्ति लाया। मेरी डायरी में लिखा है–"पण्डित गुरुदत्त को मिला। मुक्ति विषय में उनके साथ बहुत बातचीत हुई। सर्व मुख्य नियमों में उनकी मेरे विचारों के साथ सहमति है। दूसरे दिन आदित्यवार को लाहौर आर्य समाज के साप्ताहिक आधिवेशन में सम्मिलित हुआ। उपस्थिति ३०० से अधिक थी। वहां से लाला सांईदास के मकान पर पण्डित गुरुदत्त सहित गया, जहां सामाजिक नियमों पर परस्पर विचार होता रहा। प्रिय गुरुदत्त को मिलकर मुझे नया धार्मिक बल मिलता है।"

सन् १८८८ का सितंबर मास (भाद्रपद–आश्विन, संवत् १६४५) मैंने अपने ग्राम तलवन में व्यतीत किया। नैतिक सत्संग के अतिरिक्त मैंने एक कन्या पाठशाला भी खुलवा दी किन्तु अध्यापिका की अयोग्यता के कारण जालन्धर लौटते हुए उसे बन्द करना पड़ा। अपने कुटुम्ब में बहुत से सामाजिक संशोधनों का भी प्रयत्न किया। अच्छे कामों के लिए जहां एक कौड़ी देने का भी अभ्यास न था वहां सामूहिक शक्ति से काम करना और उसके लिए धन व्यय करना भी मैंने यथाशक्ति अपनी पुरानी बिरादरी वालों को सिखाया। मास के अन्तिम धर्म भाग में एक अताई का नुस्खा लेकर मैंने यूनानी जुलाब लिया जिसने मुझे बहुत निर्बल कर दिया। उसी अवस्था में १५ अश्विर (१ अक्टूबर) को मैं तलवन से चल दिया। कुछ स्वस्थ्य होने पर इसी मास में एक नये काम की बुनियाद डाली गई जिसने मेरे चिरकाल के विचार को क्रिया में परणित कर दिया। जिस संस्था का नाम इस समय कन्या महाविद्यालय जालन्धर है उसके संस्थापन की कथा बहुत ही साधारण किन्तु शिक्षाप्रद है। जिस समय मैं वृत्तांत लिख रहा हूं, उस समय जालन्धर में एक पहाड़ी वृद्ध स्त्री रहती थी, जिसे 'भाई लाडो' कहकर लोग पुकारते थे। जो भी कुछ अक्षराभ्यास हिन्दी का हिन्दू महिलाओं का था, इस माई की कृपा का परिणाम था। मेरी धर्मपत्नी ने भी इसी माई से कुछ पढ़ा था। इस माई को कुछ विशेष लालच देकर ईसाइयों ने

अपनी पुत्री पाठशाला में रख लिया। यह अपनी शिष्या स्त्रियों की लड़कियों को लिहाज–मुलाहजे के दबाव से ईसाई पुत्री पाठशाला में ले जाया करती थी। इसी प्रकार मेरी पुत्री को भी उन्हीं की पाठशाला में बैठाया गया। २ कार्तिक, संवत् १६४५ (१६ अक्टूबर, १८८८) को डायरी में लिखा है–"कचहरी से लौटकर जब अन्दर गया, तो वेदकुमारी दौड़ी आई और जो भजन पाठशाला से सीखकर आई थी, सुनाने लगी 'इकबार ईसा, ईसा, बोल, तेरा क्या लगेगा मोल। ईसा मेरा राम रसिया, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया, इत्यादि। मैं बहुत चौकन्ना हुआ। तब पूछने पर पता लगा कि आर्य जाति की पुत्रियों को अपने शास्त्रों की निन्दा करनी भी सिखाई जाती है। निश्चय किया कि अपनी पुत्री पाठशाला अवश्य खोलनी चाहिए।"

तीसरे दिन आदित्यवार था। आर्य समाज के साप्ताहिक अधिवेशन में रायबहादुर बख्शी सोहनलाल प्लीडर भी सम्मिलित थे। हम दोनों घर को इकट्ठे लौटे। मैंने बख्शी जी से आर्य पुत्री पाठशाला की बात छेड़ी, वे पहिले ही से तैयार मिले क्योंकि उनको भी पता लग चुका था, कि उनकी लड़की क्या पढ़ाया जाता है। फिर क्या था, मैंने उसी रात बैठ कर एक अपील लिखी और दूसरे दिन से ही चन्दा लिखाना शुरू हो गया। मेरी डायरी से पता लगता है कि मध्य कार्तिक (अक्टूबर के अन्त) तक मैं बराबर चन्दा इकट्ठा करता रहा। १७ कार्तिक (६ नवंबर, दिवाली) को ऋषि दयानन्द का मृत्यु दिवस था। उसी दिन प्रातः काल अपने घर में बृहद हवन कराया। ४० महाशय उपस्थित थे। वहां कन्या पाठशाला के लिए फिर अपील की गई। रात को समाज मन्दिर में ऋषि दयानन्द के जीवन पर मैंने ही व्याख्यान दिया। इन्हीं दिनों एक दूसरे बड़े लाभ की बुनियाद डालने का विचार उपस्थित हुआ। धर्म सेवा के लिये जहां अन्दर से उत्साह उत्पन्न होने लगा वहां साथ ही साथ साधन भी प्राप्त होने लगे। इन्हीं दिनों में से एक दिन राज–मजदूरों को साप्ताहिक वेतन बांटना था, पास फूटी कौड़ी

नहीं थी। बड़ी चिन्ता में था कि तीसरे पहर तक १३० की आमदनी हो गई। मेरी डायरी में लिखा है–"मनुष्य को कभी निराश न होना चाहिये, परमात्मा पर दृढ़ विश्वास रखना चाहिये"। मुझे इन दिनों अपने विचार सर्व साधारण तक पहुंचाने के लिये किसी साधन की आवश्यकता प्रतीत होते ही परमात्मा ने मार्ग दर्शा दिया और ऋषि उत्सव के दूसरे दिन ही 'सद्धर्म प्रचारक' साप्ताहिक उर्दू पत्र के निकालने का विचार दृढ़ हुआ। दूसरे ही दिन पच्चीस–पच्चीस रुपयों के १६ हिस्सेदार पैदा हो गये और प्रेस का सामान क्रय करने की सूझने लगी। सभी जालन्धरी हिस्सेदार आये थे। इस समय से चैत्र संवत् १६४६ के अन्त तक सब प्रबन्ध होता रहा और १ वैशाख १६४७ को प्रचारक का पहिला अंक निकला।

एक ब्रिटिश शासक से भेंट

इन्हीं दिनों शिक्षा समिति के प्रधान सर चार्ल्स एचीसन महोदय अपने कमीशन का काम समाप्त करके जालन्धर में अपने संबंधी मैकवर्थ यंग, कमिश्नर को मिलने आये थे जो सर मैकवर्थ यंग बन कर पीछे पंजाब के लाट साहब बने थे। उन्हें मिलने जालन्धर के रईस आग्रह पूर्वक मुझे साथ ले गये। उस मिलाप का हाल मेरी डायरी में लिखा है। "रईस लोग तो प्रशंसायुक्त अत्युक्तियों पर ही भेंट समाप्त करना चाहते थे परन्तु मैंने स्कूलों और कालेजों में फीस बढ़ाने का विषय छेड़ दिया।" सर चार्ल्स ने मुझे रोकने के लिए कहा 'मैं तो फीस बढ़ाने का पक्षपाती हूं, जब गवर्नमेण्ट अपनी प्रजा के भोजन का प्रबन्ध नहीं करती तो शिक्षा का प्रबन्ध करना उसके लिए किसी युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता।' मैंने उत्तर में कहा "मनुष्य स्वभावतः भोजन का सामान एकत्र करने को बाधित होते हैं, किन्तु छोटे बच्चों की तरह वे अभी शिक्षा के लाभों से परिचित नहीं। इसलिए दयालु माता की नाईं गवर्नमेण्ट को शिक्षा के लिए लोगों को उत्साहित करना चाहिये।" मेरी डायरी में लिखा है कि सर चार्ल्स ने इस पर विषय को बदल दिया और नगर

के समाचार पूछ कर सब को विदा किया। इन दिनों मालूम होता है कि अपने नित्य कर्मों के नियम–बद्ध होने के कारण मेरी मानसिक दशा अच्छी रहने लगी थी। समाज के साप्ताहिक जल्सों में उपदेशादि के अतिरिक्त घर पर कई सज्जनों को सत्यार्थ–प्रकाशादि ग्रंथ भी मैं पढ़ता था; कन्या पाठशाला के लिए आन्दोलन के अतिरिक्त आर्य पत्रिका के लिए लेख भी भेजा करता था और रात कों शयन से पहले मेरे मकान पर आर्य भाई हरिकीर्तन के लिए जमा होते थे।

लाहौर आर्यसामाज का बारहवां वार्षिकोत्सव

हम लोग लाहौर आर्यसमाज मन्दिर को एक तीर्थ स्थान समझते थे और बड़ी श्रद्धा से वहां के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने के लिए यात्रा करते थे। ७ मार्ग शीर्ष (२५ नवम्बर) को नगर कीर्तन था, उस दिन रात को हम सब अपने घरों से चल कर रेलवे स्टेशन पर पहुंचे ट्रेन दो बजे प्रातः चलती थी। हम दस–ग्यारह आर्य भाई पहिले तीसरे दर्जे के मुसाफिर खाने में गये। भाई देवराज ने आंखे बन्द कर लीं और वेद मन्त्र का उच्चारण करके परमेश्वर की स्तुति के पश्चात् बल तथा ज्ञान के लिए प्रार्थना की। आंख खोलते ही पता लगा कि जनसंख्या अच्छी इकट्ठी हो गई है। मैंने पौन घण्टे तक धर्मोपदेश दिया और दो बजे की ट्रेन से लाहौर चल दिये। सारा प्रातःकाल भजनों में बिताया : जिस स्टेशन पर रेल पहुंचती, हमारे भजनों का सुनने चुपचाप सब खड़े हो जाते। सन्ध्या से रास्ते में भी निवृत्त होकर ७ बजे प्रातः लाहौर पहुंचे। उन दिनों लाहौर में घोड़े से ट्राम चलती थी। एक ट्राम भर कर भजन गाते हुए उतारे के स्थान पर पहुंचे। वहां से लाहौर के बाजारों में भजन गाते हुए समाज मन्दिर में पहुंचे।

इस उत्सव में ही मास्टर दुर्गाप्रसाद जी का सोलह संस्कारों पर व्याख्यान सुन कर मेरा प्रेम उनके साथ अधिक हो गया था। किन्तु सब से बढ़ कर पण्डित गुरूदत्त का व्याख्यान था जिसके विषय में मेरी डायरी में लिखा है–"इस व्याखान की क्या

उपमा दूं? ऋषि दयानन्द के उपदेशों के पश्चात यही एक व्याख्यान सुनने में आया है।" यह उत्सव इस लिए भी स्मरणीय रहेगा कि मैंने पहले पहल पण्डित गुरुदत्त के व्याख्यान के पश्चात ६ मार्गशीर्ष, संवत् १६४५ (२५ नवम्बर १८८८) के ११ बजे से हुक्का पीना छोड़ दिया था। १ मार्गशीर्ष (२ नवम्बर) की डायरी में लिखा है कि सारा दिन तम्बाखू नहीं पिया। ११ मार्गशीर्ष (२७ नवम्बर) को लिखा है "तम्बाखू छोडने से बड़ा लाभ होगा। अभी पता लगता है कि बहुत सी सुस्ती दूर हो गई।"– इसके कुछ दिन पीछे भूख अधिक लगने का लेख है। लाहौर से लौट कर मैं अपने ग्राम तलवन में गया। इन दिनों ही सांसारिक ऐश्वर्य तथा सांसारिक मान के संचय करने का विचार यद्यपि शिथिल हो चुका था किन्तु पर्याप्त धन इकट्ठा करके मानसिक जीवन व्यतीत करने के विचार दृढ़ हो रहे थे। इसलिए जहां जालन्धर वाले बंगले के नक्शों में उपासनालय के साथ–साथ पुस्तकालय के बड़े कमरे की बुनियाद रखी गई थी, वहां विचार के लिए एकान्त निवासार्थ ग्राम से दूर अपनी भूमि पर वाटिका तथा आश्रम बनाने का काम भी हो रहा था। तीस दिवस जन्म--भूमि में धर्म प्रचार कर तथा नई वाटिका को हरियावल देकर जालन्धर लौट आया।

इस वर्ष जालन्धर आर्य समाज का वार्षिकोत्सव भी बडी धूम–धाम से हुआ। केवल धूम–धाम ही न थी, जालन्धर निवासियों का काया पलट हो गया। उत्सव से पहिले एक तो मैंने विविध स्थानों में विशेष धर्म सम्बन्धी व्याख्यान दिए फिर पण्डित लेखराम आर्य पथिक से विचार कराया। जालन्धर के पौराणिक भी ऐसे काबू चढ़े कि एक विशेष अधिवेशन में पण्डित देवीचन्द्र न्यायाचार्य तथा वृद्ध पण्डित राम दत्त तक बाल विवाह का ख""डन कर गये।

ब्राह्म मुहूर्त में हरिकीर्तन

जब कभी मैं नवयुवक आर्यसमाजियों से पुराने समय अर्थात् संवत् १६५१ (सन् १८६४) की धर्म तथा सदाचार में श्रद्धा

का वर्णन करता हूं तो उनके मुख पर अविश्वास के से चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। और कोई–कोई स्पष्ट कह देते हैं कि उस समय सब ढकी–ढकाई बात थी इसलिए वह पुराना समय स्वर्णिम ज्ञात होता है। किन्तु मेरा अनुभव यही है कि जिस समय का मैं वर्णन कर रहा हूं उस समय कम से कम जालन्ध ारी आर्यों में श्रद्धा की मात्रा बहुत बढी हुई थी। यह सवयं सिद्ध सचाई है कि जिस समय आराम लेकर सब इन्द्रियां स्वस्थ होती हैं उस सयम (ब्राह्म मुहूर्त में) मनुष्य के आत्मा पर बुराई वा भलाई दोनों का प्रभाव प्रबल पड़ता है। इसी सच्चाई को अपना पथदर्शक मान कर कुछ जालन्धरी आर्य हाथों में एक तारा ले चार बजे प्रातः घर से निकलते और आशा के शक्तिदायक अलाप के साथ वैराग्य, श्रद्धा भक्ति और ईश्वर–स्तुति के भजन गाना आरम्भ करते थे। हमारे काम का ढंग यह था कि मुहल्ले वा गली के बीचों बीच खड़े होकर एक भजन पूरा करते और एकतारा पर स्वर छेड़ते आगे चल देतें जहां तक मुझे याद है पांच वर्षों तक हम लोग अपने वार्षिकोत्सव से डेढ़ दो महीने पहिले ऐसा ही अमल करते थे। कई बार हमारे साथ साहौर ब्राह्म समाज के प्रसिद्ध सभासद ला[illegible]राम [illegible] अविनाश चन्द्र मजूमदार भी सम्मिलत हु[illegible] करते थे। प्रातः काल के हरिकीर्तन के समय भी कभी–क[illegible] [illegible]चित्र घटनाएं होती! कभी किसी माता को कहते सुनता–बेचारा बड़ा भला फकीर है, केवल भजन गाता है।" मांगता कुछ नहीं और जब फिर दरवाजा खोल कर उसके–निकलतें मैं चल देता तो आवाज आती–ऐ भाई! खैर लेजा!! किन्तु जब मैं लौट कर भीख के लिए आंचल फैलाता, तो देवी को विस्मित देख कर बतला देता कि मैं आर्य समाज का भिक्षुक हूं और इस लिए फेरी डालता हूं कि नर–नारी धर्म पिपासा बुझाने के लिए आर्य मन्दिर में एकत्र हों। कई देवियां तो हमे भिखमगे समझ कर ही अनाज, पैंसा, दुअन्नी, चौअन्नी, आंचल में डाल जातीं। मुझे याद है कि एक सवेरे की भीख की कमाई १० रुपये से कुछ अधिक मैंने उत्सव निधि में दी थी। वे दिन कैसे स्वच्छ और सुन्दर थे, और उन्होंने मेरे आत्मा की उन्नति में क्या किया, उसे

स्मरण करके कभी–कभी हृदय मुग्ध हो जाता है। और मुझे पश्चाताप होता है कि ऐसी शान्तिदायक सेवा से पृथक होकर क्यों पत्थरों से टकराने का कठिन काम पकड़ लिया।

शायद यह प्रातः काल का नगर कीर्तन बहुत वर्षों तक चलता किन्तु जब कुछ विरोधियां ने ढोलक को गले में डाल कर प्रातः रासलीला और आर्य समाज को गालियों के भजन गाने आरम्भ किए और पंजाबी बाग व्यवहार के अनुसार हरिकीर्तन के स्थान में "धम्मड़–धरस्मा" मच गया तो जालन्धर आर्य समाज में धर्म प्रचार का एक बड़ा अंग शिथिल हो गया।

जालन्धर आर्य समाज का तीसरा वार्षिकोत्सव

यह उत्सव मेरे लिए सदा स्मरणीय रहेगा। पहिला कारण तो यह है कि उसी उत्सव पर सबसे पहले नगर कीर्तन की शान्ति का मैंने अनुभव किया। लाहौर आर्य समाज के उत्सव के पश्चात् यहां पहले संयासी स्वामी स्वात्मानन्द जी आर्य समाज को मिले वहां श्री स्वामी अच्युतानन्द जी पंडित गुरूदत्त की विद्वता और उनके धर्म भाव के काबू चढ़ कर अपनी बड़ी मण्डली को छोड़ (जिसके वह महन्त थे, शुद्ध वैदिक धर्म की शरण में आ चुके थे। इन सब स्वामियों को साथ लेकर लगभग ४० आर्य भाईयों सहित १० पौष, सवत् १६४५ (२५ दिसम्बर १८८८) के मध्यान्होतर पंडित गुरूदत्त जी रेल पर से उतरे। स्व. लाला साईदास और लाल हंसराज बी.ए. भी साथ ही उतरे किन्तु रात की ट्रेन से ही अजमेर पधार गए। उन्हें परोपकारिणी सभा के संबंध में पूरा भाग लेने की लगन थी और गुरूदत्त को वैदिक धर्म के प्रचारक की। मुझे उन दिनों पता ही न था कि धार्मिक समाज में भी राजनीति के लिये स्थान हो सकता है और इसलिए अजमेर से पत्र प्राप्त होने पर भी मैं जालन्धर आर्य समाज के वार्षिकोत्सव की तैयारी में लगा रहा।

नगर कीर्तन क्या था, सारे नगर–निवासियों के लिये प्रेम और शान्ति का सन्देश था। बाजे के साथ 'ओऽम्' का झण्डा

लिये जालंधर के एक प्रसिद्ध रईस, उनके पीछे पण्डित गुरूदत्त संन्यासी मण्डल सहित वेद मन्त्रों की अमृत वर्षा करते जा रहे हैं और उस साधु मण्डल के पीछे गृहस्थों के कई दल हरि यशगान करते हुए जा रहे हैं। आं! आं! ऊं! ऊ! का अलाप वलाप कुछ नही और ना ही बांह हिलाने से काम, किन्तु नगर–निवासियों पर प्रभाव, ऐसा, कि सारे बाजारों मे शान्ति का राज्य दिखाई देता था।

दूसरों स्मरणीय बात उतारे के स्थान में पहुंचकर सब भाइयों का सन्ध्या करना था जिसके पश्चात् सबने इकट्ठे होकर हवन किया। फिर स्वामी स्वात्मानन्द जी ने सन्ध्या की विधि और उसके लाभों पर व्याख्यान दिया और बहुत रात जाते तक आर्य भाई सन्यासी महात्माओं तथा पण्डित गुरुदत्त जी से धर्म विषयक निर्णय करते रहे।

संन्यासियों को सन्ध्या–अग्निहोत्र में सम्मिलित होते देख मुझे सन्देह हुआ था। मैंने पण्डित गुरूदत्त जी से अपनी शंका प्रकट की। पण्डित गुरूदत्त जी ने कहा कि जो संन्यासी, महात्मा, योगी हैं और सांसारिक वासनाओं से सर्वथा मुक्त, अल्पहारी तथा उच्चकोटि के साधन सम्पन्न हैं उनके लिए इन बन्धनों से सर्वथा मुक्ति का विधान है। किन्तु जो सन्यासी दिन रात गृहस्थों की सेवा में लगे हुये सब प्रकार के भोजन छादन में फंसे हुए हैं उन्हें दो काल संध्या तथा अग्निहोत्र करना ही उचित है। इसी समय उन्होंने श्वेताश्वतरोपनिषत् का निम्नलिखित प्रमाण भी दिया था।

लघुत्वमारोग्यम लोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति।।

शायद यही कारण है कि पण्डित गुरूदत्त के सत्संग में रहे हुए सर्व संन्यासी महात्मा दोनों काल संध्या करते हैं जिस अवस्था मे उनसे कम साधना वाले अन्य पुरूष संध्या करने में अपना अपमान समझते हैं।

तीसरी विशेषता यह थी कि इस उत्सव ने सर्वसाधारण को निश्चय करा दिया कि आर्यों में वेदशास्त्र के जानने वाले प्रगल्भ विद्वान् विद्यमान हैं।

११ पौष, संवत् १९४५ (२६ दिसंबर १८८८) को प्रातः स्वामी अच्युतानन्द जी महाराज का धर्मोपदेश संस्कृत भाषा में हुआ। इस व्याख्यान के लिये पौराणिक पण्डितों के निमन्त्रण पत्र मैंने अपने हाथ से लिखकर भेजे थे। स्वामी जी ने नवीन वेदान्त का खण्डन करके जब वैदिक मत की स्थापना की तो एक पौराणिक पंडित, जिसके हाथ में उक्त स्वामी जी का ही पुराना उपनिषद् भाष्य था, बोला "इसमें क्या लिखा है और अब क्या अनर्थ कर रहे हो।"–स्वामी जी ने उत्तर दिया– "वह भी तो मेरा ही ग्रन्थ है, जब आंख खुलने पर मैंने ही उसका संशोधन किया।" पौराणिक पण्डित चुप हो गया। तीसरे पहर प्रश्नोत्तर (शंका समाधान) का समय था। पहले जालन्धर के प्रसिद्ध वेदान्ती मौनीजी को लोगों ने वेदी के सामने कुर्सी पर शास्त्रार्थ के लिए बैठा दिया। आर्य समाज की वेदी पर श्री पंडित गुरूदत्त जी आ विराजे। मौनी जी को प्रश्न की आज्ञा हुई, किन्तु वह तो मौनी जी ही निकले। मौन साध के बैठे रहे, कुछ भी न बोले। तब उन्हें संकेत किया गया कि कुर्सी से नीचे आ जायं, जिससे दूसरों को शंका समाधान का समय मिले। किन्तु मौनी जी ऐसे जमे कि जड़--भक्त बन गये। तब उन्हें स्पष्ट कहकर नीचे बैठाया गया। इसी समय किसी ने नियोग और विधवा–विवाह पर प्रश्न किये। स्वामी स्वात्मानन्द जी ने बड़ा उत्तम समाधान किया। बाल--विधवा के विवाह को पण्डित गुरूदत्त जी ने ऐसी प्रबल युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध किया कि करतारपुर (जिला जालन्धर) के एक प्रसिद्ध साहूकार ने अपनी बाल–विधवा पुत्री के विवाह कर देने का दृढ़ संकल्प धारण किया। भाई देवराज जी के पिता राय शालिग्राम जी भी उसी समय से बाल--विधवा विवाह के पक्षपाती हुए थे।

सांयकाल को पण्डित गुरूदत्त का व्याख्यान था। जालन्धर में भी उनकी धूम थी। बड़े बीची साहब, स्पैन्सर साहब, वकील और कुछ अन्य अंग्रेज सुन आये थे पण्डितजी बड़ी गम्भीर भूमिका बांध रहे थे। पण्डित जी की भूमिका सर्वसाधारण अनपढ़ों के लिय शुष्क सी प्रतीत होती थी, किन्तु सर वाल्टर स्काट के उपन्यासों की तरह जो भद्र पुरुष आधा घण्टे की (उनके लिए नीरस) भूमिका को सहन कर लते उनके फिर पौन घण्टे तक स्वर्ग के झकोलों का आनन्द आता। मैं किसी काम के लिये उठा और प्रबन्ध एक और महाशय के सुपुर्द हुआ। लोगों ने उन्हें तंग किया कि पण्डित गुरूदत्त का कुछ समय बाबू बेचाराम जी को देकर अन्तिम अपील उनसे कराई जावे। स्थानापन्न सभापति ने लिख कर दिया –

"आपके पश्चात् बाबू बेचाराम जी अपील करेंगे।" संस्था के दास गुरूदत्त ने पांच मिनट में ही व्याख्यान समाप्त करके सबको आश्चर्य में डाल दिया।

पण्डित गुरुदत्त का गुरुत्व

बेचाराम बाबू के हाथ पैर मारने और भाषा की बेजोड़ गढ़न्त पर कुछ जोशीले आर्य समाजी तो प्रसन्न हुए किन्तु अंग्रेज और अन्य सुशिक्षित पुरुष आये थे उठकर चले गए। उन अंग्रेज भद्र पुरुषों ने पीछे मुझसे शिकायत की कि ऐसी विशाल भूमिका के पश्चात् न जाने कैसा सारगर्भित व्याख्यान होना था जिससे उनको वंचित रखा गया। १३ पौष (२८ दिसंबर) को प्रातःकाल ही सब स्वामियों को देवराज जी अपने यहां ले गए किन्तु पण्डित गुरूदत्त जी लाला बालकराम को साथ ले मेरे यहां पहुंचे। वहां से दुग्धपान करके एक बड़ा चक्कर काटते हुए हम तीनों लाला देवराज के मकान को चल दिये। बालकराम जी को प्रश्नों द्वारा दूसरों की सम्मतियां जा ने का बहुत अभ्यास था। बहुत से अन्य प्रश्नों के पश्चात् आपने पूछा–"पण्डित जी नेशनल कांग्रेस के बारे में आपकी क्या राय है?" पण्डित जी

चलते–चलते खड़े हो गए और बोले "नेशनल कांग्रेस के बारे में मेरी क्या राय है? अच्छा, एक बड़े मैदान में लकड़ियों का एक ढेर लगाइये और उनमें आग लगा दीजिये। उस ढेर के नीचे चारों ओर ऊंचे मीनारों पर पानी के नल लगा दीजिए। फिर एक ओर तो भड़की हुई आग में ईन्धन डालते जाइये और दूसरी ओर पानी के नलकों में से सीधी धारा उस ज्वाला पर छोड़ते जाइये। यह है नेशनल कांग्रेस जिसका उद्देश्य कांस्टिट्यूशन एजिटेशनल (वैध आन्दोलन) है।" लाला बालकराम ने दूसरा प्रश्न न पूछा और हम सब देवराज की हवेली में पहुंच गए।

उसी दिन राय रामलाल जी इन्जीनियर ने दूसरे दिन के लिए भी पंडित जी को उनके साथियों सहित भोजन का निमंत्रण दिया और प्रार्थना की कि पंडित जी का एक व्याख्यान अवश्य कराया जावे क्योंकि पहिला व्याख्यान अधूरा छूटने से शिक्षित दल को शान्ति नहीं हुई। पण्डित जी ने उत्तर में कहा "मुझे कोई नई बात सुनाने के लिए सूझी नहीं फिर कैसे कह सकता हूं कि व्याख्यान दूंगा वा नहीं।" इंगलैंड के प्रसिद्ध वक्ता जान ब्राइट की नाई पण्डित गुरूदत्त बिना आवश्यकता और अनुभव के बोला नहीं करते थे। अस्तु !

देवराज जी के यहां सबने इकट्ठे भोजन किया और फिर विविध विषयों पर बातचीत होती रही। मध्यान्होत्तर मैं और बालकराम जी धर्म–सभा के जल्से में जो जुआखाने में मैदान में हो रहा था, जाने के लिए तैयार हुए। पंडित गुरूदत्त ने भी चलने की इच्छा प्रकट की। शायद बालकराम जी ने उन्हें मना करके कहा–"पंडित जी! व्याख्यानों की रिपोर्ट हम आपको देंगे। आप हमारे शिरोमणि लीडर हैं, आपको हम नहीं ले जाएंगे।" पंडित जी का उत्तर घड़ा– घड़ाया था। संन्यासी स्वामियों की ओर संकेत करके बोले "गद्दी पर इन सबको बैठने दो, मुझे तो सुनने में ही आनन्द आएगा।" यह कहकर हमारे साथ हो लिए। दशोपनिषद् का गुटका हाथ में था। जलसे में पहुंच, एक ओर

खड़े हो गए। एक पंडित मूर्तिपूजा का खण्डन कर रहे थे, देर तक सुनने के पश्चात् पण्डित जी ने कहा– "लीजिए! अब जन साधारण के लिए सन्देश सूझ गया, अब आपका जी चाहे तो नोटिस दे दीजिए।" मेरा इशारा करते ही उसी जन–समुदाय में से २५ आर्य भाई इकट्ठे हो गए। सबको कह दिया कि सभा विसर्जन होते ही निकलने वालों को पण्डित जी के व्याख्यान की सूचना देते जायें। सभा विसर्जन हुई और काम शुरू हो गया। हम लोग तो दूसरी ओर से समाज मन्दिर को चले और जन–समुदाय ने सीधा आर्य–मन्दिर का रास्ता लिया। हमारे पहुंचते–पहुंचते चार–पांच सौ आदमी इकट्ठे हो गए। एक भजन समाप्त होने पर आंख उठाई तो दो सहस्र की भीड़ दिखाई दी। राय शालिग्राम, वजीर कर्मचन्द्र मण्डी वाले, पण्डित जविन्दलाल म्यूनिसिपल कमिशनर आदि नगर के बड़े–बड़े प्रतिष्ठित सज्जन कुर्सियों और बेंचों पर शोभायमान थे। पण्डित गुरुदत ने शनैः शनैः भूमिका उठाकर परमात्मा का निरूपण किया और फिर आत्मा के साथ उसके संबंध का चित्र खींच निराकार पूजन के मण्डन में ही मूर्तिपूजा का खण्डन कर दिया। फिर जब जनता के लिए प्रेम के भाव से प्रेरित होकर कहा 'मुझे बड़ा कष्ट होता है, मेरा हृदय विदीर्ण हो जाता है जब मैं देखता हूं कि मेरे पिता के पुत्र, भाई, चेतन के पुत्र होते हुए, जड़ का पूजन करते हैं' तो उस समय लोगों के दिल भर आए। वजीर कर्मसिंह की, अन्य सामग्री के अतिरिक्त, एन मन से कम बोझ की मूर्तियां न होंगी जिनका वह नित्य पूजन किया करते थे। उन्होंने राय शालिग्राम से कहा–"कल से मैं मूर्तिपूजा कदापि न करूंगा।"

पण्डित जी के पश्चात् औरों के भी व्याख्यान हुए। स्वामी प्रकाशानन्द ने हंसाते–हंसाते लोंगो को लोटपोट कर दिया, किन्तु पण्डित गुरूदत्त के व्याख्यान का अन्त तक बड़ा प्रभाव रहा। इस प्रभाव का पता उस वाक्य से लगता था, जो अकस्मात् धर्मसभा के स्तम्भ, पण्डित जविन्दलाल के मुंह से आर्य समाज

के बाहर होते ही निकला। उन्होंने अपने साथियों से कहा—आज मूर्तिपूजा दी 'वो काटे हो गई।" सचमुच जैसे उस्ताद के ढील देने पर अनाड़ी के हाथ की तुक्कल कटकर नाक की सीध पर चल देती है वैसे ही उपस्थित सज्जनों के मानों से मूर्ति—पूजा पलायन कर गई।

पंडित गुरुदत्त चौमुखी चलते थे

१३ पौष (२८ दिसंबर) की रात को मैं भाई देवराज जी के यहां ही सोया था। १४ पौष (२६ दिसंबर) को प्रातःकाल स्नान सन्ध्या वन्दनादि से निवृत्त होकर पण्डित गुरुदत्त जी को उनके नियत स्थान में न पाया, पूछने पर पता चला कि पण्डितजी दो बजे से ही स्नान करके एकान्त स्थान में दरवाजे बन्द कर अपनी योग क्रिया में निमग्न हैं। ८ बजे जब किवाड़ खुले तो मुझ से एकान्त में बातचीत हुई। मैंने पण्डित जी से पूछा तो पता लगा कि जब तक एकान्त में न्योली कर्म न कर लें तब तक वे अपना अभ्यास नहीं कर सकते। मैंने निवेदन किया कि यदि पूरा अभ्यास जारी रखते हुए बढ़ाना है तब तो व्याख्यान, लेखादि का कार्य बन्द कर देना चाहिए और यदि यह काम जारी रखना है तो अभ्यास को साधारण अवस्था में लौटा कर कुछ काल वहीं स्थित करना चाहिये। पण्डित जी मेरे साथ सहमत होते हुए बोले 'मुन्शीराम जी! जानता मैं भी सब कुछ हूं किन्तु एक ओर तो अभ्यास का आनन्द नहीं छोड़ा जाता और दूसरी ओर सब सज्जन आ घेरते हैं तो उन्हें कोरा जवाब देना मेरी शक्ति के बाहर हो जाता है।" मैं इस सरल उक्ति का क्या उत्तर दे सकता था ? किन्तु जब तब कभी—कभी रात को एक सर्द आह दिल से निकलती है, और हृदय पुकार उठता है 'हा! गुरुदत्त के मूर्ख मित्रों! तथा अन्धे श्रद्धालु भक्तो! यदि तुम जानते कि अपने पूज्य पण्डित जी को दो—दो बजे रात तक पठन पाठन और शंका—समाधान के लिए जगा कर तुम उन्हें मौत के मुंह में धकेल रहे हो तो तुम्हें कितना अनुपात होता?' किन्तु इसमें भी शायद परम पिता की ओर से हमारे लिए शिक्षा थी जिसे यदि हम समझते तो कृतार्थ हो जाते।

१४ पौष (२६ दिसंबर) के सवेरे की दो घटनाएं मुझे याद हैं। भाई देवराज के कचहरी वाले कमरे में तीन खिड़कियों वाले ऊंचे चबूतरे पर सन्यासी मण्डल बैठा हुआ है। और उस बड़े दालान के एक ओर एक चारपाई पर पण्डित गुरुदत्त जी लेटे हुए हैं। उनका एक चेला (चौधरी रामभज दत्त) चारपाई की पाटी पकड़े नीचे बैठा है। गुरु शिष्य में कुछ गोष्ठी हो रही है। अकस्मात मेरा बुलावा होता है। मुन्शीराम जी! इधर आईये।– मैं जाकर चारपाई पर बैठ जाता हूं– 'कहिए, क्या आज्ञा है?" पण्डित जी ने प्रश्न पूछा– "सच कहिए, क्या एक आदमी वकालत करते हुये कन्सेन्शन पुण्यात्मा रह सकता है?" मेरे उत्तर में एक पल की देर न थी– "मेरा अनुभव यह है कि नहीं रह सकता।" इस पर पण्डित जी ने अपने शिष्य से कहा, 'देखो, जिनका तुमने दृष्टान्त दिया था, जब वे भी मानते हैं कि एक धार्मिक मनुष्य के लिए यह पेशा ठीक नहीं तो तुम मुख्तारी का ख्याल क्यों नहीं छोड़ देते। तुम स्वयं शिक्षा ग्रहण कर कहीं शिक्षक बनो, इस प्रकार तुम सैकड़ों युवकों को सदाचारी बना सकोगे।" रामभज दत्त ने अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य समझ कर सिर झुका दिया और उसी समय से मुझे इस युवक के साथ विशेष प्रेम हो गया। प्यारे गुरुदत्त! यदि तुम्हे अकाल मृत्यु का ग्रास न बनना पड़ता तो न जाने वीर रामभज दत्त सांसारिक प्रलोभनों से सुरक्षित किस उच्चतम पद को प्राप्त होता है। किन्तु

होइ है सोइ जो राम रचि राखा!

एक दूसरी घटना दूसरा रंग लिए हुए थी जिसका वर्णन गुरुदत्त की सत्यप्रियता तथा निर्भयता का परिचय देगी। यह वहीं व्यसन था जिसका अनुकरण करते हुए मैंने भी बीसों शुत्र बना लिए हैं। विज़वाड़ा ग्राम (श्री महात्मा हंसराज जी की जन्म भूमि) के श्री लाला ठाकुरदास रईस धर्मसभा के जल्से पर आए हुए थे। वे हमारे स्वामियों के दर्शनार्थ आये। भाई देवराज ने

उन पर काम करना आरम्भ किया—"देखिए लाला जी! देवी को जगन्माता कहते और फिर उनके स्थान पर बकरे—भैंसे काटते हैं। क्या यही सनातन धर्म है इत्यादि ? लाला ठाकुरदास जी बूढ़े अनुभवी पुरुष थे, बात को टाल गए। कुछ देर के पश्चात् देवराजजी से पूछा— "भला जो हमारे यहां के चिरंजीव हंसराज जी तो आप में बड़े माननीय हैं।" देवराज जी को और क्या चाहिए था, फिर अलाप शुरू कर दिया— "हंसराज जी तो महात्मा हैं। हम सब में शिरोमणि हैं। भला बताइये कि सनातन धर्म सभा में उनके त्याग का कोई मुकाबिला करने वाला है? लाला जी सनातन धर्म हमारा है, वह नहीं जिसे आप समझते हैं।" लाला ठाकुरदास जी बड़ी सरलता से बोले "हमारे चिरंजीव हंसराज जी मांस खाते हैं, फिर जो आचरण अपना एक शिरोमणि महात्मा करता हो वह पाप कैसे हो सकता है।" बस फिर क्या था, दो तीन पल के लिए तो सन्नाटा छा गया। स्वामी अच्युतानन्द जी ने पण्डित मुरुदत्त को सम्बोधन करके पूछा कि ऐसे घोर आक्षेप का खण्डन क्यों नहीं करते? पण्डित जी ने उत्तर दिया—"पांच दिन हुए तक तो खाते थे, अब छोड़ दिया हो तब तो मुझे ज्ञान नहीं। यद्यपि ऐसे उत्तरों ने पण्डित गुरुदत्त के शत्रुओं की संख्या बहुत बढ़ा दी थी और अन्त को वह दिन आया कि जिस दयानन्द कालेज की कृतकार्यता के लिए गुरूदत्त ने किसी से कम परिश्रम नहीं किया था उसके निर्माणकर्ताओं में से उनका नाम ही उड़ा दिया गया।

लाला ठाकुरदास विजवाड़ी के कथन ने मुझे बहुत विस्मित किया। मेरे स्वप्न में भी उस समय तक यह नहीं आ सकता था कि एक मनुष्य आर्यसमाज का सभासद् होता हुआ भी मांसाहारी हो सकता है। श्री महात्मा हंसराज जी के आत्म त्याग के लिए तो वही श्रद्धा मेरे मन में स्थिर रही किन्तु मांस—भक्षण के विषय ने लाहौरी आर्य लीडरों पर से मेरी श्रद्धा कम कर दी।

उसी शाम को धर्म सभा के जल्से में पण्डित गुरुदत्त जी फिर गए। दीवान रामजस सी.एस.आई. कपूरथले वाले भी वहां

उपस्थित थे। वे उठ कर आये और पण्डित गुरूदत्त जी को हम लोगों सहित अन्दर ले गए। दीवान जी ने एक लम्बी वक्तृता में पण्डित जी से पूछा कि जब दोनों सभाओं की माननीय धर्म पुस्तक एक है तो क्या मेल असम्भव है? पण्डित जी ने उत्तर दिया कि असम्भव तो नहीं है किन्तु यदि आप आज रात को मेरा व्याख्यान सुनें और कल मुझे अपना आशय प्रकट करने के लिए दो–तीन घन्टे दें तो बहुत कुछ हो सकेगा। श्री दीवान जी ने प्रतिज्ञा की कि ऐसा ही करेंगे। किन्तु जब आर्य समाज मन्दिर के पास बग्घी पहुंची तो उसके खड़े होते ही मिश्र अछरूमल जी ने दीवान जी के पैर पकड़ लिए और कहा–"यदि अब भी तुम उस आर्य का व्याख्यान सुनने जाओगे तो तुम्हें ब्रह्म हत्या का पाप लगेगा।" दीवान जी मजबूर होकर चले गए और पण्डित गुरूदत्त ने अपना अन्तिम व्याख्यान दिया।

पण्डित गुरुदत्त के सत्संग से इस बार मुझे बड़ा लाभ हुआ। जहां मैंने एक अपूर्व नया मित्र बना कर धर्म प्रचार में उत्साह प्राप्त किया वहां पण्डित गुरूदत्त के मेरे विषय में सन्देह दूर हो गये और उनको मेरे साथ प्रीति हो गई। पण्डित गुरुदत्त को न जाने किसने यह विश्वास दिलाया था कि जालन्धर वालों को मेरे कारण, ब्राह्मो स्पिरिट है। शायद उनको यह विश्वास इसलिए हुआ हो कि हम जालन्धरियों को वैयक्तिक प्रेम कुछ ब्राह्मसमाजी भाइयों के साथ था और वे हमारे उत्सवों के संकीर्तन में सम्मिलित हुआ करते थे। पण्डित गुरुदत्त ने अपनी भूल मान कर जो शब्द कहे थे, उसने हम दोनों को हमेशा के लिए एक ग्रंथ में बांध दिया। पण्डित ने कहा–"यदि मैं यहां न आता तो शायद हमेशा के लिए एक सहकारी को खो बैठता।"

जालन्धर आर्य समाज के इसी वार्षिकोत्सव पर मैंने उपन्यास पढ़न (नाव्हेल रीडिंग) को हमेशा के लिए नमस्ते कह दी थी। उससे पहले एक वर्ष से मैं इस दुर्व्यसन को त्यागने का प्रयत्न कर रहा था किन्तु कृतकार्यता न होती थी। शतरंज की तरह इसने भी बहुत सा समय व्यर्थ खराब कर रखा था। परमेश्वर की दया से इसके पश्चात् दोनों ने पिण्ड छोड़ दिया।

इस वार्षिकोत्सव पर बहुत से नए सभासद् आर्य समाज को मिले। पंडित छज्जूराम वकील इसी समय आर्य समाज में प्रविष्ट हुए थे। वे चार–पांच महीनों के पश्चात् ही आर्य समाज से पृथक् हो गए किन्तु उनके बिछोड़े ने भी आर्य समाज जालन्धर के गौरब का प्रमाण दिया। पण्डित छज्जूराम और सब सिद्धान्तों में तो आर्य समाज के साथ सहमत थे परन्तु वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानने में उन्हें संकोच था। उनका त्यागपत्र १० वैशाख १९४६ विक्रमी के सद्धर्म प्रचारक में छपा है। शिक्षाप्रद होने के कारण मैं उसका अनुवाद यहां देता हूं–"आप मेरा नाम आर्य समाज के रजिस्टर में से खारिज कर दीजिए। संक्षिप्त कारण इस प्रार्थना–पत्र का यह है कि मैं तीसरे नियम पर पूरे तौर पर विश्वास नहीं रखता और मैं यह नहीं चाहता कि जब तक मेरा पूरा विश्वास न हो, अपने आपको भी आक्षेपों का लक्ष्य बनाऊं और समाज की सुकीर्ति बढ़ाने का साधन होने के स्थान में उल्टा प्रभाव डालूं। मैं यह भी प्रकट करना चाहता हूं कि यद्यपि एक नियम पर मेरा विश्वास नहीं है परन्तु बहुत से अन्य विषयों में आर्य समाज के सभासदों के साथ सहानुभूति रखता हूं और रखता रहूंगा।" कैसा स्वर्णिम समय था, जब इस प्रकार सचाई का राज्य था, और कहां आज का समय कि दुराचारी और आप पन्थी आदमी भी मुंह छिपा कर समाज से पृथक् होने के स्थान में अपना जत्था खड़ा करके समाज में दनदनाते और उल्टे कोतवाल को डांटने वाले चोर के सदृश समाज को कलंकित करते रहते हैं।

इसी समय मेरे दो बड़े भाई और कुछ अन्य सम्बन्धी आर्य समाज में प्रविष्ट हुए जिसके कारण मुझे वैदिक सिद्धान्तों पर चलने में अधिक सुगमता हो गई।

एक अन्तिम लाभ इस उत्सव का एक जैन साधु का आर्य धर्म में प्रवेश था। पूजमोनी रिख (पूज्य मुनि ऋषि) नकोदर में रहता था। मेरे दो व्याखान सुन उसकी रूचि वैदिक धर्म की ओर बढ़ी, अपने दल में ही शास्त्रार्थ करके जालान्धर में आ

गया। २३ पौष (२८ दिसंबर) के दो बजे दिन के उसका प्रवेश संस्कार करके नाम "ब्रह्मचारी ऋषि" रखा गया।

इस प्रकार यह वार्षिकोत्सव मेरे लिए अगगिनत आशीर्वाद की वर्षा करके समाप्त हुआ।

कृतकार्यता का मद

जालन्धर आर्य समाज के तृतीय वार्षिकोत्सव की कृतकार्यता ने मुझे ऐसा उन्मत्त कर दिया कि कुछ दिनों तक सब आर्य समाजी कामों से उदासीनता को मैंने अपना अधिकार समझ लिया। उन दिनों मेरे आत्मा का क्या आदर्श था, यह बतलाने के लिए मैं अपनी डायरी का अनुवाद नीचे देता हूं। अनुवाद इस लिए कि उस समय तक कालिजी शिक्षा का प्रभाव दूर नहीं हुआ था और मैं अंग्रेजी में ही डायरी लिखने का अभयासी था।

"ओऽम्--अब सन् १८८६ का आरम्भ है। पहले महीने (जनवरी) के २५ दिनों तक मैंने वास्तब में कुछ नहीं किया--कुछ भी नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे समाज ने जो कृतकार्यता इस उत्सव में प्राप्त की है उसने मेरी शक्तियों को सर्वथा शिथिल कर दिया। इस वर्ष हमारे समाज पर परम पिता परमात्मा की बड़ी कृपा हुई हैं उसके अनुग्रह के आधिक्य ने मुझे विवश कर दिया। यह आश्चर्य की बात है कि हमसे पापियों का स्थापित किया हुआ समाज उन्नत हो रहा है। किन्तु जब सोचता हूं कि उसी परम पिता का सच्चा अनुग्रह है तो आश्चर्य दूर हो जाता है। हे प्रभु! मुझे सर्व प्रकार की पापकामनाओं से बचाइए; मुझे सत्य की ओर ले चलिए और वह मेधा प्रदान कीजिए जिसकी खोज में प्राचीन ऋषि कई जीवन अर्पण कर देते थे। हां, सचमुच उत्सव की कृतकार्यता ने मुझे शिथिल कर दिया था, जिससे मैंने आज सांयकाल ही मुक्ति उपलब्ध की है।"

फिर डायरी में लिखा है –

'शुक्रवार २५ जनवरी – प्रातः उठ कर कल का बचा

देखदां ते सुणदां सी। दुहां पासियां दी गल्लां सुण के कमिश्नर साहब ने आख्या कि आर्य समाज मंजूर नहीं, हमान्नं सनातन धर्म मंजूर है।– इस बेतुकी हांक को सुनकर मुझे तो हंसी छूटी किन्तु हमारे सभासद् मेरे पीछे ही लगे रहे। तब उसी रात को रेल में मैं लाहौर चला गया। वहां का हाल मेरी २१ माघ (३ फरवरी) की वृत्तान्त पंजिका में इस प्रकार लिखा है–

साढ़े सात बजे समाज मन्दिर में पहुंचा। वहां चिरंजीव भी था। वहां पता लगा कि जो किम्बदन्तियां फैलाई गई थीं और जो कुछ 'कोहनूर' में निकला था वह सब गप्प है। उसी समय सनातन धर्म मण्डल के उत्तर में बाबू मुन्नालाल और स्वामी स्वात्वानन्द जी के व्याख्यान हुए। तब एक बड़े विद्वान् सन्यासी स्वामी महानन्द जी ने अपनी सेवा आर्य समाज को अर्पण की। स्वामी जी के बहुत साधु शिष्ट हैं और उनकी विद्या की पण्डित गुरूदत्त ने स्वयं प्रशंसा की। उस समय २० अन्य महाशयों ने समाज में प्रवेश के लिए प्रार्थना पत्र दिये। यह भी सुनाया गया कि ३५ नये सभासद् पहिले प्रविष्ट हो चुके हैं। उस समय उत्वाह की लहर चल रही थी। सभा ११ बजे विसर्जित हुई।

भोजन के पश्चात् मैं भी लाला साईदास जी के वहां गया। यहां स्वामीगण, लाला हंसराज, लाला मुल्कराज और चिरंजीव भी थे। अन्य आवश्यक कार्य उपस्थित हो जाने के पश्चात् मैंने यह विषय उपस्थित किया कि लकीर के फकीर बनते हुए आर्यसमाजियों को पुरानी संकुचित जातियों में विवाह संबंध परिमित नहीं रखना चाहिए, प्रत्युत गुण कर्मानुसार वर्ण–व्यवस्था को व्यवहार में लाना चाहिए। लाला साईदास जी ने उस समय मुझे परम अत्याचारी (एक्सट्रीम रैडिकल) की उपाधि दी। वहां से पण्डित गुरुदत्त के पास गया। वे मुझे पण्डित सभा में ले गये, जहां पण्डित दीनदयालु जी के मुख से पूर्तिपूजा का विचित्र मंडल सुना। फिर साड़े आठ बजे की ट्रेन से जालन्धर लौटा।

इन दिनों आर्य भाइयों को पता लग गया कि मैं धर्म के राजीनामे का सर्वथा विरोधी हूं। इसका एक उदाहरण मैं अपनी डायरी में से उदघृत करता हूं।

इन दिनों आर्य भाइयों को पता लग गया है कि मैं धर्म के राजीनामे का सर्वथा विरोधी हूं। इसका एक उदाहरण मैं अपनी डायरी में से उद्‌घृत करता हूं।

"५ फरवरी १८८६ मंगल। वसन्त का दिन। प्रातः संध्या अग्निहोत्र करके अन्य सभासदों को साथ लेता हुआ समाज मन्दिर में पहुंचा। प्रथम भजन हुए फिर सामूहिक हवन किया गया। इस समय वेदमंत्रों का पाठ वास्तव में अत्युत्तम तथा प्रभावशाली था। फिर साढ़े ग्यारह बजे तक भजन होकर प्रीतिभोजन आरंभ हुआ। सब भाइयों ने मिलकर सहभोज किया जिससे दो बजे निवृत्त हुए। इसके पश्चात् ४ बजे तक अन्तरंग सभा होती रही। अत्यन्ताश्वयक विषय इस अधिवेशन में एक रामगोपाल नामी पुरूष की शुद्धि का था, जो कुछ काल से मुसलमान हो गया था। अन्तरंग सभा ने बड़ी निर्बलता दिखाई और उसे स्वयं शुद्ध करने के स्थान में अमृतसर भेज दिया।"

यहां यह जतलाने की आवश्यकता है कि अमृतसर आर्य समाज एक नत्थूराम पंडित को फांसे हुए था जो स्वयं दक्षिणा लेकर पतित को हरिद्वार भेज देते थे और वहां के पंडे को १५ दिलवा गोबर मलकर स्नान कराने के पश्चात् शुद्धिपत्र दे देते थे। जिस पर अमृतसर के आर्य समाज की बूब्बेशाही' मोहर लग जाती थी। कहां वह समय और कहां आज, जबकि आर्य समाज में जन्म के ईसाई, मुसलमानदि भी बेधड़क सम्मिलित हो सकते हैं।

धर्म परायणता का पहला दृश्य

१४ माघ (२७ जनवरी) को आदित्यवार था। उस दिन के वृत्तान्त में अपने साप्ताहिक अधिवेशन में सम्मिलित होने के हाल लिखते हुए मैंने लिखा था।

"देवराज ने सत्य पर बड़ा उत्तम और शिक्षाप्रद व्याख्यान दिया। आज के व्याख्यान मे कुछ विशेष रंग चढ़ा हुआ था। शायद वह व्याख्यान किसी आने वाली घटना की सूचना थी।

देवराज जी के पिता ने उन्हें स्पष्ट लिख दिया था कि यदि आर्य समाज का प्रचार करना है तो वर्मा आदि की ओर चले जाए, जालन्धर में रह कर अपने पिता को मित्रों से उलाहना न दिलाएं। देवरात जी के सुपुर्द अपने परिचार की रियासत का खजाना था परन्तु उन्होंने सब हिसाब ठीक करके अपने निज जेब खर्च के डेढ़ सौ रुपये लिये और वर्मा जाने के लिए कलकत्ते चल दिये। तब पिता को होश आया और उन्होंने आदमी भेजकर उन्हें लौटा मंगाया। उधर मैंने नित्य किसी न किसी पास के ग्राम में जाकर वैदिक धर्म का प्रचार आरम्भ कर दिया। इससे राय शालिग्राम जी को पता लग गया कि आर्य समाज के प्रचार को काम किसी विशेष व्यक्ति पर ही निर्भर नहीं है।

देवराज जी के इस अपूर्व सहास का परिणाम यह हुआ कि धर्म के कार्यों में उनके रास्ते की रुकावटें दूर हो गई। पिता जी की दृष्टि में उनका गौरब बढ़ गया और वे बेघड़क काम करने लग गये।

इस अन्तर में अन्तरंग सभा के अन्दर शुद्धि विषयक आन्दोलन मैंने जारी रखा और बहुत से सभासदों को अपनी सम्मति के अनुकूल कर लिया किन्तु देवराज जी के लौटाने पर मामला ही स्पष्ट हो गया क्योंकि वे अब "समय के न आने" के ढकोसले से मुक्त हो चुके थे। इस दिनों मेरा अधिक समय नगर के अन्दर प्रचार करने में लगता था क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि कोई भाई भी देवराज जी की अनुपस्थित को अनुभव करें प्रेस और समाचार–पत्र चलाने के विचार ने मेरा पत्र व्यवहार भी बढ़ा दिया था, किन्तु इन सब बढ़े हुए कामों के साथ एक ओर तो मैंने भूमिका लिखकर एक भजन–पुस्तक का आरम्भ कर दिया और दूसरी और हर्बर्ट स्पेन्स की पुस्तकों के साथ ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्य का स्वाध्याय भी आरम्भ कर दिया।

इधर वह सब कुछ हो रहा था और उधर अपने ग्राम तलवन से दो मील दूर अपनी भूमि में गलवाने के लिये फलों के वृक्ष

भेज रहा था क्योंकि इस समय यहीं विचार था कि एकान्त सेवन के लिए यहां एक छोटा सा बंगला बनवाया जाये।

इन सब कामों के अतिरिक्त आपनी प्रस्तावित पुत्री पाठशाला को भी नहीं भूला था, क्योंकि ६ फाल्गुन (२१ फरवरी) को राय बहादुर मास्टर प्यारेलाल इन्सपैक्टर ऑफ स्कूल्स को मिलकर उसके विषय में बातचीत की थी।

'सद्धर्म प्रचारक' का जन्म

जालन्धर आर्य समाज के तीसरे वार्षिकोत्सव से पहिले ही समाज के बढ़ते हुए काम को देखकर अपना एक प्रेस खोलकर समाचार पत्र चलाने का विचार हो रहा था। उन दिनों जालन्धर और होशियारपुर के आर्यसमाजियों का भाई चारे का संबंध था, इसलिए महाशय रामचन्द्र भी हमारे विचार के साथ सहमत थे। उन्होंने मुझे लिखा कि आर्य समाज की ओर से समाचार पत्र चलाने के लिये कोई कंपनी बनाई जाये तो एक हिस्सा वह भी लेंगे, इस पर मैंने दो हिस्से स्वयं लेकर कुल १६ हिस्से २५) पच्चीय रुपये के स्थिर किये। श्री लाला रामकृष्ण (वर्तमान प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब) जालन्धर में वकालत करने आ चुके थे और स्थानीय समाज के उप–प्रधान नियत हो चुके थे। वे भी हिस्सेदार हुए। लाल देवराज और लाल सालिगराम वैश्य (प्रसिद्ध भण्डारी, गुरुकुल कांगड़ी), कपूरथला के लाला शरणामल इत्यादि ने भी हिस्सा लिया।

प्रश्न तो पहिले से ही हो रहा था, किन्तु जब लाला देवराज जी चले गए तो सभासदों को और भी अधिक जोश आया। २ फाल्गुन संवत् १९४५ (१४ फरवरी सन् १८९८) की हिस्सेदारों की बैठक हुई। कपूरथले से लाला गोविन्द सहाय को बुलाया गया था, इन्हीं के द्वारा प्रेस आदि का सौदा हो रहा था। उसी शाम को सब कुछ निश्चित होकर गोविन्द सहाय जी को ५० रुपये बयाना दिया गया।

निश्चय यह हुआ कि प्रेस का नाम सद्धर्म प्रचारक रखा जाय और प्रथम वैशाख सवंत् १९४६ विक्रमी से 'सद्धर्म प्रचारक'

नामी डेली छोटे आठ पृष्ठों का एक 'उर्दू' साप्ताहिक पत्र निकालना शुरू किया जाए। लाला देवराज और मैं सम्पादक नियत हुए। कचहरी में प्रकाशन (डिक्लेरेशन) देने का काम मेरे सुपुर्द हुआ इसलिए मैं ही मैनेजर नियत हुआ।

अखबार की नीति के विषय में बड़ा झगड़ा पड़ा करता है। उसका फैसला यह हुआ कि सारी नीति का निर्भर सम्पादकों पर रखा जाए। उसमें कोई भी हिस्सेदार हस्तक्षेप न करे। यह सब बातें तय करके ४ फाल्गुन (१६ फरवरी) को मैंने यन्त्रालय तथा पत्र की नीति आदि के विषय में एक लेख लिखा। प्रेस आदि के आने पर वहीं छपाई का पहिला नमूना था, जो हमने सर्व साधारण के सामने रखा। मैंने उस लेख की बहुत ढूंढ़ की किन्तु वह कहीं भी न मिला। इसमें शक नहीं कि 'सद्धर्म प्रचारक' मैं मैंने प्रचारक की भविष्य नीति तथा उद्देश्य लिख दिए थे। परन्तु पहिले विज्ञापन में कुछ अधिक शब्द होंगे क्योंकि जब चैत्र के उत्तरार्द्ध (मार्च के अन्त व अप्रैल के प्रारम्भ) में विज्ञापन बांटने के लिए मेरे साथ फीरोजपुर के जल्से पर गये तो उन्हें पढ़ते ही लाला साई दास जी ने जालन्धरियों को एक्सट्रीम रेडिकल पार्टी (गरम उदार दल) की उपाधि दे दी थी।

जब से प्रेस खोलना निश्चित हुआ तभी से मैंने स्वाध्याय की ओर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया। रात को डेढ़ व दो घंटे पश्चिमीय विद्वानों के ग्रन्थ पढ़ता। उन दिनों हर्बर्ट स्पेन्सर के ग्रन्थों के अतिरिक्त ड्रेपरक्रर कनफ्लिक्ट बिट्वीन रेलिजन एण्ड साइन्स, वेनकृत एजूकेशन एज ए साइन्स, गोबोकृत हिस्टरी ऑफ सविजिजेशन, ल्यालकृत एशियाटिक स्टडीज आदि तथा इसी प्रकार की अन्य २० से अधिक पुस्तकें छः मास में पढ़ी और प्रातःकाल १ घंटे तक सत्यार्थप्रकाश और वेदभाष्य का स्वाध्याय होता। पहले पढ़ी हुई लघुकौमुदी की पुनरावृत्ति भी आरंभ हुई। यही कारण था कि जब संवत् १६४२ (सन् १८८५) के पश्चात् पहिली बार लाला लाजपतराय ने मेरा व्याख्यान फीरोजपुर आर्य समाज के जल्से पर सुना तो पूछा था 'यह इतनी उन्नति संस्कृत में कब की?'

प्रेस जब दो सालों से अधिक घाटे पर चला और १५ रुपये प्रति हिस्सा बढ़ा देने पर भी घाटा रहा और रामकृष्ण जी से व्यवहार-निपुण को प्रबन्ध का कार्य देने पर भी प्रेस चलने की कोई सूरत दिखाई न दी तो हिस्सों का रूपया मैंने दे दिया और प्रेस का स्वतंत्र स्वामी बन गया। यह बात मैं भूला नहीं कि कुछ हिस्सेदारों ने अपने हिस्से के रुपये मुझ से वापिस नहीं लौटाये।

'प्रचारक' का आर्य-सामाजिक-जगत् पर क्या प्रभाव रहा? इसने वैदिक धर्म की क्या सेवा की? सदाचार के फैलाने में इसने क्या भाग लिया? और समाचार पत्रों की लेख शैली के संशोधन का इसने कितना नाम किया? इसका इतिहास कोई सद्धर्म-प्रचारक के ऐसे ही प्रेमी लिख सकते हैं जिन्होंने पहले अंक से अब तक के सब अंक सुरक्षित रखे हैं।

सद्धर्म-प्रचारक यंत्रालय खुलने के दिनों आलस्य का नाम न था। पहिले तो हमेशा किसी न किसी की शंकाओं का समाधान करता फिर कोई ऐसी सभा (आर्य-सामाजिक व अन्य) न थी जिसकी बैठक में सम्मिलित न होता। प्रातः सायं के स्वाध्याय का वर्णन कर ही चुका हूं और इन कामों के साथ ही एक बाल विधवा के विवाह की भी चिन्ता थी, उसके लिए भी यत्न होता। २२ फाल्गुन (६ मार्च) की डायरी में लिखा है "कचहरी से लौटकर देवराज जी के यहां गया और उन्हें ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का एक कठिन स्थल समझाया। यहां से लौटती बार एक घंटा समाज मन्दिर में ठहरा, जहां परमात्मा और जीवात्मा के स्वरूप-भेद पर दो भाइयों को उपदेश दिया। फिर ब्रह्मचारी मुनि ऋषि को आध घंटा पढ़ाकर धर्म-सभा के जलसे में गया। वहां व्याख्यानों में वेद की महिमा का ही वर्णन था, कोई पंथाई झगड़ा न था। जालन्धर आर्य समाज के निशपक्ष भाव का प्रभाव पौराणिकों पर भी पड़ रहा है। धर्म सभा-मन्दिर से अपने निवास-स्थान को गया जहां मेरी संध्या में पण्डित बुड्ढामल नूरमहल के बड़े साहूकार सम्मिलित हुये। यह वृद्ध महाशय ऐसे प्रभावित हुए कि अग्निहोत्र में भी भाग लिया। चलते हुए ५० रुपये हमारी भावी पुत्री पाठशाला को दान दे गये। सत्यार्थ प्रकाश के स्वाध्याय के पश्चात् मैं ६ बजे सोने की तैयारी कर

रहा था कि मेरे बुलाये हुए रलाराम अपील—नवीन टाण्डा से पधारे और उन्होंने साखीराम साहूकार की बाल विधवा पुत्री से मेरे समझाने पर विवाह करना स्वीकार किया।"

होली की छुट्टी पर समाज-मन्दिर में हवन आदि के पश्चात् सहभोग हुआ। कपूर्थले के लाल धूमामल भी सम्मिलित थे। उपदेशकों का अभाव अनुभव करके इस समय निश्चय हुआ कि जालन्धर आर्य समाज की ओर से एक उपदेशक पाठशाला खोली जावे। मैं तो पहिले ही ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द तथा ब्रह्मचारी मुनि ऋषि को पढ़या करता था। मैंने भी इस भावी उपदेशक विद्यालय का एक अवैतनिक अध्यापक बनना स्वीकार किया। यह उपदेशक विद्यालय कुछ दिनों ही चल कर बन्द हो गया।

कन्या गुरुकुल की धुन

सद्धर्म प्रचारक के दूसरे अंक से ही मेने एक लेखमाला का आरम्भ कर दिया था। जिसका शीर्षक था "अधूरा इन्साफ (न्याय)" इस लेखमाला में मैंने स्त्रियों को सुशिक्षिता होने का पुरूषों के साथ समानाधिकार जतलाते हुए लिखा था— 'स्त्री को आत्मिक विद्या का वैसा ही अधिकार है जैसा पुरूषों को, इसलिए जिस प्रकार पुत्रों का, पवित्र वेद की आज्ञानुसार, पहले छोटी आयु में माता पि.।। का अधिकार है कि शिक्षा दें और जब यज्ञोपवीत संस्कार हो जावे तो तत्काल ही लड़का गुरूकुल में भेजा जाना चाहिए, वेसे ही लड़कियों के साथ भी बर्ताव होना चाहिए।' उस समय मैं दयानन्द एंग्लो वैदिक कालिज को ही पुरूषों के लिए गुरुकुल समझता था इस लिए कन्या गुरुकुल को स्थापित करने के लिए फिरोजपुर की पुत्री पाठशाला को उन्नत करने का प्रस्ताव मैंने पेश किया थां उन्हीं दिनों कण्टक निवासी लाला धनपतराय ने मेरे लेख पढ़ कर अपनी पुत्री भगवानदेवी का स्वयंवर रचाने का नोटिस दिया था और फिरोजपुर की पुत्री पाठशाला के साथ आश्रम खोलने का विचार भी उठा था। आन्दोलन तो इन विषयों पर बहुत हुआ किन्तु जहां कुमारी भगवानदेवी के स्वयंवर का शोर मच कर अन्त को एक ब्राह्मण देवता की कृपा से कुमारी जी का विवाह एक सन्तान रखने

वाले धनाढ्य रंडवे के साथ हो गया वहां फीरोजपुर का प्रस्तावित आश्रम कन्या का आभास मात्र भी न बन सका।

सत्यार्थ प्रकाश की कथा

जहां धर्म–प्रचार के लिए इन दिनों मैं बाहर जाया करता था यहां अपनी जाति की प्राचीन कथा–विधि को पुनर्जीवित करने का विचार भी मेरे अन्दर काम करने लगा। १० ज्येष्ठ संवत् १९४६ (२४ मई सन् १८८३) से सूदों के चौक में सत्यार्थ प्रकाश की कथा का आरम्भ किया गया। जब पहिले दिन कथक्कड़ बनकर मैं आसन पर बैठा और कथा शुरू की तो केवल २०, २५ आर्य भाई ही मेरे सामने बैठे हुए थे। बाजार का चौगान बड़ा था इस लिए दूकानें दूर– दूर थीं। दूकानदार दूकानों पर हुक्के गुड़गुड़ाते रहे और हमारी दरी पर न आये, किन्तु जब मैंने ऊंचे स्वर से वेद मन्त्रों को पढ़ कर उनकी व्याख्या पंजाबी बोली में आरम्भ की तो शनैः शनैः गुड़गुड़ी हाथ में लिए बहुत से लाला लोग मेरे समीप आ बैठे। दूसरे दिन उपस्थिति सौ के लगभग और चार दिनों के पीछे दो ढाई सौ तक पहुंच गई। लोग बड़ी श्रद्धा से हमारी धर्मकथा सुनने लगे और हुक्का आदि का उस स्थान में लाना बन्द कर दिया इस प्रकार एक मास से अधिक कथा की शृंखला चल कर बन्द हो गई। मुझे एक कार्य विशेष के लिए अपने ग्राम में जाना पड़ा। पीछे पण्डित जी ने ईश्वर प्रार्थना ही चलाई थी कि आंधी आ गई और तब श्रोतागण उठ खड़े हुए। बस फिर लौटने पर कुछ न बन सका। वर्षा ऋतु भी आ गई थी, जिसके कारण बाहर बैठना कठिन हो गया।

एक आर्य वीर परीक्षा में

जिस चौक सूदों में कथा होती थी वहीं जालन्धर आर्य सभा के मन्त्री की दूकानें थीं। उनकी दूकान लाला शालिग्राम आर्य के भाइयों के पास किराये पर थीं। धर्म सभा के मन्त्री का नाम लाला वसन्तराम था। उन्होंने भण्डारी जी के भाइयों से कहा कि यदि वे अपने भाई को आर्य समाज से अलग न कर लेंगे तो उनसे दूकान छीन ली जायेगी। भाइयों ने मिन्नतें की,

समझाया कि आर्यसमाज में जाना छोड़ देवें, परन्तु बहादुर शालिग्राम ने एक न सुनी। घर छोड़ कर समाज मन्दिर में डेरा लगाया परन्तु फिर भी निर्दयी धर्मसमाजी ने तो समझा था कि जब अपनी पैंठ की दूकान अलग लेंगे तो इनका अनाज न बिकेगा और यह सब भूखों मरेंगे परन्तु मारने वाले से रक्षा करने वाला ज्यादा बलवान् होता है। उस समय न बिका हुआ गेहूं कुछ दिनों के बाद बड़े मंहगे भाव बिका और शालग्राम के भाइयों को दुगना लाभ हुआ जिससे उनकी श्रद्धा भी आर्य समाज और वैदिक धर्म पर बढ़ गई।

जिन दिनों भण्डारी जी घर छोड़ कर आर्य समाज मन्दिर में आ टिके थे उन्हीं दिनों से इनके अन्दर देवनागराक्षर और संस्कृत भाषा जानने का अनुराग अधिक हो गया। मुझ से आर्य सिद्धान्तों के विषय में वे ऐसे प्रश्न किया करते जिनसे मुझे अपनी डायरी में यह लिखना पड़ा कि इन्हें व्याख्यानदाता बनने का बड़ा चाव हैं और संस्कृत का शौक ऐसा दृढ हुआ कि शायद बीस बार संस्कृत व्याकरण को छोड़ कर फिर से घोटना आरम्भ किया।

श्री पूर्णानन्द जी का प्रवेश

श्री पूर्णानन्द जी भी आर्य समाज में उन्हीं दिनों प्रविष्ट हुए। किस प्रकार अपने देश सिन्ध से लड़कपन में ही ये निकले, किस प्रकार साधु बेश में विद्या प्राप्ति का प्रयत्न करते रहे और अन्त को किस प्रकार यह जालन्धर पहुंच कर वहां के प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित देवीचन्द्र जी से विद्याध्ययन करने लगे, इन सब प्रश्नों का उत्तर पण्डित पूर्णानन्द जी ने पीछे दिया। मैं केवल इतना ही जानता हूं कि जब आर्य समाज जालन्धर शहर का पहिला वार्षिकोत्सव मनाया जा रहा था तब मैने एक युवक साधु को दीवार पर लगे वेद मन्त्रादि की अशुद्धियों पर कटाक्ष करते देखा। पूछने पर पता लगा कि इस युवक साधु का नाम 'टीकमानन्द' है। जालंधर की पढ़ाई से असन्तुष्ट होकर इस युवक साधु ने काशी का रास्ता लिया। वहां वैशाख संवत १९४६ के उत्तरार्द्ध (सन १८८९ के मई मास के आरम्भ) में आर्य

समाज के उपदेशक स्वामी रामानन्द जी का व्याख्यान काइकल लाइब्रेरी हाल में सुन कर साधु टीकमानन्द ने वैदिक धर्म ग्रहण किया। इससे पहिले कई साधु आर्य समाज में सम्मिलित हुए परन्तु किसी ने भी आर्ष ग्रन्थों के पठन पाठन में अधिक रूचि न दिखाई थी। इस नये साधु ने मत परिवर्तन करते ही स्वामी रामानन्द से प्रार्थना कि वे उसकी पढ़ाई का प्रबन्ध कर दें। स्वामी रामानन्द ने टीकमानन्द को पूर्णानन्द तो बना दिया किन्तु उनके आर्ष ग्रंथ पढने का काशी में प्रबन्ध न करा सके। तब आर्य समाजों में उपदेशक विद्यालय खोलने का आन्दोलन करते हुए दोनो सन्यासी महोदय ज्येष्ठ के आरम्भ में जालन्धर पहुंचे और ३ ज्येष्ठ(२७ मई) के सायं काल दानों के व्याख्यान आर्य समाज मन्दिर में हुए।

उपदेशक क्लास का झगड़ा

जब १६ वैशाख संवत १६४६ (२ मई सन् १८८६ ई०) को स्वामी रामानन्द जी अपने नये शिष्य पूर्णानन्द जी को लेकर जालन्धर आये थे तब उन्हीं दिनों वहां "द्वाबा उपदेशक मण्डली" खोलने का विचार पक्का हो चुका था इस मण्डली के दो विभाग सोचे गये थे– एक 'संगीत–मण्डली' और दूसरी 'उपदेश मण्डली' १३ ज्येष्ठ (२७ मई) को स्वामी रामानन्द ने बाल सन्यासी टीकमानन्द के 'पूर्णानन्द बनने का हाल सुनाया और पूर्णानन्द जी ने भी कुछ कहा। स्वामी रामानन्द ने काशी में उपदेशक पाठशाला खोलने का विचार प्रकट कर मुझ से सहायता मांगी। मैंने उन्हें कहा कि काशी तो पौराणिकों का गढ़ है, उपदेशक पाठशाला का चलना कठिन है, क्यों न लाहौर में प्रयत्न किया जाय जहां दयानन्द कालिज से भी अच्छी सहायता मिल सकती है। स्वामी रामानन्द जी को मेरी सम्मति पसन्द आई और वह लाहौर चले गए। वहां पण्डित गुरुदत्त जी तथा उनके सहायकों ने भी सम्मति दी और उपदेशक क्लास की अपील पर अपने हस्ताक्षर कर दिए। स्वामी रामानन्द जी पूर्णानन्द जी को लेकर ५ आषाढ़ (१६ जून) की दोपहर की रेल से मेरे पास लौट आये। स्वामी रामानन्द जी तो चन्दा जमा करने चल दिए किन्तु पूर्णानन्द जी को सन्तोष न हुआ। व एक दिन भी व्यर्थ गंवाना

नहीं चाहते थे। उसी समय पता लगा कि स्वामी पूर्णानन्द जी के एक पुराने परिचित विद्वान कपूर्थले में पढाया करते है। स्वामी पूर्णानन्द जी पढ़ने के लिए उन्हीं के पास जाने को तैयार हो गये। इस सम्बन्ध में १७ आषाढ़ १६४६ के सद्धर्म प्रचारक में जालन्धर का निम्न समाचार निकला था– स्वामी रामानन्द जी होशियारपुर २१ जून के प्रातः उपदेशक क्लास के आन्दोलन के लिए गये थे, वहां से लौट कर २५ जून को लाहौर चले गए। अब तक ३० रु० मासिक चन्दा लिखा चुके हैं। ईश्वर कृतकार्य करें स्वामी पूर्णानन्द जी जालंधर समाज की ओर से दर्शनों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए कपूर्थले भेजे गये।"

पाठक काषाय–वस्त्रधारियों में स्वामी और साधू का भेद देख कर कुछ विस्मित होंगे। परन्तु उस समय, न जाने क्यों, जहां पुराने प्रविष्ट भगवेपोशों को आर्य समाज में स्वामी की उपाधि मिलती थी वहां नयों को साधु ही कहा जाता था। साधु पूर्णानन्द जी जब सान पर चढ़ कर इस्पात सिद्ध हुए तो उन्हें भी श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ही कहा जाने लगा।

जिनके टेढे प्रश्न पर उपदेशक क्लास का आन्दोलन आरम्भ हुआ वह तो विद्याध्ययन के लिए अलग जा बैठे और सारा बखेडा मेरे गले पड़ गया। उन दिनों पण्डित गुरूदत्त जी लाहौर की सामाजिक व्यवस्था से अप्रसन्न थें। एक ओर तो उनकी यह शिकायत थी कि दयानन्द कालिज के बोर्डिंग हाउस में मांस का बाबरचीखाना है और दूसरी ओर राय मूलराज से वेदों और वेदकर्ता परमात्मा तक को जबाब देने वाले आर्य समाज के अगुआ बने हुए है। उन दिनों राय बहादुर नारायणदास एम० ए० पण्डित गुरुदत्त के अनन्य भक्त थे, उन्ही की चेष्टा पर भक्त ईश्वरदास एम० ए० के स्थान में एक सम्मेलन हुआ जिसमें पिण्डत गुरुदत्त जी ने स्पष्ट शब्दों में उपर्युक्त विषयों पर अपनी सम्मति प्रकट कीं विस्तार पूर्वक सम्मेलन का वर्णन उचित स्थान पर होगा, यहां जतलाने से यह तात्पर्य है कि पण्डित गुरुदत्त से राय मूलराज के सब अनुयायी उपर्युक्त कारण से रूष्ठ हो चुके थे। इस लिए जब उपदेशक क्लास के आन्दोलन को दयानन्द कालिज के अधिकारियों ने टाला और

मैंने अपनी स्वतन्त्र सम्मति से प्रचारक में लिख दिया कि जब तक दयानन्द कालिज कमेटी उपदेशक क्लास को अपने अधीन खोलना स्वीकार न करे तब तक उक्त कार्य के लिए धन श्री पण्डित गुरुदत्त के पीछे हाथ धोकर पड़ गए। कभी गुरुडम की बुनियाद डालने का दोष उन पर लगाया, कभी कालिज की प्रिंसिपलशिप का अभिलाषी उन्हें बतलायां तात्पर्य यह कि जितने मुंह उतनी बातें पण्डित गुरूदत्त के सम्बन्ध में गढ़ी जाने लगी।

पण्डित गुरुदत्त तो अपनी प्रकृति के अनुसार इन सब लांछनों का उत्तर मौन साध कर देते थे, किन्तु मुझे उचित उत्तर देने के लिए बाधित होना पडा।

तीन वर्षो तक यह झगड़ा खूब चला, जिसका वृतान्त प्रचारक के १,२,३ भागों में बड़ा ही शिक्षाप्रद है। आर्य समाज में घरू युद्ध का यह प्रस्ताव मात्र था और इसलिये जब आर्य समाज का इतिहास की पूर्ति में बड़ी सहायता देगी।

यहां पर स्वामी रामानन्द जी के विषय में इतना ही लिखकर समाप्त करता हूं कि उपदेशक क्लास के लिये बहुत साधन एकत्र करा तथा पर्याप्त मासिक लिखाने के पश्चात् उक्त स्वामी जी बीमार हो गये। उनकी अवस्था ऐसी बिगड़ गई कि सिविल सर्जन ने भी रोग असाध्य कह कर इलाज छोड़ दिया, तब मेंरे मित्र राजकुमार जनमेजय के पुराने हकीम शेरअली के इलाज से स्वामी जी उठ बैठें इसी इलाज के कारण मैंने पूर्ण श्रद्धा से हकीम शेरअली को भी पण्डित गुरुदत्त जी के इलाज के लिये भेजा था जिसका आश्चर्यमय वर्णन आगे आवेगा। स्वामी रामानन्द जी बीमारी की खटिया से उठकर जो गये तो फिर मुझे उनके दर्शन ही न हुऐ।

पण्डित गुरुदत्त के अन्तिम दिवस

संवत् १९४६ का बड़ा भाग मैंने पण्डित गुरुदत्त जी के सत्संग तथा दूर से ही उनकी सेवा में बिताया। मैं लिख चुका हूं कि श्रद्धालु भक्तों ने श्रद्धा सम्पन्न गुरुदत्त को दिन रात घेरकर उनके स्वास्थ्य को बिगाड़ दिया था। साथ ही विरोधी लोग मांस का झगड़ा छेड़कर अहिंसक गुरुदत्त को बड़ा कष्ट देते थे और वह सब कुछ सहते थे।

इस सम्बन्ध में एक कहानी बड़ी मनोरंजक है जिससे गुरुदत्त की अपूर्व वाक् चातुरी का पता लगता है। एक बार एक एम० ए० महाशय जो एक बडे सरकारी पदाधिकारी थे और साथ ही प्रेमचन्द स्कालर भी, पण्डित गुरुदत्त के पास आकर बोले – "पण्डित जी आयुर्वेद का क्या बनाओगे ! सुश्रुत में तो मांस भक्षण की खुली आज्ञा है।" उत्तर मिला–"कुछ है तो , परन्तु क्या आप सुश्रुत के उपदेशानुसार आचरण करोगे ?" एम०ए० महाशय चकित होकर पूछने लगे " क्या आप मांस भक्षण को ठीक मानने लग गये ?" उत्तर मिला–" मै ठीक मानने लगा या नही, इससे कुछ प्रयोजन नहीं। परन्तु यदि मांस खाना हो तो उत्तम ही खाना चाहिए। तो सबसे उत्तम मांस मनुष्य का ही है। मनुष्यों में से भी यदि एम० ए० का हो तो अत्युत्तम और फिर प्रेमचन्द स्कालर का कहीं मिल जाय, तो सोने पर सुहागा। अतीव उत्तम भोजन होगा।" एम०ए० महाशय नमस्ते कह कर रफूचक्कर हो गए।

उन दिनो एक ओर तो पण्डित गुरुदत्त को क्षय रोग का प्रारम्भ था और दूसरी ओर उनके विरूद्ध विचित्र प्रकार के प्रवाद फैलाये जा रहे थे। कभी कहा जाता कि वह दयानन्द कालिज के प्रिंसिपल पद के अभिलाषी हैं, कभी कहा जाता कि भगवे धारण कर लिये है और गुरु बनना चाहते है, कभी यह गप्प उडाई जाती कि वह सारे उपदेशकों को वश में करके मनमानी चलाना चाहते हैं,। बड़ी बात यह थी कि जिन लाला साईदास जी ने बडे यत्न से गुरुदत्त को आर्य समाज का रत्न बनाया था, जिनका सचमुच गुरुदत्त के साथ पिता पुत्र का सम्बन्ध था, उनको लोग बराबर भड़काते थे। एक बार शायद ज्येष्ठ १९४६के अन्त में लाहौर पहुंच कर यह बातें सुनी। पण्डित गुरुदत्त जी के पास गया और अपनी प्रकृति के अनुसार उनसे सीधे प्रश्न पूछे। मुझे वे प्रश्नोत्तर अभी तक याद है।

मैं, "पण्डित जी ! यह आपके प्रति क्या जनश्रुतियां फैल रही है ? लोग कहते है कि आप दयानन्द कालिज के प्रिंसिपल के अभिलाषी है और मुझे कालिज कमेटी के एक अधिकारी ने बतलाया है कि आपने कालिज के प्रोफेसर पद को इसलिये स्वीकार नही किया कि आप प्रिंसिपल बनना चाहते है।"

पं० जी– "मेरी तो कोई अभिलाषा प्रिंसिपल बनने के नही। जिस कालिज के लिये मैंने स्वयं धन दिया और भिक्षा मांगी उससे वेतन कैसे लूं ? मुझे निकम्मा समझ कृपा करके अधिकारियों ने साइन्स का प्रोफेसर बनाना चाहा था। मैंने उत्तर दिया कि वेतन लेकर तो काम करूंगा नही – हां ,दो तीन धण्टे वैसे ही पढ़ा दिया करूगां परनतु साइंस नहीं प्रत्युत वेद। उन्होंने मुझ से वेद पढ़वाना माना नही और बात समाप्त हो गई।" उसी समय मास्टर दुर्गाप्रसाद जी आ गये जिन्होंने बतलाया कि पंडित गुरुदत्त को पता नही है परन्तु उन्होंने (मास्टर दुर्गाप्रसाद) एवं लाला लालचन्द जी ने प्रधान से कहा था कि वैदिक कालिज का प्रिंसिपल वेद का जानने वाला ही होना चाहिये । फिर मैंने पूछा –"क्या आपने संन्यासियों का वेष धारण कर लिया है ?" उत्तर मिला–"अब धन तो पास है नहीं और गर्मियों के दिन है, धोबी को बहुत पैसे क्यों दू ? मैंने घर पर पहिनने का कुर्त्ता रंग लिया है जिसे नित्य धो लेता हूं।" मैंने फिर पूछा –"यह बहुत से भगवे पोश चेले क्यों मूंडे है ?" इस पर पण्डित जो कुछ दु:खी हुए और बोले –"मुन्शीराम जी ! यह सन्यासी महात्मा सब मेरे गुरू हैं। इनके विषय में ऐसा प्रवाद सुनकर मुझे खेद होता है।"

गुरुदत्त जी के पास होकर मैं लाला साईदास जी की सेवा में गया और उनको सब कुछ सुनाया। फिर मेंने कहा "लाला जी ! गुरुदत्त आपके पुत्रवत् हैं। पिता पुत्र में लोग तो द्वेष फैलाने का प्रयत्न करते हैं, आप क्यों नहीं स्वयं गुरुदत्त से स्पष्ट बातचीत करते।" श्री लाला साइदास जी को मेरी बात पंसद आई और वह मेरे साथ पंडित गुरुदत्त के मकान को चल दिएं यदि उस दिन पंडित गुरुदत्त घर होते तो शायद आर्य समाज का इतिहास भी बदल जाता, परन्तु वह बाहर भ्रमण को चले गए थे। मैं जालन्धर को चला आया और जब दूसरी बार लाहौर गया तो रोगी गुरुदत्त, मित्रों के अनुरोध पर मरी पर्वत पर सरदार उमराव सिंह मजीठिया के अतिथि बन कर चले गये।

पण्डित गुरुदत्त की अकाल मृत्यु

मरी पर्वत से, हितैषियों के रोकते हुए भी, पण्डित गुरुदत्त अपने प्रिय समाज में से एक के वार्षिकोतसव में सम्मिलित हुए।

ऐसे कर्मवीर के लिए विश्राम के कुछ अर्थ ही न थे। पेशावर से अधिक बीमार होकर लाहौर लौटे। तब मुझे पण्डित गुरुदत्त के दर्शन लाहौर आर्य समाज के उत्सव पर हुए। इन्हीं दिनों मैं दयानन्द कालिज कमेटी का भी अधिवेशन हुआ करता था। और किसी कार्य में तो पण्डित जी सम्मिलित न हो सके, केवल कालिज कमेटी के उत्सव पर पहुंचे। अभी अधिवेशन आरम्भ होने में देर थीं, पण्डित गुरूदत्त निर्बलता के कारण बेंच पर लेट गयें उसी वर्ष से दयानन्द कालिज में आर्ष ग्रन्थ की शिक्षा पर बल दिया जाने लगा था।

यह पहिला वर्ष था, जब लाहौर आर्य समाज के उत्सव की वेदी वेदज्ञ गुरूदत्त की विद्यमानता से वंचित रही। पण्डित गुरुदत्त का स्थान लाला लाजपतराय ने लिया और व्याख्यानों का क्रम ही बदल गयां इसके पश्चात् पण्डित गुरुदत्त का रोग बढता गयां पण्डित जी अपने पूर्ण भक्त रामनारायण दास जी के यहां गुजरांवाले पहुंच गये। डाक्टर फतहचन्द सिविल सर्जन बडे योगय वैद्य समझे जाते थे, उन्हीं की कोठी में पण्डित गुरूदत्त की चिकित्सा शुरू हुई। डाक्टर फतहचन्द ने बड़ी सेवा की , भोजन तक अपने हाथ से बना कर खिलाया, परन्तु रोग का पता न लगां तब लाहौर मेडिकल कालेज के प्रसिद्ध डाक्टर मलरोनी को बुलाया गया पण्डित गुरुदत्त ने पहिले उन्ही की परीक्षा लेनी आरम्भ की और जब उनकी योग्यता पर विश्वास हो गया तो विश्वास पूर्वक उनसे शरीर परीक्षा कराई । डाक्टर मलरोनी की सम्मति में क्षय रोग न था। परन्तु उन्होंने यह कहा—"गुरुदत्त का मस्तिष्क दिन रात काम करता है। ऐसा उद्योगी पुरुष मैंने कभी नहीं देखा। यदि उनको स्वस्थ करना हो तो किसी ऐसे वायु मण्डल में ले जाओ जहां मस्तिष्क काम करना ही छोड़ दे।" आर्य पुरुष यह सुनकर प्रसन्न तो हुए कि क्षय रोग नहीं, परन्तु डाक्टर मलरोनी की चेतावनी पर किसी ने भी ध्यान न दिया।

संवत् १९४६ के अन्त तक मैं पण्डित गुरुदत्त की शारीरिक अवस्था के कारण कोई और काम न कर सका। लाहौर में पहुंचते ही जालन्धर से हकीम शेर अली को इलाज के लिए

भेजा गया था। उनकी औषध का अद्भुत चमतकार, पंडित गुरुदत्त की जालन्धर के लिए तैयारी, कुपथ्य के कारण फिर बीमार होना, फिर पण्डित जनार्दन की चिकित्सा और उससे निराश होकर फिर अंग्रेजी इलाज, रोग का भयानक रूप धारण करना और "शान्ति सरोवर में स्थान" की उत्कण्ठा पूर्वक विद्या तथा बुद्धि के अवतार गुरुदत्त का प्राण त्याग करना, ऐसी घटनाएं हैं जिनका वर्णन हो नहीं सकता यद्यपि पण्डित गुरुदत्त का जीवन लिखा जा चुका है परन्तु उनके पवित्र जीवन से जो शिक्षा ली जा सकती है उसका अन्तरीय सार अब तक सर्व–साधारण के सामने नहीं आया। वह सार सर्वसाधारण के सामने रखा हुआ, निस्सार ही सिद्ध होगा क्योंकि ऐसे महान् आत्मा के साथ सम्बन्ध हुए बिना उनके जीवन का वास्तविक रहस्य प्रकट नहीं होता।

पण्डित गुरुदत्त को तीन आर्य समाजों से बड़ा प्रेम था पेशावर, क्वेटा और जालन्धर। तीनों से प्रेम का प्रेरक कारण एक ही था। तीनों आर्य समाज में सभासदों के सदाचार पर बल दिया जाता था। पण्डित गुरुदत्त की मृत्यु ५ चैत्र संवत् १६४६(६ माच्र १८६०) के दिन हुई। ११ चैत्र १६४६ (१५ मार्च १८६०)के प्रचारक में लिखा है– "क्वेटा आर्य समाज की योग्य अन्तरंग सभा ने निश्चय किया है कि आगे के लिए मद्य मांस का सेवन करने वालों को समाज की सभासदी में न लिया जाय और वर्तमान सभासदों को नोटिस दिया गया है कि १ जुलाई तक इन नियम विरुद्ध आचरणों से मुक्ति लाभ करें। क्वेटा समाज की वह स्पिरिट सराहनीय है। अन्य आर्य समाजो को भी इसका अनुकरण करना चाहिए।"

पेशावर आर्य समाज में सदाचार पर इतना बल था कि यदि कोई सभासद् निर्बलता के कारण आचार में शिथिल हो जाता तो आज कल की तरह कुछ लुंगाडे साथ मिला कर भले मानसों की पगड़ियां उतारना शुरू न कर देता, प्रत्युत प्रार्थना पत्र पेश कर देता कि जब तक वह नियम पालन में दृढ न हो जाय उसका नाम चन्दा देने वाले सहायकों में लिखा जाय; और जालन्धर आर्य समाज में तो नव प्रविष्ट आर्य की दस महीनों तक परीक्षा करके उसे आर्य सभासद् बनाया जाता था।

पण्डित गुरुदत्त के कार्यों का वर्णन इस लेखमाला में आगे भी कभी कभी आयेगा। परन्तु उनकी योग्यता का दृष्टान्त देना यहां आवश्यक है। अपनी मृत्यु के एक वर्ष पहिले तक पंडित गुरुदत्त ही दयानन्द कालिज के लिए धन एकत्र करने के अद्वितीय साधन थे और इस कालिज की उन्नति का बड़ा आधार उन पर था। परन्तु आज उस संस्था में उनका नाम लेवा भी कोई नहीं। किन्तु एक काम है जिस पर से गुरुदत्त का नाम मिटाने की शक्ति किसी व्यक्ति में नहीं है। वह वैदिक मैगजीन के तीन अंकों के लेख है जिन्होंने फ्रांस और इंगलैंड में हलचल मचा दी थीं जब जीवात्मा विषयक उनका पहिला लेख निकला था तब जालन्धर के बड़े योग्य अंग्रेजीदां लोगों को भी उसके समझने के लिए चार–चार बार उस लेख की आवृत्ति करनी पड़ी थी और अब तक योरुप और अमेरिका के आर्य समाज के उच्च विचार फैलाने का गुरुदत्त के लेखों के अतिरिक्त अन्य कोई साधान नहीं है। जो उपनिषद् व्याख्या का क्रम पण्डित गुरुदत्त ने अग्रेजी में आरम्भ किया था उसकों भी आगे ले जाने वाला कोई उत्पन्न न हुआ। वैदिक मेगजीन का नाम मात्र के लिए पुनरूज्जीवन किया गया, परन्तु उसे सचमुच वेदों का प्रचारक बनाने में अभी बड़ी मन्जिलें बाकी हैं।

एक वर्ष की कठिन परीक्षा

पण्डित गुरुदत्त की मृत्यु से पहले ही मेरी धार्मिक परीक्षा आरम्भ हो गई थी। स्त्री शिक्षा के भक्त लाला देवराज के बड़े भाई श्री बालकराम जी मेरे बड़े मित्र थे। इसका कारण शायद यह भी था कि मेरी धर्मपत्नी को उनके सब भाईयों में से यही अधिक प्यार करते थे जिन निर्बलताओं में बालकराम जी के साथ मैं सहकारी रह चुका था उनमें स्वयं मुक्त होने पर मैं उनको भी मुक्त कराना चाहता था इस लिए उनसे बड़ा गाढ़ा संबंध था। संवत् १९४६ का श्रावण मास मेरे लिए बड़ा कष्टदायक सिद्ध हुआ। एक ओर तो प्रस्तावित उपदेशक श्रेणी के झगड़ों को सामने रख कर पण्डित गुरुदत्त के विरोधी उन पर कटाक्ष करते थे जिसका अज्ञात साधन वे मुझे बना लेते थे। मैंने कहीं लिख दिया कि जब तक कालिज श्रेणी का खोलना दयानन्द

कालिज कमेटी व आर्य प्रतिनिधि सभा नियम पूर्व स्वीकार न कर ले तक तब उक्त श्रेणी के लिए धन पण्डित गुरुदत्त के पास भेजा जाय। फिर क्या था, शोर मचा कर आकाश और पाताल एक कर दिया गया। मनुष्य पूजा की बुनियाद पड़ रही है, गुरुडम की आधार शिला रखी जा रही है—इत्यादि। यह कोलाहल वे लोग मचाते थे जो सब संस्थाओं को अपने स्वार्थ का साधन बनाने का प्रयत्न कर रहे थे और उन्होंने संगठन के सब नियमों को पांव तले रौंद डाला था।

दूसरी ओर उस महीने अनावृष्टि के कारण गर्मी बहुत पड़ी। मुझे अच्छी तरह याद है कि उस श्रावण की तीन चार रातें ऐसी भयानक व्यतीत हुई कि नगर की धनी बस्ती से व्याकुल होकर मेरे कई मित्र खुले अहाते में आते और रात को दो-दो बार मेरे ठण्डे पानी के कूप पर स्थान करने के लिए डोल को खटखटाते रहते।

ऐसी अवस्था में प्रचारक का सम्पादन तथा साथ ही आर्य समाज का अन्य कार्य और इस पर इमारत बनने के कारण धन कमाने की आवययकता कचहरी को घसीट रही थी और सब से बढ़ कर हैजे का आक्रमण, विचित्र दशा हो रही थी। यह अवस्था थी जब श्रावण के अन्तिम दिवस १४ अगस्त १८८६ ई. की रात को लाला बालकराम का देहान्त हो गया। आर्य समाज जालन्धर ने आनावृष्टि के चिन्ह देखते ही बड़े-बड़े यज्ञों पर बल दिया था। बजाजे वाले बड़े चौक में जिस दिन हवन हुआ उस दिन पूर्णाहुति पड़ते ही, मूसलाधार वर्षा होने लग गई। हम लोगों ने उठ कर शामियाने के बीच में बांस की चोब लगा हवन कुण्ड की रक्षा की और दो घंटों तक हरिकीर्तन से बाजार को गुजा दिया। यज्ञ की तैयारी के समय जो दुकानदार विरोध कर रहे थे वे हम लोगों के धर्म-प्रेम की नुमाइश को देख आप से आप खिंच आये और हमारा साथ देने लगे। सारे शहर में धूम मच गई कि आर्यों के हवन से आनावृष्टि को दूर कर दिया और १५ स्थानों से हवन के लिए वहीं निमन्त्रण मिल गया।

वर्षा तो हुई परन्तु हैजा साथ ही फूट निकला, और बालकराम जी की अकाल मृत्यु ने शहर में भूचाल डाल दिया। वकील और

रईस बाहर को भागने लगे और आर्य पुरुष अपने कर्त्तव्य को समझते हुए बीमारों की सेवा में लगे रहे।

बालकराम जी के देहान्त पर मेरे सारे परिवार को कष्ट हुआ। मेरी धर्म पत्नी बड़ी लाजवन्ती थी और इसलिए उनमें दिखलावे का लेख मात्र की स्वभाव न था। दुख को प्रकट करने से, रो पीट कर, कुछ काल में शान्ति सी आ जाती है, परन्तु हृदय की गहराई में कष्ट को अनुभव करने वाले की सहन शक्ति का कुछ पारावार ही नहीं। सौभाग्यवती शिवदेवी को जो दुःख हुआ उसे घर का कोई व्यक्ति, उनकी माता व मेरे अतिरिक्त, कोई न समझ सका।

जिस समय बालकराम जी की मृत्यु हुई उनके पिता घर न थे और सबसे छोटे भाई पिता के साथ गए हुए थे। भक्तराम जी उस समय इंगलैंड में बैठक बैरिस्टरी की तैयारी कर रहे थे। घर में केवल देवराज ही थे, जिनका कोमल हृदय व्याकुल हो जाता यदि मैं पास न होता। दिन रात मुझे उनके पास रहना पड़ा। उसी समय मुझे छूटा हुआ हुक्के का रोग फिर से आ लगा। पृथ्वी पर सोने का कभी अभ्यास न था। श्री देवराज जी की बिरादरी के सब लोग आकर जमीन पर सोते थे; मुझे भी भूमि पर सोना पड़ता था। तीसरी रात को पेट में असह्य पीड़ा होने लगी। बहुत यत्न किए, जो औषधियां थीं, उनसे काम लिया, जीरे का तेज अर्क मिला उसका भी सेवन किया परन्तु दर्द दूर न हुआ। तब उपस्थित वैद्य ने चिलम में कुछ रख कर दम लगवाया जिससे पीड़ा दूर हो गई। सम्भव है कि पीड़ा निवृत्ति अन्य औषधियों का परिणाम हो, परन्तु मुझे स्वयं हुक्का पीने वाले डॉक्टर ने निश्चय दिलाया कि जिस व्यक्ति ने वर्षों हुक्के की गुलामी की हो उसे अपनी पाचन शक्ति की सहायता के लिए हुक्के की शरण फिर से लेनी चाहिए। दूसरे दिन से ही हुक्केबजारी का आरम्भ हो गया, परन्तु दूसरी बार जो दो वर्षों पश्चात् इस व्यसन को तिलांजलि दी, तो आज तक यहीं नहीं कि इस व्यसन का नाम नहीं लिया प्रत्युत इसकी बदौलत बहुत से और व्यसनों से भी मुक्ति लाभ की।

इस मौत पर भी आर्यसमाज के सभासदों ने विचित्र शान्त अवस्था का दृश्य दिखाया। बालकराम जी म्यूनिसिपल कमिशनर

थे, आनरेरी मजिस्ट्रेट थे, सब राष्ट्रीय सभाओं के उत्तेजक थे, इसलिये उनकी मौत पर जहां एक दिन मण्डी बन्द रही, म्यूनिसिपिल बोर्ड स्कूल बन्द रहा, यहां तक कि सनातन धर्म सभा ने भी इसी शोक में अपनी सभा का साप्ताहिक अधिवेशन बन्द कर दिया, वहां आर्य समाज का साप्ताहिक अधिवेशन बराबर हुआ और मैंने ईश्वर–प्रार्थना करके पूर्ववत् ही उपदेश दिया। जालन्धर आर्य समाज में उन दिनों कुछ विचित्र ही भाव काम करते थे जिनका अब प्रायः आर्य समाजों में अभाव सा दीख पड़ता है।

श्री बालकराम जी की अकाल मृत्यु ने मेरी धर्मपत्नी को बहुत उदास कर दिया था, इसलिये सितंबर की छुट्टियों में उन्हें दोनों पुत्रियों तथा हरिश्चन्द्र को साथ लेकर मैं हरिद्वार पहुंचा। हरिद्वार में कुछ वर्षों पहले मैं केवल एक दिन रह कर ऋषिकेश नहीं गया। एक दिन १८८६ के सितंबर (संवत् १९४६ के भाद्रपद) में मेंह बरसते में हम सब हरिद्वार पहुंचे। हरिश्चन्द्र की आयु उस समय दो वर्ष की थी। हम कपूरथले की हवेली में उतरे थे। हमारे आंगन के सामने ही गंगा बहती थी। हरिश्चन्द्र ने कुंजियों का गुच्छा खेलते–खेलते जोर से गंगा में फेंक दिया। जब ढूंढ़ पड़ी तो गंगा की ओर बेपरवाही से हाथ बढ़ाकर बोला 'वह गई, कुंजियां वह गई'। हम सब हंस पड़े और घर लौटने पर हमें सब ताले तुड़वाने पड़े। हरिश्चन्द्र की निरपेक्षता बहुत पुरानी है। मेरे 'आर्य समाज' नाम रूपी बज्र–प्रहार पर भी पंडा जी ने आ घेरा। हमारा पंडा था भलामानस, बोला–"मुझे तो सेवा करनी है चाहे कुछ देना वा न देना।' पंडे यात्रियों को चारपाई पर सोने से मना किया करते हैं। हमारे पंडे ने चारपाइयां ला दी। नित्य घर से बांस का आचार तथा दही लाकर देने लगा। पांच दिन इतना सुख पहुंचाया जो २० रुपये व्यय करने पर भी न मिल सकता। मैंने चलते समय ५ भेंट किये उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। मैंने तो समझा कि पंडा जी घाटे में रहे परन्तु पण्डा जी ने मेरी धर्मपत्नी के पास पहुंचकर ५ और वसूल कर लिये।

अब तो पण्डा का हौंसला बड़ा बढ़ गया। उन्होंने खोलकर बही सामने रख दी और बोले – "यजमान आप आर्य समाजी हैं

तो हम भी आपसे मूर्तिपूजा के लिये नहीं कहते, परन्तु यह तो लिख दीजिये कि इस यात्रा में मैंने आपकी सेवा की थी।" मैंने लिख दिया—"हरिद्वार में सैर के लिये आया, यदि यहां पण्डे और बन्दर न हों तो स्थान बड़ा रमणीक ओर निवास के योग्य है।" उस समय पण्डा जी ने बड़ी प्रसन्नता से समझा कि मैदान मार लिया है, परन्तु जब पीछे से किसी से पढ़वाया होगा (क्योंकि प्रायः पण्डों के लिये काला अक्षर भैंस बराबर होता है) मुझे खूब सुनाई होगी।

मैं अपने एक वृद्ध संबंधी को साथ लाया था जिनके साथ परिवार को अपने ग्राम तलवन पहुंचाने भेज दिया और मैंने मेरठ की ओर प्रस्थान किया। डॉक्टर रामचन्द्र जी मेरे पुराने परिचित तथा संबंधी भी थे, उनके यहां मैंने डेरा किया। इसी समय 'रामचन्द्र वैश्य, लाल बाजार, मेरठ' से मिला। इनका नाम लाला के बाजार से अलग, समझ में नहीं आ सकता था। शोक यह कि यह महाशय अब मर चुके हैं। उस समय वह देव—समाजी गुरु अग्निहोत्री के बड़े चेले थे। डॉक्टर भी उन्हें अग्निहोत्री कह कर पुकारा करते थे। मुझ से मिलकर वह आर्य समाज की ओर झुक गये और उसके पश्चात् दूसरे वर्ष ही अपनी धर्मपत्नी सहित पंजाब में दौरे के लिये आए थे। मेरठ में पहुंचकर मैंने २३ भाद्रपद (८ सितंबर आदित्यवार) को स्थानीय समाज मन्दिर में 'अमर जीवन' विषय पर उपदेश दिया। बड़ा चबूतरा था जिस पर दरियां बिछ गईं। चारों तरपफ लैम्पों की रोशनी भी हो गई। उपस्थिति २५ की थी, एक—एक लाइन बन गई। स्थान ४०० तक का समेट लिया और श्रोता केवल २५ बैठे। अन्य लैम्प तो बड़े उत्तम परन्तु उपदेशक की चौकी पर एक बड़ी मैली पुरानी लालटेन थी जिसके शीशों पर मट्टी चढ़ी थी और अन्दर धुन्धला सा दिया जल रहा था। जब लैम्प लाने को कहा गया तो उत्तर मिला—'यह श्री स्वामी दयानन्द जी के समय की लालटेन है यह न बदलेगी।' अस्तु। एक नये पण्डित नौकरी के लिये बुलाये गये थे, उनकी परीक्षा होनी थी। वह ईश्वरोपासना के लिये बैठाये गए। उनकी परीक्षा लेनी थी इसलिये एक—एक शब्द व्याकरण की रीति से सिद्ध करते—करते उन्होंने बहुत समय ले लिया। तत्पश्चात् मैंने अपना कथन कह डाला। भजनों

का कोई प्रबन्ध न था अन्त में एक वेद मन्त्र बोलकर अधिवेशन समाप्त हुआ करता था। परन्तु उस यमय नये पण्डित जी किसी कार्य के लिये चले गये थे। सब एक दूसरे का मुंह ताकने लगे, तब एक भद्र पुरुष ने कहा– "चन्द्रभान जी! आप भी तो ब्राह्मण हैं, मन्त्र बोल दीजिए।" तब पता लगा कि सभा–विसर्जन का मन्त्र ब्राह्मण कुलोत्पन्न को ही बोलना चाहिए। इससे पांच मास पश्चात् यहीं लीला मैंने राजा साहब मण्डी के यहां देखी, जो सायंकाल की संध्या के लिये उस समय तक नहीं उठा करते थे, जब तक पण्डित विद्यासागर जी एक विशेष श्लोक चेतावनी का न बोल देते थे।

मेरा उपदेश सुनकर युवकों ने आग्रह किया कि मैं व्याख्यान दूं, परन्तु कठिनाई यह हुई कि बिना अन्तरंग सभा की आज्ञा के मेज–कुर्सी लगाकर व्याख्यान नहीं हो सकता था। इसलिए यह ठहरी थी कि मैं अपने भाई साहब से, जो बहादुरगढ़ में थानेदार थे मिलने चला जाऊं और लौटते हुए व्याख्यान दूं, तब तक अन्तरंग सभा का जलसा हो चुकेगा।

बहादुरगढ़ में भाद्रपद २८, २६ (१३ और १४ सितंबर) को व्याख्यान देकर मैं फिर मेरठ लौटा और ३० भाद्र (१५ सितंबर) को फिर उपदेश दिया। मैंने चाहा कि भजन–कीर्तन की प्रथा यहां चला दूं, इसलिये एक युवक को हारमोनियम बजाने पर राजी भी कर लिया। परन्तु समय पर उसको इतने ताने मिले कि उसने बजाने में लज्जा प्रकट की। डाक्टर रामचन्द्र जी को साथ ले मैंने वैसे ही भजन गाया तब कुछ और भाई सम्मिलित हो गये। जब इसके तीन–चार साल बाद उत्सव पर नगर कीर्तन कराया गया था उस समय भी मेरठ के बाजारियों ने खूब फबतियां उड़ाई थीं। अबकी बार तो मेज–कुर्सी भी लग गई और तीन सौ की उपस्थित में मैं दो व्याख्यान देकर जालन्धर लौट आया।

कार्तिक में आर्य समाज अमृतसर के जल्से पर मैंने दो व्याख्यान दिये थे, परन्तु उसी समय से पण्डित गुरुदत्त का रोग बढ़ने लगा और मेरे लिए हर सप्ताह लाहौर जाना एक आवश्यक कार्य हो गया। यद्यपि पण्डित गुरुदत्त जी की बीमारी

की चिन्ता अधिक थी, परन्तु इससे धर्म के कार्यों में कुछ शिथिलता नहीं आती थी। इन्हीं दिनों वैदिक धर्म का सन्देश सर्वसाधारण तक पहुंचाने का मैंने दृढ़ व्रत धारण किया था।

जालन्धर प्रान्त में शास्त्रार्थों की धूम

मैं लिख चुका हूं कि स्वामी रामानन्द, युवक संन्यासी पूर्णानन्द को वैदिक धर्म की शरण में लाये थे। वह स्वामी पूर्णानन्द जी कपूरथले अपने पुराने परिचित पण्डित हरिकृष्ण के पास छः दर्शनों की पुनरावृत्ति करने गये थे। उक्त पण्डित जी ने हमारे संन्यासी को पुराणों के हेर-फेर में ही फंसा रखा और कपूरथला के अर्थ-सचिव मिश्र अछरूमल जी ने उन्हें तंग करना शुरू किया। तब स्वामी पूर्णानन्द जी ने विज्ञापन देकर १५, १६, १७ कीर्तिक (१, २, ३, नवंबर) को प्रातः खूब व्याख्यान दिये और पौराणिक मत की पोल खोली। मुझे भी स्वामी जी ने सूचना भेज दी थी। एक ओर तो स्वामी जी की ओर से सूचना आई और दूसरी ओर से मिश्र अछरूमल जी का खुला चेलेंज था कि यदि मैं कपूरथले में प्रचार के लिये आऊंगा तो वह मुझे गिरफ्तार करा लेंगे। मैंने १६ कीर्तिक (२ नवंबर) को ही दीवान अछरूमल जी को सूचना भेज दी और १७ कीर्तिक (३ नवंबर) को व्याख्यान के लिय पहुंच गया। मिश्र अछरूमल कट्टर सनातनी थे, इसलिय आर्य समाज के सभासद् उन्हें दूर से छेड़ा करते थे। एक आर्य मेरे व्याख्यान का विज्ञापन मिश्र जी के मकान की दीवार पर लगा आया। उन्होंने उसे पढ़ते ही फड़वाकर पांच छः कलसे पानी से दीवार को धुलवा डाला। मेरे व्याख्यान में एक महाशय बोले, मैंने उनसे ही प्रश्नोत्तर आरम्भ कर दिये। मिश्र जी के कहने पर कोई मजिस्ट्रेट तो मेरे नाम वारंट गिरफ्तार देने को तैयार न हुआ, परन्तु कुछ लुच्चे अवश्य व्याख्यान-गृह की छत पर आ बैठे और उनमें से एक ने पक्की ईंट मेरी खोपड़ी को ताक कर फैंकी सच कहा है- "मारने वाले से बचाने वाला प्रबल है।" जब ईंट ताककर चलाई तो मेरा सिर उसके निशाने में था परन्तु मैं दूसरी ओर मुंह करके उधर सम्बोधन कर जा खड़ा हुआ और ईंट जोर से मेज पर पड़ी। ८०० के लगभग श्रोतागण थे जो प्रायः हमारी ओर हो चुके थे,

कुछ ने उन लुच्चों को पकड़ लिया और उनका मुंह बन्द कर बाहर छोड़ आये। कपूर्थले पर इसके पश्चात् कई धावे हुए परन्तु दीवान अछरूमल की धमकी–धमकी ही रही।

इस समय एक ओर तो स्वामी लक्ष्मणानन्द जो कुछ दिनों तक प्राणायाम की शिक्षा कुछ आर्य सभासदों का देते रहे और दूसरी ओर स्वामी पूर्णानन्द जी से संस्कृत की पढ़ाई आरम्भ कर दी। उन दिनों मैंने भी फिर से स्वामी जी के आये पत्र रखे और लाला रामकृष्ण जी प्रधान तथा कुछ अन्य सभासद् भी पढ़ने लगे थे जिनमें सुकेत के राजकुमार जनमेजय मुख्य थे।

जालन्धर आर्य समाज के वार्षिकोत्सव से लगभग २२ दिन पहिले मण्डी के राजा विजयसेन जी ने जालन्धर आकर यह इच्छा प्रकट की कि आर्य समाज और सनातन धर्म सभा के मन्तव्य, दोनों के प्रसिद्ध व्याख्याताओं द्वारा सुनें। १६ मार्गशीर्ष १६४६ के दिन यह प्रसिद्ध धर्म–चर्चा आरम्भ हुई, उसी दिन राजा साहब आर्य समाज के सिद्धान्तों से परिचित हुए। राजा साहब पौराणिक थे इसलिये पटियाले के प्रसिद्ध राजपण्डित श्री कृष्ण शास्त्री राजा साहब को सहायता देते रहे और प्रश्नों के उत्तर मैं, स्वामी पूर्णानन्द तथा श्री देवराज जी देते रहे। राजा साहब ने बहुत विषयों में आर्य समाज के मन्तव्यों से सहमति प्रकट की और भोलेपन से कहा–"आपकी सब बातें हम मान लेंगे परन्तु मूर्ति पूजा मनवायेंगे।" इधर से उत्तर मिला– "महाराज! देखिये कौन किसको मना लेता है!" दूसरे दिन पण्डित आर्य–मुनि तथा पण्डित श्री कृष्ण शास्त्री का इस विषय पर शास्त्रार्थ हुआ कि वेद में साकार पूजा का विधान है वा निराकर पूजा का। इस शास्त्रार्थ का बड़ा प्रभाव पड़ा और नगर में धूम मच गई।

पौष संवत् १६४६ के पूर्वार्द्ध में (दिसंबर १८८६ के अंत में) मैं जालन्धर और लुधियाना आर्य समाज में सम्मिलित हुआ और उन्हीं के काम में फंसा रहा। ब्रह्मानन्द ने भी इन्हीं दिनों स्वामी पूर्णानन्द जी से विद्याध्ययन करना आरम्भ किया। द्वाबा उपदेशक–मंडली ने भी इन्हीं दिनों कार्यारंभ किया। जालन्धर आर्य समाज की ओर आर्य जनता की विशेष दृष्टि पड़ने लगी। यह हालत थी जब शिकारपुर पंडित प्रीतमदेव शर्मा जालन्धर

पधारे। उदासी केशवानन्द के अनुकरण में इन्होंने भी आर्य समाज को गालियां देकर ही सनातनियों से अपना उल्लू सीधा करना शुरू किया। प्रीतम देव कुछ मन्तव्यों में आर्य समाज के साथ सहमत भी थे परन्तु जब स्वामी दयानन्द को गाली देते तो 'सनातन धर्म की जय' बोलकर धर्म--सभा के साथ सारा मतभेद भूल जाते। जालन्धर आर्य समाज ने लाहौर आर्य समाजियों के तानों से तंग आकर इस समय स्वयं ही इस व्यक्ति का मुकाबला किया। अपने सभासदों द्वारा ही उनके व्याख्यानों का खण्डन कराया और शास्त्रार्थ के लिए भी तैयार हो गये। परन्तु धर्म सभा ने उसकी जिम्मेदारी से इन्कार कर दिया। इस हलचल में भी आर्य समाज को कुछ नये सभासद् मिले। प्रीतम शर्मा के भड़काने से एक युवक आर्य दौलतराम को उसके पिता ने घर से निकाल दिया। दौलतराम ने बड़ी दृढ़ता दिखाई और समाज मन्दिर में निवास आरम्भ किया। समाज ने इस युवक की शिक्षा का भार अपने ऊपर लिया। फिर ठीक आयु होने पर उसका विवाह एक आर्य कन्या से करा दिया, और उसे धन कमाने के योग्य कर परिवार पालने योग्य बना दिया।

प्रीतम शर्मा का हम लोगों ने न केवल जालन्धर छावनी तक ही पीछा किया प्रत्युत होशियारपुर में भी स्वामी पूर्णान्नद तथा ब्रह्मानन्द को भेजने के अतिरिक्त मैंने भी व्याख्या दिए और जो शंकाएं वह सत्यार्थप्रकाश में दिए प्रमाणों पर उठाता, उनका समाधान पुराणों द्वारा उनके पास पहुंचा देता।

५ चैत्र संवत १९४६ (१८ मार्च १८९०) की पण्डित गुरुदत्त का देहान्त हुआ। शोक सभा में सम्मिलित होने के पश्चात् चिरकाल तक मैंने लाहौर के दर्शन न किए। पण्डित गुरुदत्त के जीवन से दिव्य आत्मिक ज्ञान उपलब्ध करने जाया करता था और श्री लाला साईदास के अनुभव से शिक्षा प्राप्त किया करता था, परन्तु पण्डित गुरुदत्त के बिछोड़े का दुःख अभी कम नहीं हुआ था कि ३० ज्येष्ठ संवत् १९४७ (१३ जून १८९० ई.) को लाल साईदास भी ५१ साल की आयु में इस भौतिक शरीर को त्याग गये। अब लाहौर के साथ कोई विशेष लगाव न रहा। 'प्रचारक' में मेरे नोट वर्तमान विषयों पर होते थे और मर्त्यलोक

की खबर लाते थे, श्री देवराज जी के नोट आकाश में उड़ान भरते थे।

लाहौर की झगड़ालू रंग—भूमि से छुटकारा पाकर मैं संवत् १६४८ में बड़े उपयोगी कामों में लगा रहा। 'प्रचारक' के कुछ अंकों में आर्य पुत्री पाठशाला के न खुलने पर अपने ऊपर फटकार डालने के पश्चात् आखिर वह कन्या पाठशाला खुल गई जिसे आज हम "कन्या महाविद्यालय" के रूप में देखते हैं। इसके अतिरिक्त धर्म प्रचार में भी अत्यन्त अधिक भाग लिया। फगवाड़ा को सर करके हमारे धार्मिक योद्धा ब्रह्मानन्द जी लुधियाने पहुंचे। वहां भी उन्होंने हलचल डाल दी जिसके कारण मुझे वहां भी पहुंचना पड़ा। वहां वैदिक धर्म का खूब प्रचार हुआ। छः—छः घंटों तक व्याख्यान हुए। क्रम यह था—मैंने आधे घंटे तक धर्म विषय पर कहते हुए दूसरे यम (सत्य) की व्याख्या प्रारम्भ की, एक भाई बोल उठे कि है तो ठीक, परन्तु कलियुग में 'सत्य' कैसे चल सकता है। मैंने उस भाई से कुछ और शंका उठाई जिस पर तीसरा विषय आरम्भ हो गया। अन्त को वहां बड़ा प्रबल आर्य समाज स्थापित हुआ।

पंजाब के ग्रामों में, साधारण बुद्धि तथा विद्या रखने वाला मनुष्य धर्म प्रचार नहीं कर सकता। वहां ब्रह्मज्ञानी ही नहीं प्रत्युत चारवाकों के कान कतरने वाले भी मिल जाते हैं। इसी प्रकार के एक साधारण व्यक्ति से ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द की बड़ी मनोरंजक बातचीत हुई।

रतजगा करके मैं लुधियाने पहुंचा, इसलिए भोजन करके लेट गया। केवल कोपीन धारण किए एक नंगा जाट भादों की धूप में घास काट कर लाया था, घास का गट्ठर उतार कर विश्राम के लिए ब्रह्मचारी जी के पास बैठ गया। ब्रह्मचारी जी का पहले से परिचित मालूम देता था। वे उसे ईश्वर का अस्तित्व समझाने लगे। उसने कुछ बेढब सा उत्तर दिया; ब्रह्मचारी जी बोले – "क्या प्राचीन शास्त्रकार ऋषि महात्मा सब मूर्ख थे ? वे सब ईश्वरवादी थे;" जाट मुस्करा कर बोला—"मेरी गल सुन लओ। रातून गली विच विड़क होई। कुत्ता भौंकने लगा। सारे पिण्ड दे कुत्तेयां के चक्क लिया। विड़क सुनने वाले

कुत्ते ने सिर चक्क के देखयां तां कुछ न दिख्या। ओह तां सो गया पर पिण्ड दे कुत्ते सारी रात भौंक दे ही रहे।"

ज्यों–ज्यों जाट की अकाट्य युक्ति को मैं सुनता त्यों–त्यों हंसी, विवश होकर, बाहर आती थी। मतलब उसका यह था कि जब एक ने भ्रम से ईश्वर कह दिया तो लाखों उसके चेले "ईश्वर" ही कहने लगे। पहले का तो भ्रम दूर हो गया परन्तु उसके चेले उसी धुन में राग अलापते रहे। इसलिए मूर्खों की साक्षी की कोई युक्ति नहीं है। मुझे ब्रह्मचारी जी की फंसावट पर दया आई और मैंने बहुपक्ष की दलील को छोड़ कर उसके साथ उस गंवारी भाषा में उसी प्रकार का विवाद आरम्भ कर दिया, फिर वह बड़े प्रेम से मेरे व्याख्यानों में अच्छे वस्त्र पहिन कर आया और अन्त को हमारा सहायक बन गया।

भादों और असौज के महीनों में भी मैं बराबर धर्म प्रचार के लिए बाहर जाता रहा। नवां शहर और राहों की इस निमित्त से दो बार यात्रा की। जहां सवारी न मिली वहां पैदल चल कर समय पर पहुंच अपना कर्तव्य पालन किया। इन्हीं यात्राओं में एक बार इक्का ऊपर आ गिरा और माथे में ऐसा घाव लगा जिसका निशान अब तक बाकी है।

संवत् १९४७ में कई बार अपने ग्राम तलवन को जाते और आते हुए नूरमहल तथा नकोदर आदि स्थानों में धर्म प्रचार करता रहा। विशेष प्रचार का कार्य ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी करते रहे। इन्हीं दिनों अटक में दुकान करने वाले अमृतसर निवासी लाला धनपतराय ने सद्धर्म प्रचारक द्वारा अपनी पुत्री के लिए स्वयंवर विवाह का नोटिस दिया था। उस पर कई प्रसिद्ध आर्य समाजियों की विचित्र प्रकार की समतियां निकली थीं जो इस समय बड़ी मनोरंजक प्रतीत होंगी; इनके उत्तर देने में मेरा बहुत समय लगा था। फिर द्वाबा गुरदासपुर उप–प्रतिनिधि सभा' का संघटन भी इन्ही दिनो किया गया था जिसका विशेष काम मुझे ही करना पड़ता था। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द इस उप–प्रतिनिधि सभा के अधीन बड़ा सन्तोषजनक काम करते रहे। ब्रह्मचारी जी को काम की बड़ी लग्न थी। जालन्धर के इर्द–गिर्द इन दिनों खूब जोर से प्रचार हुआ। आर्य पुरुषों में उन दिनों कितनी

दृढ़ता और शान्ति प्रियता का संचार था यह एक दृष्टान्त से ही विदित हो जाएगा।

शेख की बस्ती में पं० श्रीपति जी अध्यापक आर्य समाज जालन्धर ने अपने गृह पर आर्य पुरुषों को धर्म प्रचार के लिए निमन्त्रित किया। बीच में विघ्न डालने के लिए विरोधी पौराणिकों ने झांझ बजाये, ढोलक पीटा और पंजाबी गन्दा गीत गाया। परन्तु उपासक इंश्वरोपासना में मग्न रहे और जब प्रचारक ने इस पर भी दृढ़ता से उपदेश आरम्भ कर दिया और शान्ति को हाथ से न छोडा तो श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा, और विघ्न डालने वाले लज्जित होकर लौट गए।

इसी वर्ष मार्गशीर्ष में श्री पूर्णनन्द जी ब्रह्मचारी ने ब्रह्मानन्द को साथ लेकर द्वाबा गुरदासपुर उप–प्रतिनिधि सभा की ओर से बिना वेतन प्रचार आरम्भ कर दिया। श्री पूर्णानन्द जी तथा ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी ने उस समय से जिस प्रेम से जीवन पर्यन्त वैदिक धर्म का प्रचार किया उसका वर्णन बड़ी विस्तृत पुस्तक में ही आ सकता है। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी तो वर्षो तक पंजाब में धर्म प्रचार करने के पश्चात् काशी जा विराजे और वहां से वैदिक धर्मोपदेशक मण्डली बना कर निकलने का शुभ विचार था परन्तु उनकी आयु थोडी ही थी। योगाभ्यास करते हुए, सीमा से अधिक परिश्रम के कारण पहिले मस्तिष्क में विकार हुआ और फिर उनका देहान्त हो गया।

इस वर्ष आर्य समाज लाहौर के वार्षिकोत्सवों में मैं सम्मिलित हुआ परन्तु लाहौरियों के साथ अधिक सम्बन्ध न जोड़ सका। यह पहला अवसर था कि पंडित गुरुदत्त का स्थान लाहौर आर्यसमाज के प्लेट फार्म पर लाला लाजपतराय ने लिया और उसे उन्होंने उस समय निभाया भी बडी उत्तमता से। उस समय उनका सिद्धांत यह था कि यौरोप में केवल प्रकृति की उपासना में ही विद्वान लगे हुए है और आर्यवर्त में आत्मिक जगत् की ओर ऋषियों के समय में पदार्थ विद्या और ब्रह्मविद्या का मिलाप ही उपनिषद् जैसे ग्रन्थों के निर्माण का कारण हुआ है। इसलिए जब तक आ[illegible]र्त की ब्रह्माविद्या को पदार्थ विद्या की कसौटी पर नही परखा जाता तब तक जीवन का वास्तविक उद्देश्य ज्ञात

नही हो सकता। इस कसौटी पर ब्रह्मविद्या को परखने वाला भी समय की आवश्यकतानुसार उत्पन्न हुआ और हमें दिखला गया कि जीवन का परमोद्देश्य क्या है ?" अन्त में दयानन्द कालिज के लिए अपील करते हुए श्री लाजपतराय जी ने कहा कि —"प्राकृतिक धन को अमृत जीवन में बदल कर अपनी सन्तान के लिए एक स्मारक छोड़ जाओ।"

मांस विषय पर आन्दोलन इन दिनों छिड़ चुका था। २७ मार्गशीर्ष १६४७ के प्रचारक में स्पष्ट लिखा है कि— "मांस भक्षण पर दो दल हो रहे है।"इसके पश्चात् इस प्रश्न का चित्र कुछ भयानक सा होता गया। स्त्रियों को उच्च शिक्षा का अधिकार है या नही ? इस पर भी खूब विचार हुआ करता था। प्रचारक मांस—भक्षण को पाप तथा देवियो को उच्च शिक्षा का अधिकार बतलाने वाला था।

इसी वर्ष जालन्धर आर्य समाज के वार्षिकोत्सव पर द्वाबा गुरदासपुर उपप्रतिनिधि सभा' के नियम स्वीकृत हुए। इस सभा का प्रधान मैं बना और मन्त्री श्री रामकृष्ण जी वर्तमान प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब। श्री पूर्णानन्द जी इस सभा के प्रथम उप—देशक बन ही चुके थें बडे जोर से प्रचारक का कार्य शुरू हो गया।

जालन्धर से मैं लुधियाना आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुआ जहां आर्यसमाज सम्बन्धी विशेष कार्य हुए। इन्हीं दिनों प्रो० मैक्समूलर ने अपना प्रसिद्ध "मत्सं सूक्त" लिखा था जिस पर प्रचारक में बडा जबर्दस्त नोट निकला।

हरिद्वार का कुम्भ मेला ऋषि दयानन्द जी की मृत्यु केपश्चात् पहिली बार ही आने वाला था। संक्रांति वैशाख १६४८ को स्नान का दिन था। प्रचारक में तैयारी के लिए बहुत से लेख निकले परन्तु उस आन्दोलन को बीच में ही छोड़ कर मुझे जालन्धर त्यागना पड़ा।

सुकेत पहाड़ में एक छोटी सी रियासत है। उसके दुष्टनिकन्दन सेन पर प्रजा की ओर से कई अभियोग चलाये गए। मनुष्य—घात, डाका, लूटमार, सभी प्रकार के दोष प्रजा ने लगाये थे। राजा के चचा मियां शिवसिह रियासत से निकाले

हुए चिरकाल से जालन्धर में थे, उनके भी घर को राजा ने लूट लिया था। एक लाख का उन्होंने दावा किया था। राजा ने कमिश्नर साहब को जज मान लिया और स्वीकार किया कि जो दण्ड वह निश्चित करेंगे राजा सहन करने को तैयार हो जायेगे। जब मियां शिवसिह सुकेत बुलाए गये तो उन्होंने यहा पहुंचते ही मुझे अपनी तथा अन्य प्रजा की ओर से वकील नियत कर बुलाने के लिए तार दिया।

सुकेत जाने से पहले मेरे अन्दर विचित्र देवासुर संग्राम हो रहा था। २७ पौष संवत १९४७ (११ जनवरी, १८९१) की डायरी में लिखा है– "मैं अपने गत दो वर्ष के जीवन से सन्तुष्ट नहीं हूं, यद्यपि मैंने उस बीच में आर्य समाज की बहुत सेवा की है। मैंने लगभग अकेले ही "सद्धर्म प्रचारक" का सम्पादन किया है, वर्ण व्यवस्था पर एक ट्रेक्ट लिखा है, कुछ शास्त्रार्थ भी किए, बहुत सा व्याख्यान वैदिक धर्म के प्रचारार्थ दिए। परन्तु क्या मेरी आत्मिक अवस्था में वास्तविक उन्नति हुई है ? हे हमारे मनों को जानने वाले ! तू ही जानता है कि इस दिखावे में कैसी अपवित्र चेष्टाएं छिपी हुई है। हे प्राणेश्वर ! मुझे शक्ति दो कि मैं धर्ममार्ग पर चल सकूं और सत्य पर दृढ़ रहूं।"

उस समय के लेखो से ज्ञात होता है कि वकालत छोड़ने के लिये हृदय में हलचल मच चुकी थी। १२ जनवरी १८९१ ई० (२८ पौष १९४७) की डायरी में एक महन्त के दुराचार का हाल लिखकर और संन्यासाश्रम की दुरावस्था का वर्णन कर लिखा है–"इस प्रकार की घटनायें जतलाती हैं कि मातृभूमि के पुनरूद्धार के लिए बड़े उपयुक्त आत्मसमर्पण की आवश्यकता है।" उसी दिन कचहरी में जाने का हाल लिखा है–"बार रूप (वकीलों के कमरे) में वकील भाइयों के साथ इस पेशे के धर्माधर्म विषय में बातचीत हुई। मैं बार बार अपने आत्मा से प्रश्न कर रहा हूं कि वैदिक धर्म की सेवा का व्रत धारण करते हुये क्या मैं वकील रह सकता हूं। मार्ग क्या है, कौन बतलाएगा ? अपने स्वामी परम पिता से ही कल्याण मार्ग पूछना चाहिए। यह संशयात्मकता ठीक नहीं। अपने देश तथा धर्म की सेवा के लिये पूरा आत्म–समर्पण करना चाहिए। परन्तु परिवार भी एक बड़ी

रुकावट है। मैं संदिग्ध अवस्था में हूं। कुछ निश्चय शीघ्र होना चाहिए। कृष्ण भगवान् ने कहा है– "संशयात्मा विनश्यति" पिता! तुम्ही पथ–दर्शक हो।"

सुकेत में १७ दिवस

२ माघ संवत् १६४७ (१५ जनवरी १८६१)की शाम को होशियारपुर पहुंचा। ३ माघ (१६ जनवरी) को प्रातः पहाड़ी डोली में सवार होकर चला। रास्ते में बराबर मेंह बरसता रहा दिन रात कहार बदलते रहे। ५ माघ (१८ जनवरी) को १२ बजे दिन के हटरी स्थान पर पहुंचा। हटरी पर रियासत मण्डी का एक कारिन्दा रहता था। उसके मकान पर डोली से उतर कर नई सवारी पर सवार होना था जिसे पालकी कहा जाता था। परन्तु जब वह ढांचा सामने आया तो सिवाय दो बांस के लट्ठों पर एक छोटी पीढ़ी के और कुछ न था। सचमुच नाम बड़े दर्शन छोटे थे। कारिन्दा जी के बाल बच्चों में मैंने सारी मिठाई बांट दी। उस समय सूर्य भगवान यौवनावस्था में उदित थे और मैंने स्नान करके कारिन्दा जी का निमन्त्रण स्वीकार किया। बिना धोई छिलके वाली उड़द की दाल और आलुओं के साथ मण्डों (फुलको) का जो स्वाद उस समय आया वह शायद जन्म भर में ४–५ बार ही अनुभव किया होगा।

भोजन से निवृत्त होकर पालकी नामिनी पीढ़ी पर सवार हुआ। मिठाई की तीन हन्डियों में से एक हन्डिया मेरे सामने कारिन्दे ने रख दी। मैंने बहुत इन्कार किया परन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया मुझे रास्ते का अनुभव है आपको नहीं, आपके काम आयेगी। हटरी से सीधी चढ़ाई का आरम्भ हो गया। यह सिकन्दरे की चढाई कहाती है। मेरा सामान कुलियों की पीठ पर चला। थोड़ी देर ऊपर चढ़ते ही सारे पहाड़ श्वेत हिम से ढके हुए दिखाई देने लगे। ज्यों–ज्यों ऊपर चढ़ता गया त्यों त्यों दृश्य सुन्दर होता गया। यहां तक कि ऐसी ऊंचाई पर पहुंचा जहां हिम गिर रहा था। गरम कोट आदि पहन कर ऊपर से मैंने धुस्सा ओढ़ लिया था। मैंने समझा था कि बर्फ की वर्षा के समय सर्दी ज्यादा होगी। लेकिन हालत दूसरी ही नजर आई। धुस्सा झाड़कर बर्फ को नीचे फैक दिया और हाथ हांडी की

ओर बढाया क्योंकि भूख बहुत चमक उठी थी। बर्फ गिरते में कैसी भूख लगती है यह बिना अनुभव के पता नहीं लग सकता। कहारों के पांव हिम पर पड़कर उसकी स्वच्छता को बिगड़ते देख मैं सहन न कर सका। यद्यपि मेरे पैर पड़ने से भी हिम की स्वच्छ साफ चादर मैली होती थी परन्तु वह मेरी दृष्टि से पीछे रह जाती थी। मैंने उस समय पौराणिकों का ही अनुकरण किया और अज्ञान में पाप न समझते हुए मनोरंजक यात्रा की। आध मील पर खडे होकर मैंने मिठाई के साथ बर्फ मिलाकर खाना आरम्भ किया और सिकन्दरे की चढ़ाई के शिखर पर पहुंच कर खाली करके हंडिया फोड़ दी। चार बजे उतराई का आरम्भ हुआ। भूख पग–पग बढ़ रही थी और खाने को पास कुछ न था। पांच बजे दूर पर एक दूकान दिखाई दी। आशा रख घोड़े पर सवार हो वहां पहुंचा पहाड़ी दुकानदार के पास पाव–भर गुड़ और आधा पाव चनों के सिवाय कुछ न था। उसी पर सन्तोष कर चने ठूंगने शुरू किये और तेज भूख साथ लेकर सायंकाल सुकेत पहुंचा।

कमिश्नर का कैम्प ग्राम से बाहर एक मैदान में था। वहीं मेरे मुवक्किल मियां शिवसिंह का कैम्प था। मैं उनको पीछे छोड़ सीधा ग्राम की दूसरी हद पर मियां पराक्रमसिंह के यहां पहुंचा। वहां बाबू दसौधीराम तथा लाला गणेशदास वकील मुझ से पहिले मियां शिवसिंह की सहायतार्थ आये हुए थे। मेरे मित्र मियां जनमेजय भी मिले। भूखे को भोजन की पहिले सूझी और फिर शयन की। इधर नींद के झोके आ रहे थे और उधर स्थान एकान्त न था। लाचार फिर से यात्रा आरम्भ कर दी और डेढ़ मील पैदल चलकर सिहराल पहुंच मियां ज्वालासिंह के मकान में आराम किया। यहां शीत बहुत था साथ ही मेरे कमरे के किवाड़ों के कुछ शीशे टूटे हुए थे परन्तु फिर भी ६.३० बजे सोकर ४.३० बजे तक करवट न बदली।

दूसरे दिन प्रातःकाल यथा नियम उठकर स्नान किया। जिस कूल के झरने का शब्द रात को लोरियां देकर सुला रहा था उसी के शीतल जल से लोटे भर–भर स्नान किया। पहाड़ के रमणीय जंगल में सन्ध्या की और अग्निहोत्र के समय सुगन्ध

के कारण घर के बच्चों के साथ पालतू जानवर भी मेरे साथ आ बैठे। मेरे यजमान मियां ज्वालासिंह, मियां शिवसिंह के छोटे भाई थे। उन्होंने शीघ्र ही मेरी इच्छानुकूल भोजन तैयार करा दिया और मै दिन भर के काम के लिए तैयार होकर "सिहराल" से चल दिया।

यहां एक बार ही लिख देता हूं कि यद्यपि मुझे नित्य बिखडे मार्ग में तीन मील से अधिक चलना पड़ता था परन्तु रात के लिए मैंने निवास-स्थान सिहराल को ही बनाए रखा। दूसरी रात को एक घटना भी ऐसी हुई जो शायद दूसरे आदमी को वहां से भगा देती। मेरे कमरे के किवाड़ों के कुछ शीशे टूटे हुए थे। सर्दी रोकने के लिए उन पर कागज चिपका रखे थे। मेरे सुकेत पहुंचने की तीसरी रात को, खिड़की के कागज को फाड़ बाघ ने अपना पंजा अन्दर घुसेड़ दिया और रात भर मेरे पलंग के पाए पर पंजा डाले पड़ा रहा। प्रातः उठने पर मैंने देखा कि वह अन्दर की तरफ टिकटिकी जमाये बैठा है। मैंने डण्डे से उसका पंजा बाहर कर दिया और लाठी को जमीन पर मारकर उसे डपट सुनाई। इस पर बाघ गरजता हुआ भाग गयां मुझे बहुत समझाया गया कि मैं अन्दर के मकान में सोया करूं, परन्तु मुझे जाड़े में भी चारों ओर का वायु का मार्ग खोलकर सोने का अभ्यास था। मै उसी हवादार मकान में सोता रहा।

५ माघ (१८ जनवरी) से लेकर पूरे १० दिन मैं सुकेत रहा। इस बीच में जहां मियां शिवसिंह के मुकद्दमे का मनोरंजक काम होता रहा वहां साथ ही साधारण प्राकृतिक तथा मानवी दृश्य भी देखने में आये और साथ ही वैदिक धर्म का प्रचार भी होता रहा।

मेरे साथ जो वकील थे उनमें से एक तो ऐसे शराबी थे कि जब रात को शराब पी लेते तो उनकी बुद्धि बड़ी तेज हो जाती परन्तु प्रातः नशा उतरने पर मुर्दे के समान दिखाई देते। दूसरे महाशय अंग्रेजी का एक भी अक्षर न जानते थे। इसलिए कमिश्नर साहब के यहां बैरिस्टर रैगिअन के मुकाबिले उन्हें बैठाना व्यर्थ था। मियां शिवसिंह का दावा था कि उनका भण्डार राजा ने लूट लिया। इसका प्रमाण ? राजा के अत्याचारों से तंग आई हुई प्रजा ने मेरे पास पहुंचकर चोरी के माल का पता

दिया। मैंने सब मालूम कर कमिश्नर से कुछ स्थानों की तलाशी के लिए वारण्ट मांगे। कमिश्नर साहब ने मियां शिवसिंह को बुलाकर कहा कि यदि चोरी का माल कहीं से न निकला तो उन्हें स्वयं जेल भुगतनी पड़ेगी। मैंने इस पर एक लिखित प्रार्थना पत्र पेश कर दिया और सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेने का वचन दिया। कमिश्नर साहब का आश्चर्य दूर करने को मैंने अपने पास पहुंचे गुप्त प्रमाण भी उन्हें दिखलाये। तब साहब ने उसी समय सरिश्तेदार को न बुलवा मुझ से ही वारण्ट लिखवा कर पुलिस वालों को मेरे नियत किये हुए आदमियों के साथ भेज दिया। प्रातः १० बजे वारण्ट जारी हुए और शाम के ६ बजे चोरी का माल राजा साहेब की नौकरानियों और अन्य विश्वासपात्रों के घरों से बरामद होकर आने लगा। सबका कहना यही था कि राजा ने यह सामान उनको कुछ दिनों रख छोड़ने के लिए दिया है।

माल तो बरामद हो गया परन्तु फिर भी कुछ स्थानों से दूसरे स्थानों पर माल पहुंच ही गया और इसका कारण स्वयं मियां शिवसिंह थे। हम सब मियां शविसिंह के भोले पन को जानते थे। मैंने राजकुमार जनमेजय से तय किया कि मियां शिवसिंह पर मैं, वह तथा कई सज्जन पहिरेदार बैठे और उन्हें किसी से बात न करने दे। मियां साहब को भी मैंने समझाया कि वारण्ट लेकर जो पुलिस गई है उसका किसी से जिक्र न करें, क्योंकि ऐसा करने से बात फैल जाएगी और अपराधी माल को गायब कर देंगे । मियां साहब ने प्रतिज्ञा की कि वह ऐसा न करेंगे। अपने बलपूर्वक कहा कि वह मूर्ख नही है कि दुश्मनों को अपनी चाल का पता दें। अब हमारा तो यह प्रयत्न और मियां साहब के नौकरों का यह प्रयत्न कि हमारा प्रोग्राम उनको भी विदित हो जाय । अन्त को विजय नौकरों का हुआ। मियां साहब लघुशंका करने गए। एक नौकर लौटा ले हाथ धुलाने दौड़ा, दूसरा एजारबन्द बांधने लगा, तीसरा छाता लगाकर खड़ा हुआ। बस हाथ धुलाते धुलाते सब कहानी मियां साहब से पूछ ली और अपने साथियों को बताने लगे। सुनने वालों में कोई विश्वासघाती भी था, उसने राजा को समाचार पहुंचाया। राजा ने आदमी दौड़ाए, परन्तु तब तक पुलिस बहुत काम कर चुकी थी।

मुकद्दमें की पैरवीं तो कोई बड़ी बात न थी परन्तु मियां शिवसिंह से मुकद्दमे की रक्षा करना ही सबसे कठिन काम था।

जवनिका-पतन

सुंकेत का हाल है तो बड़ा मनोरंजक परन्तु उसको विस्तारपूर्वक लिखने के लिए स्थान नहीं है राजा को रैगिटन साहब बैरिस्टर ने खूब लूटा। पहिले १०००/– रोजाना फीस पर आए। जब मियां शिवसिंह की चोरी का माल बरामद हुआ तो लाहौर से तार आया बतला कर चोरी के अभियोग की पैरवी के दिनों के लिए १६००/– प्रतिदिन लेने आरम्भ किए। १००/– रूपये रोजाना भोजन के लिए अलग लेते और भोजन, राजा के पुराने प्रबन्धकर्ता डानल्ड साहब के यहां करते। फीस बढ़वा ली परन्तु ७ दिन अधिक फीस लेकर मुकद्दमा लड़ाने के स्थान में ६०,००० मिया शिवसिंह को दिलवा दिए। मियां शिवसिंह ने दो लाख रूपये की चोरी लिखवाई थी इसमें ४०,००० की तो दवाइयां थी। उनके लिए ६०,००० एक अच्छी सम्पत्ति थी, परन्तु मियां साहब के पास वह रूपया जमने वाला न था।

ऊपर का फैसला होते ही मैं चलना चाहता था। परन्तु मियां शिवसिंह के सम्बन्धियों ने आग्रह किया कि मैं मियां साहब को रूपये नकद दिलवाकर जाऊं। तब मैं रूपये गिनवाने के काम का निरीक्षक बना। वहां भी बड़ा काम करना पड़ा। राजा साहब से खोटे रुपये बदलवाने का काम बड़ा कठिन था। परन्तु वह काम भी समाप्त हो गया और राजा साहब मण्डी के निमन्त्रण पर मैं दोनो सहकारी वकीलों सहित मण्डी को चल दिया। राजा साहब से भेंट हुई मुझे देखते ही उन्हें जालन्धर वाला शास्त्रार्थ याद आ गया जो उन्होंने आर्यसमाजी तथा सनातनी पंडितों के बीच कराया था। तब तो आर्य समाज की ही बाते होती रहीं और मुझे अपने धर्म–प्रचार का बड़ा अच्छा मौका मिला। यहां पर मैंने पहिले पहल पहाडी रियासतों के कैदियों की विचित्र व्यवस्था देखी। प्रातःकाल ही जेल का द्वार खुलता और सब कैदियों को घास लाने आदि के कई काम सौंप कर छोड़ दिया जाता। सायंकाल को सब अपना काम खत्म कर जेल में आ सो जाते। मैंने जब आश्चर्य प्रकट किया तो

अहलकारों ने बताया कि कभी कोई कैदी नही भागा क्योकि इन लोगों को अपनी मातृ भूमि से बड़ा प्रेम है।

इसी स्थान में एक शिव मन्दिर मुझे दिखाया गया जिसमें से शिवलिंग को उखडवा दिया गया था। पुजारी ने मन्दिर इस बुद्धिमत्ता से बनवाया था कि मन्दिर की छत की ऊपर की खोल में से आदमी गुम्बद के छिद्रों द्वारा दूध छिड़क सके। यह दूध का छिड़काव बड़े बहुमूल्य चढ़ावे से होता था। राव, रंक सब पुजारी के जाल में पागल हो फंस गये। मुझे बताया गया कि बैंडथ साहब कमिश्नर ने इस मन्दिर की पोल का पता लगाया और राजा साहब ने उनकी आज्ञानुसार उसमें से शिव की मूर्ति को उखड़वा दिया। मण्डी से हम सब वकील डोलियों में लौट पड़े। पहिली रात इकट्ठे काटी। दोनों वकीलों ने प्रातः वर्षा का ढंग देखते ही खूब पीली। एक स्थान में ओले बरसने लगे। जिसके कारण हमने डोलियां रखवा दीं। मैंने तो काहरों को बतला कर अपनी डोली ऊंचे स्थान में रखबाई और शराबियों की डोली को नीची जगह छोड़ कर उनके कहार दूर छते हुए स्थान में जा बैठे। जब मूसलाधार पड़ने लगी तो बेचारे शराबी वकील ने प्याले से हाथ हटा कर शोर मचाया "भीग गये। भीग गये ! ओ ! कहारो ! जल्दी डोली उठाओ।" जितनी ही शराबी वकील डांट बतलाते उतना ही कहार और हंसते । इनकी हालत पर मुझे रहम आई और मैने छाता लेकर डोली से बाहर पैर रखा बस, फिर क्या था— सब कहार दौड़ कर डोलियों को लग गये और मूसलाधार बारिश में ही आगे बढ़ने लगें रात को फिर बड़ी गड़बड़ हुई। वर्षा बन्द होते ही मैं पेदल हो लिया था और दस मील चढाई उतराई को भुगतान कर ऊंची चढ़ाई पर डाक बंगले में जा पहुंचा और भोजन के बाद गाढ़ी निद्रा की गोद में विश्राम लेने का विचार था कि शराबियों की डोलिया आधी रात के वक्त पहुंची । उनमें से एक महाशय पीठ के फोडे से बीमार थे। उन्होंने रास्ते में कहारों को बहुत गालियां दी और तंग किया। इस अन्तिम चढ़ाई पर कहारों के पैर फिसल जाने से डोली गिरी और शराबी वकील की पीठ का फौड़ा फूट गया। हम सब तो उनका दुःख दूर करने की चिन्ता में और उन्हें यह शक कि कहारों ने उन्हें जानबूझ कर गिरा दिया है।

इस लिए उन्होंने कहारों को कोसते हुए, लगभग संसार भर के सब गन्दे शब्द फुलझड़ी की तरह कहारों पर बरसा दिए। अन्त में ज्यों ज्यों करके उन्हें कुछ खिलाने का यत्न किया गया, तब शराब की बोतल खोल बैठे। मैं उन्हें छोड कर चारपाई पर दूर लेट गया। दो पेग और चढ़ा कर वकील साहब के सिर पर यह धुन सवार हुई कि मैं उनके मद्य-पान को देख नाखुश हो गया हूं। उनके मुन्शी ने कह दिया- "वह धर्मात्मा आदमी है, आपके पास क्या बैठते जहां हमेंशा मद्य का दुर्गन्ध उठता रहता है।" मैं तो प्रगाढ़ निद्रा में बैठा जा रहा था, उधर शोर मचा। वकील साहब के साथी हिलने से मना करते और वह मेरे पास पहुंचने के लिए हाथ पैर मारते। कहां की नींद कहां का सोना। मैं वहां से उठ पलंग पर जा बैठा और कह दिया कि मैं नाखुश नहीं हूं- लेकिन इससे भी छुटकारा न हुआ। मेरे पैरों को ऊपर खींच शराबी वकील बड़बडाने लगा- 'आप धर्मात्मा हैं, आप तो ऐसा कहेंगे ही, परन्तु मैं पापी हूं। क्षमा करो।" इत्यादि। मैंने समझाया, दिलासा दिया, परन्तु वहां कौन सुनता था। यही क्रम एक घन्टे तक लगा रहा, तब मुझे वहां कुछ कहने का मौका मिला। वहां श्रद्धा का प्रवाह था, सोने को कहा, तो आज्ञा पालन की गई। उस समय जो करुणा और प्रेम का भाव मेरे अन्दर काम कर रहा था उसका फिर कम ही प्रादुर्भाव हुआ है।

दूसरे दिन दोपहर अपने साथियों से बिछुड़ होशियारपुर सायंकाल पहुंचा और तीसरे दिन जालन्धर पहुंचा। परिवार को मिल निश्चिन्त हुआ।

कुम्भ पर वैदिक धर्म-प्रचार

मेरी अनुपस्थिति में सद्धर्म-प्रचारक का सम्पादन लाला देवराज जी करते रहे। लौटने पर अपना काम मैंने फिर सम्भाल लिया। संवत् १९४८ का कुम्भ पास आ रहा था। मैंने प्रचारक द्वारा बहुत आन्दोलन किया। आर्य प्रतिनिधि सभाओं ने चुप साध ली थी परन्तु जब प्रचारक की प्रेरणा पर सर्व साधारण ने कुम्भ प्रचार के बड़े बोझ को उठाने की तैयारी आरम्भ की तो सभाएं भी जाग उठीं। २८ फाल्गुन संवत् १९४७ (१२ मार्च सन् १८९१ ई) को पंजाब प्रतिनिधि सभा का मुझे तार मिला-संयुक्त प्रान्त और

पंजाब प्रतिनिधि सभाओं ने कुम्भ प्रचार का फैसला कर दिया। इसी सप्ताह के अखबार में धन और उपदेशकों की पहुंच के लिए अपील करो। व्यय दो सहस्र के लगभग होगा।"

४८के कुम्भ प्रचार का हाल प्रचारक से लेकर पण्डित लेखराम जी ने अलग छपवा कर बंटवाया। उस कुम्भ पर सैकड़ों ही जमा हुए और उतना ही व्यय हुआ। जिस भूमि के एक सिरे पर ४८ के कुम्भ का प्रचार हुआ उसी के दूसरे सिरे पर १९६० के कुम्भ पर भूमि किराये पर लेकर फिर वैदिक धर्म का प्रचार हुआ। उसके १ वर्ष पीछे ही वह सारी भूमि आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की आज्ञानुसार मैंने उन्हें खरीद दी और जब वैशाख १९७२ कुम्भ पर सर्वादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से प्रचार हुआ तो उस समय इस भूमि का स्वामित्व आर्य समाज के पास था।

संवत् १९४८ के कुम्भ प्रचार के लिए राजकुमार जनमेजय तथा अपने मुन्शी को साथ ले मैं हरिद्वार पहुंचा। उसका प्रबन्ध मेरे सुपुर्द किया गया था परन्तु मुझे हरिद्वार से चार पांच दिनों के बार ही लौटना पड़ा क्योंकि मेरे पुत्र की बीमारी का समाचार तार द्वारा मुझे पहुंचा। मेरे पहुंचते ही वह नीरोग हो गया।

कुम्भ की सामाप्ति पर सब सन्यासी महात्मा मेरे गृह पर जमा हुए। स्वामी आत्मानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द, स्वामी पूर्णानन्द, ब्रह्मचारी नित्यानन्द, ब्रह्मचारी ब्रह्मनन्द सभी महाशयों के व्याख्यान हुए। परन्तु जब एक म्यान में दो तलवारों का ठहरना कठिन है तो एक स्थान में इतने वीतराग सन्यासियों का शान्ति से ठहरना कैसे सम्भव हो सकता था? स्वामी पूर्णानन्द तो काशी पढ़ने के लिए चले गए, स्वामी आत्मानन्द जी को अपने व्याख्यानों की प्रशंसा की चिन्ता हुई। इसी प्रकार यह मण्डल उस समय छिन्न–भिन्न हो गया। स्वामी आत्मानन्द जी का नाम मैंने वाकिंग इन्साइक्लोपीडिया रख छोड़ा था। कौन पुरुष था जिसके परिवार के विषय में उनको कुछ ज्ञात न हो और कौन नगर वा ग्राम है जिसका वर्णन वह न कर सकते थे। दृष्टान्त के तौर पर लाला देवराज जी आये। मैं नाम लेकर उनसे परिचय कराने को ही था कि स्वामी जी बोले–"आईये!

लाला देवराज जी, मन्त्री आर्य समाज तथा जैल्दार जालन्धर। आपके पिता लाला शालिग्राम आनरेरी मैजिस्ट्रेट का क्या हाल है? आपकी सप्ताह की प्रार्थना पुस्तक का दूसरा संस्करण निकला वा नहीं?" एक दूसरे भाई आये जिन्होंने बतलाया कि कुक्कर पिंड (ग्राम) के रहने वाले हैं। स्वामी जी ने उस ग्राम के जैल्दार, लम्बरदारों की ही पीढ़ियां न गिना डालीं बल्कि पीपल के वृक्षों का भी वर्णन कर दिया। मुझे शोक है कि स्वामी आत्मानन्द जी को आर्य समाज और उसके प्रवर्तक के संबंध में जितनी घटनाएं ज्ञात थीं वह उनकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गई।

इसी संवत् १९४८ के मध्य ज्येष्ठ (१८५१ ई. के मई मास के अन्त) में दयानन्द कालिज का प्रसिद्ध अधिवेशन हुआ था जिसमें आर्य ग्रन्थों की पढ़ाई के लिए अलग वैदिक श्रेणी खुलने का प्रश्न इस युक्ति से स्वीकृत नहीं किया था कि उसके खोलने से कालिज सोसाइटी के उद्देश्य बदल जायेंगे और इसलिए उक्त सोसाइटी की रजिस्ट्री नाजायज हो जाएगी। परन्तु जिन महाशयों ने उस समय इस प्रकार की युक्तियां दी थीं उन्होंने अब वैदिक श्रेणी उसी कालिज के संबंध में खोली हैं और सोसाइटियों के रजिस्ट्रार ने उसकी रजिस्ट्री को नाजायज करार नहीं दिया। इस सब कामों में भाग लेने के कारण कुछ दिनों 'प्रचारक' के सम्पादन का काम मैं न कर सका। ३० ज्येष्ट (१३ जून) से मैंने फिर "प्रचारक" को सम्भाला और तब वैदिक श्रेणी और सन्यासाश्रम के सुधार आदि विषयों पर आन्दोलन आरम्भ किया।

इस समय परोपकारिणी सभा के वैदिक यन्त्रालय में पण्डित रैमल जी तथा पण्डित श्याम जी कृष्ण वर्मा का झगड़ा आरम्भ हुआ। इस झगड़े के निबटाने और वैदिक यन्त्रालय की रक्षा का काम जो 'प्रचारक' ने उस समय किया उसको राय मूलराज तक ने स्वीकार किया था। इस प्रश्न को हल करने के लिये उन दिनों मुझे गरमी की तीन रातें जागकर काम करना पड़ा था।

दो से एक रह कर नये युग में प्रवेश

सहधर्मिणी के साथ मेरा शनैः-शनैः अटूट संबंध हो चुका था। शिवदेवी जी से कभी बिछुड़ने का ख्याल तक न आता था

और उन्होंने 'वैदिक संस्कारविधि' का पाठ करके यह धारणा दृढ़ की थी कि पति से भी वियोग न होना चाहिए। श्रावण के अन्त (अगस्त के मध्य भाग) में उन्हें पांचवी सन्तान उत्पन्न होते समय बड़ा कष्ट हुआ। चिकित्सक की सहायता ली गई लड़की का जन्म लेते ही देहान्त हो गया। देवी इससे बहुत निर्बल हो गई। धर्मशाला पर्वत के आर्य समाज के वार्षिकोत्सव के लिये निमंत्रण आया था। निश्चय कर लिया कि १५ भाद्र ३१ अगस्त को परिवार सहित धर्मशाला के लिये कूच होगा। मैं क्या सोच रहा था और कर्मानुसार उधर कुछ और तैयारी हो रही थी।

१२ भाद्रपद संवत् १६१८ (२८ अगस्त सन् १८६१ ई.) की शाम को दस्त और वमन आरम्भ हुए। डॉक्टर सारी रात पास रखकर मैं जागता रहा। तीन बजे प्रातःकाल दस्त बन्द हो गए। समझ लिया कि अब नीरोग हो गई हैं १३ भाद्रपद (२६ अगस्त) के दिन और रात आराम रहा। १४ भाद्रपद (३० अगस्त) को आर्य समाज के साप्ताहिक अधिवेशन में वैठे समाचार आया कि फिर दस्त शुरू हो गये। घबराहट कुछ कुछ कम हो रही थी। डाक्टरों को सम्मति के लिये बुलाया गया। एक डॉक्टर ने वहां ही डेरा लगाया। माता ने आकर शाम से ही गोद में ले लिया। देवी के भाई पास थे। बहुतेरा इलाज किया, परन्तु काल के आगे किसी का वश न चला। नौ बजे रात के जब माता थोड़ी देरे के लिये अलग हुई तो पुत्री वेदकुमारी से अपना कलमदान मांगा। पर्चे पर कुछ लिखा और उसके निचले खाने में रख दिया। एक बजे जब मैं दवाई पिलाने लगा तो हाथ जोड़कर प्रणाम किया। जब दवाई पिला चुका तो माता को धीमे स्वर से कहा–'मुझ से बड़े अपराध हुए हैं। जिनकी मुझे सेवा करनी थी, ये मेरी सेवा कर रहे हैं।' माता ने प्यार दिया। भाई देवराज ने कहा, "बीबी जी, भजन सुनोगी" कहा, "हां"–देवराज जी ने आरम्भ किया–"प्रभुजी! भेंट धरूं क्या मैं तेरे" देवी लब हिलाती रही, बोल नहीं सकती थीं भजन समाप्त हुआ। माता ने रोकर पूछा, बच्चे किसके सुपुर्द कर चली हो" उत्तर मिला, "आप ही पल जायेंगे।" मुझे देवी ने बाबू जी कहकर सम्बोधन किया करती थी ४ बजे मैं बाहर डाक्टर से कुछ सलाह करने गया। २० मिनट पीछे बुलावा हुआ। मुझे देखते ही दो बार

कहा—"बाबूजी।" मैंने झुककर नब्ज हाथ में ली। लब हिलते थे। एक बार स्पष्ट "ओ३म्" का उच्चारण मैंने सुना और फिर माता की गोद में प्राण त्याग दिए।

६ बजे से ही नर—नारी का हजूम जमा हो गया। स्त्रियों ने रोना पीटना आरम्भ कर दिया। देवी की माता और उनकी जेठानी (मेरे बड़े भाई की धर्मपत्नी) ने सबको रोने पीटने से बन्द कर दिया और ६ बजे श्मशान—भूमि में वैदिक विधि से मृतक शरीर का अन्त्येष्टि—संस्कार कराके परमात्मा से शान्ति के लिए प्रार्थना की गई।

देवी ने चार सन्तान छोड़ीं (१) वेद कुमारी, १० वर्ष (२) हेमन्त कुमारी, जिसका यज्ञोपवीत संस्कार के समय नया नाम रखा गया—"अमृत कला"—६ वर्ष (३) हरिश्चन्द्र, ४ वर्ष (४) इन्द्र, २ वर्ष। इनमें से इन्द्र उस समय भी ज्वर और दस्तों से पीड़ित था और छः मास पहिले भी उसे निमोनिया हो चुका था। मेरे बड़े भाई की धर्मपत्नी ने इस सबको सम्भाल लिया।

दूसरे दिन प्रातः मैंने देवी का सामान सम्भालना शुरू किया। बड़ी पुत्री ने कलमदान लाकर बतलाया—"माता जी ने एक कागज लिखकर इसमें रक्खा था।" मैंने कागज निकाला। उसमें लिखा था—"बाबू जी! मैं अब चली। मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझसे अधिक रूपवती और बुद्धिमती सेविका मिल जायेगी, परन्तु इन बच्चों को कभी मत भूलना। मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार करो।" यह उन पंजाबी वाक्यों का अनुवाद है जो देवी ने देवनागरी अक्षरों में लिखे। वे वाक्य मेरे हृदय पर अंकित हो गए। रात को सब बच्चों को सुला कर, मैंने एक घंटे तक परमात्मा के बल के लिए प्रार्थना की और यह दृढ़व्रत धारण किया कि बच्चों के लिए माता का स्थान भी मैं ही पूरा करूंगा। यह मेरे वर्तमान बच्चे बतला सकते हैं कि मैंने अपने इस संकल्प को कहां तक पूरा किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि ऋषि दयानन्द के उपदेशों और वैदिक धर्म के आदेशों ने संबंधियों, मित्रों हितचिन्तकों के सामने घिरे प्रलोभनों से मुझे बचाया, परन्तु देवी के अन्तिम सन्देश ने मेरे अन्दर मातृभाव का संचार करके मुझे इस योग्य बना दिया

था कि मैं गुरुकुल का आचार्य बन सकूं जहां वेदाज्ञा के अनुकूल आचार्य को माता और पिता दोनों का स्थान पूरा करना पड़ता है।

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश की तैयारी

हरिश्चन्द्र को साथ लेकर मैं धर्मशाला पर्वत को चल दिया और शेष बच्चों को लेकर मेरी बड़ी भौजाई ग्राम तलवन को चली गई। धर्मशाला आर्य समाज के वार्षिकोत्सव में व्याख्यान देने के अतिरिक्त मैं गुरखा पल्टन और हिमगिर के गद्दियों में भी धर्म प्रचार करता रहा। आश्विन के उत्तरार्द्ध (अक्टूबर के आरम्भ) में लौट कर फिर वकालत के काम में लग गया। मेरे बड़े भाई, श्री आत्माराम जी ने, अपनी धर्म पत्नी सहित, बच्चों की रक्षा सेवा के लिए जालन्धर में डेरा आ जमाया। इसी वर्ष लाहौर, होशियारपुर आदि स्थानों के आर्य समाज वार्षिकोत्सवों पर मांस भक्षण विषय पर प्रश्नोत्तर होने शुरू हो गये थे।

सवंत् १९४८ के अन्त (सन् १८९२ के आरम्भ) से ही मैं कुछ बीमार रहने लगा, दो बार एक–एक सप्ताह बीमार रह कर मई (वैशाख ज्येष्ठ) मास में अधिक बीमार हो गया। डॉक्टर और हकीम, सबसे ही परीक्षा कराई। सब अंग ठीक पाये गये, परन्तु बीमारी यह थी कि ज्यो–ज्यों दिन चढ़ता जाता शरीर में जलन बढ़ती जाती और शाम को दूर हो जाती। न ज्वर था न फेफड़ों में कुछ कसर थी और न किसी अन्य रोग के चिन्ह थे। तब ज्येष्ठ के उत्तरारम्भ (जून के आरम्भ) में ही धर्मशाला पर्वत का रास्ता पकड़ा। यहां दो आर्य सन्यासियों में पहिले से ही मांस विषय पर विवाद चल रहा था, जिसमें आर्य समाजी बैरिस्टर वकील भी भाग ले रहे थे। मैंने उस समय तो वहां पहुंच कर उस विवाद को मिटा दिया परन्तु मैदान में वह झगड़ा जोर पकंड़ता गया। रायजादा भक्तराम उस समय धर्मशाला में बैरिस्टरी करते थे। उसके पास चार मास बहुत उत्तम काटे। एक ओर वकालत करते हुए कुछ आर्थिक कमाई भी की और साथ ही आमित्कोन्नति और स्वाध्याय के लिए भी काफी समय मिला। कांगड़ा पालमपुर आदि में वैदिक धर्म–प्रचार का भी खूब अवसर मिला। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द ने मुझे दो शास्त्रार्थों में भी

घसीट लिया। उन दिनों सहनशीलता का पाठ पढ़ने का भी अच्छा अवसर मिला और पहाड़ों की चढ़ाई से मानसिक बल की कई बार परीक्षा हुई।

अक्टूबर (आश्विन–कार्तिक) मास में मैं जालन्धर लौटा। मांस विषय पर मैदान में तीव्र आन्दोलन हो रहा था। इस पर दो दल बन गये थे। यद्यपि अभी समाज का संगठन एक ही था तथापि एक दूसरे पक्ष को उपाधियां मिलने लग गई थी। मांसखोर और घासखोर, मांस–प्रचारक और महात्मा एक बुद्धू एक दूसरे को खिताब मिल रहे थे। इसी उधेड़ बुन और लड़ाई में आर्य माज लाहौर का वह वार्षिकोत्सव आ पहुंचा जिसमें दोनों पक्षों की ओर से खुल्लमखुल्ला अपने मन्तव्यों का प्रचार हुआ और जो लोग गुप्त रीति से मांस प्रचार करते थे उन्होंने खुले बन्दों प्रकट होकर मांस भक्षण का समर्थन करना शुरू कर दिया। पंजाब के समस्त आर्य समाजों की प्रतिनिधि सभा का वार्षिक चुनाव था जिसमें मुझे उक्त सभा का प्रधान बनाया गया। उस समय से मेरा जीवन निजी नहीं रहा। सार्वजनिक जीवन हो गया और इसलिए अपनी जीवन–यात्रा की दूसरी मंजिल को मैं यहां समाप्त करता हूं। आश्रम इसे कह नहीं सकता क्योंकि वैदिक ब्रह्मचर्य आश्रम के साथ मेरा स्पर्श तक न हुआ था। फिर गृहस्थ भी अवैदिक ही रहा। हां इससे आगे मैंने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश की तैयारी आरम्भ कर दी थी। उस तैयारी में ६ वर्ष व्यतीत करके किस प्रकार मैंने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया और उस आश्रम धर्म के पालन में मुझे कहां–कहां ठोकरें लगीं इसके वर्णन का समय अभी नहीं आया। तब चौथे आश्रम में प्रवेश का वर्णन अभी बहुत दूर है।